त्रैमासिक • जनवरी–फरवरी 2000 • पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में
अन्तोनियो लाब्रियोला

आज के समय में कम्युनिस्ट घोषणापत्र
आज भी सही, आज भी खतरनाक, आज भी नाउम्मीदों की उम्मीद
रेमंड लोट्टा

भारतीय गणतंत्र और संविधान की अर्द्धशती के प्रश्नचिन्ह और विरामचिन्ह और कुछ नये संकेतचिन्ह

नजरुल की कविता महाविद्रोही

माओवादी चीन में स्त्रियां

राजनीतिक–आर्थिक टिप्पणियां

जार्ज लूकाच के विरोध में
बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ
आलोक श्रीवास्तव

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

जिसका हर अंक संग्रहणीय है

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

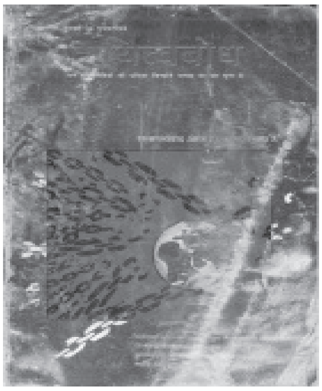

वर्ष 3 अंक 1–2
नवम्बर '95–फरवरी '96

साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • *लेनिन का लेख :* सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति • *माओ त्से-तुङ का लेख :* जनवादी केन्द्रीयता का सवाल • शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • आइजेंस्ताइन और *'पूंजी'* पर फिल्म बनाने की योजना • माओ और सुरजीत पातर की कविताएं

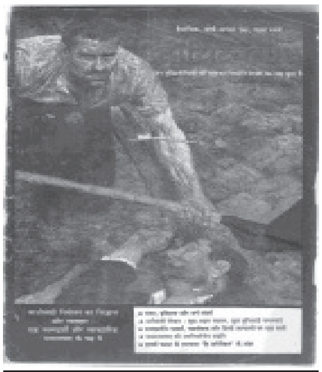

वर्ष 3 अंक 3–4–5
मार्च–अगस्त 1996

रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख : माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं • *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश • साम्राज्यवाद की अपरिवर्तनीय प्रकृति

वर्ष 3 अंक 6
सितम्बर–अक्टूबर 1998

मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* • ताचाई की कहानी • कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद : प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

वर्ष 4 अंक 1–2
नवम्बर '96–फरवरी '97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री*
माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलहसूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 4 अंक 3–4
मार्च–जून 1997

मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • मुक्त बाजार की नारकीय गुलामी भोगती स्त्रियां • सूचना क्रान्ति का सच • भाषा की साम्प्रदायिकता और आतंकवाद

वर्ष 4 अंक 5–6
जुलाई–अक्टूबर 1997

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • *चाङ चुन-चियाओ का लेख:* बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में • *सेर्गेई आइजेंस्ताइन का लेख:* कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

वर्ष 5 अंक 1–2
नवम्बर '97–फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख • गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का ''मिशन'' : सेवा का सच • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 5 अंक 3–4
मार्च–जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

वर्ष 5 अंक 5–6
जुलाई–दिसम्बर 1999

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :
बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर • लोर्का की कविताएं • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता • पीकस्किल में पॉल रॉबसन • एजाज अहमद का लेख उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर' -अवस्था • गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन • भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान • *जार्ज थामसन का लेख :* माओकालीन चीन में मार्क्सवाद • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

वर्ष 6 अंक 2
जुलाई–सितम्बर 1999

स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र • तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • कम्युनिस्ट लीग (1847–1852) का इतिहास • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के चुने हुए दस्तावेज • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

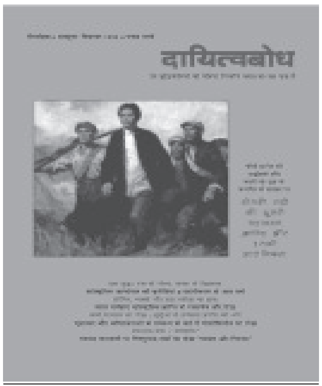

वर्ष 6 अंक 3
अक्टूबर–दिसम्बर 1999

जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • ''उदारीकरण'' के आठ वर्ष • *चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती पर* 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता' • बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : *जार्ज थामसन* • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : *वी.एन. वोलोशिनोव* • भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान के विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम • लीबिग, मार्क्स और मृदा उर्वरता का ह्रास : आज की कृषि में प्रासंगिकता *इस्तवान मेस्जारोस* की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :
प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
3/274, विश्वास खण्ड,
गोमतीनगर,
लखनऊ–226010
प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

16 कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में

अंतोनियो लाब्रियोला

उन सभी लोगों को, जिन्हें अपने काम की एक बेहतर समझ हासिल करने की इच्छा है, या जिन्हें ऐसा कर पाने का अवसर उपलब्ध है, उन कारणों और शक्तियों को जरूर ही ध्यान में रखना चाहिए, जिन्होंने *घोषणापत्र* की उत्पत्ति को सुनिश्चित किया और साथ ही उन परिस्थितियों को भी जो उस क्रान्ति की पूर्ववेला में उदित हुई थीं, जो पेरिस से वियना तक और पालेरमो से बर्लिन तक फूट पड़ी थीं।...

आज के समय में कम्युनिस्ट घोषणापत्र : आज भी सही, आज भी खतरनाक, आज भी नाउम्मीदों की उम्मीद 37

रेमण्ड लोट्टा

घोषणापत्र आज भी प्रासंगिक है। ...इस सदी में सर्वहारा क्रान्ति के वास्तविक अनुभव के जरिए यह आज भी प्रासंगिक है—इस रूप में कि क्या पूरा किया जा चुका है और इस रूप में कि इस व्यवस्था का नाश करने के लिए इन अनुभवों से सीखते हुए क्या किया जाना बाकी है। यह आज भी प्रासंगिक है क्योंकि अगली सहस्राब्दी की दहलीज पर खड़ा मानव समाज क्रान्ति से कम किसी चीज द्वारा आगे नहीं बढ़ सकता।

संस्कृति चिन्तन

जार्ज लुकाच के विरोध में

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट 47

साहित्य चिन्तन

कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ?

आलोक श्रीवास्तव 55

जब क्रान्ति के दिन थे, लोग चीजों को अलग ढंग से देखते थे

माओवादी चीन में स्त्रियां : आधा आकाश उनके कंधों पर टिका था

माओ के क्रान्तिकारी चीन में स्त्रियां कैसे मुक्त हो चुकी थीं, यह लेख उसी की कहानी है। यह दिखाता है कि एक *नये समाज में*, जहां सत्ता सर्वहारा के हाथों में होती है, चीजें कैसे भिन्न हो सकती हैं। 61

इस अंक में

आपकी बात 4

अपनी बात

भारतीय गणतंत्र और संविधान की अर्द्धशती के प्रश्नचिन्ह और विरामचिन्ह और कुछ नये संकेत चिन्ह 5

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन के 152वें वर्ष पर विशेष

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में —*अंतोनियो लाब्रियोला* 16

आज के समय में कम्युनिस्ट घोषणापत्र : आज भी सही, आज भी खतरनाक, आज भी नाउम्मीदों की उम्मीद —*रेमण्ड लोट्टा* 37

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति के अध्यक्ष माओ के सिद्धान्त का कर्तव्यनिष्ठापूर्वक अध्ययन करो!. 44

संस्कृति चिन्तन

जार्ज लुकाच के विरोध में —*बेर्टोल्ट ब्रेष्ट* 47

साहित्य चिन्तन

कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ? —*आलोक श्रीवास्तव* 55

काजी नजरुल इस्लाम की जन्मशती के अवसर पर

विद्रोही —*डा. रामविलास शर्मा द्वारा अनूदित* 59

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर

जब क्रान्ति के दिन थे, लोग चीजों को अलग ढंग से देखते थे : माओवादी चीन में स्त्रियां 61

टिप्पणियां

● सी.आई.आई. द्वारा ''कमजोर'' बैंकों को बन्द करने व अन्य का निजीकरण करने की सिफारिश : सरकारी साये में कारपोरेट चोरों की सीनाजोरी ● विश्व व्यापार संगठन की सिएटल बैठक : मुनाफे की विश्वव्यापी होड़ के लिए उठापटक ● बहुराष्ट्रीय निगम और प्रभुत्वशाली व्यापारिक समूह विश्व व्यापार को प्रत्यक्षत: निर्देशित कर रहे हैं ● बढ़ता ''मानव विकास'' और महरूम होता मेहनतकश अवाम 65-71

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (अध्याय 19)

विनिमय उत्पादन को उपभोग से जोड़ने वाला एक महत्वपूर्ण आर्थिक रूप है 72

नये वर्ष में हड़तालों की लहर और इसकी विफलता के सबक 84

सामाजिक जीवन मूलत: **व्यावहारिक** है। सारे रहस्य जो सिद्धान्त को रहस्यवाद के गलत रास्ते पर भटका देते हैं, मानव व्यवहार में तथा इस व्यवहार के संज्ञान में अपना बुद्धिसम्मत समाधान पाते हैं।

—कार्ल मार्क्स
(बसन्त, 1845)
('फायरबाख पर निबन्ध')

दायित्वबोध

वर्ष-6 अंक 4; जनवरी-मार्च 2000

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा

सज्जा : **रामबाबू**

आवरण : **सूर्य राय** का चित्र **'अवांछित'**

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 फोन : 308896

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

•

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

—'दायित्वबोध' जुलाई-सितम्बर '99 का अंक मिला। पूर्व की भांति भरपूर पठनीय सामग्री है। पत्रिका का अधिक प्रचार-प्रसार हो इसके लिए सभी साथियों को प्रयास करने चाहिए। आज की स्थिति में यह बहुत जरूरी है। बदलाव में 'दायित्वबोध' की महती भूमिका होगी। जागरूक नागरिकों को 'दायित्वबोध' मार्ग निर्देशन दे रहा है।

—भागीरथ भार्गव, 88, आर्यनगर, अलवर

—'दायित्वबोध' जुलाई-सितम्बर '99 का अंक मिला। धन्यवाद। एन.जी.ओ. के बारे में इसके पहले भी सामग्री आयी लेकिन मैं वंचित रह गया था। फिर भी इस अंक की 'अपनी बात' अपने आपमें सन्तुष्ट कर देती है। इतना सटीक विश्लेषण किया है कम्युनिस्ट घोषणापत्र के द्वारा कि ''बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा इसलिए सामाजिक व्यथाओं को दूर करना चाहता है कि बुर्जुआ समाज को बरकरार रखा जा सके।'' इस 'पवित्र' कार्य में रिटायर्ड कम्युनिस्ट अच्छे सहायक अवश्य हैं और इस बात को अगर स्वतंत्रता के बाद से एच.एस.आर.ए. के बचे-खुचे लोगों के कांग्रेस जैसी घोर बुर्जुआ पार्टी के साथ चले जाने से जोड़कर देखें तो मन्मथनाथ गुप्त सामने खड़े दिखाई देते हैं। कृषि सम्बन्धी लेखों के आंकड़े और अपने प्रासंगिकता की वजह से यह अंक संग्रहणीय है। 'कम्युनिस्ट लीग का इतिहास' तथा राजनीतिक टिप्पणियां बहुत अच्छी बन पड़ी है। टिप्पणियों के सभी लेखकों को बधाई। दायित्वबोध जैसी ऊर्जात्मक पत्रिका का लगातार निकलना आज के वास्तविक कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए निहायत आवश्यक है। कृपया इसे बन्द न करें।

—प्रमोद, रक्षा सेवा स्टाफ कालेज, वेलिंगटन (नीलगिरी), तमिलनाडु

—'दायित्वबोध' की प्रति जब-तब मिल जाती है। इधर जुलाई-सितम्बर '99 का अंक यथासमय मिला। धन्यवाद। आज जब पूरा देश पूंजी की मार से तबाह है; धर्म, जाति, भ्रष्टाचार के कीड़े मानवीय मूल्यों की जड़ें लगातार कुतरने में लगे हैं; लफंगे, झूठे, लुटेरे, मुखौटेधारी लोग जन-प्रतिनिधि बनकर जन-जीवन और देश के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं; तथाकथित बौद्धिकों का बड़ा वर्ग अन्तरराष्ट्रीय वैचारिक भ्रमजाल का देशी विस्तार करने में अपने को धन्य समझ रहा है, 'दायित्वबोध' क्रान्तिकारी जागरण के अपने दायित्व को सफलतापूर्वक निभा रहा है। इसका हर अंक समय की मांग के अनुकूल है, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय ऐतिहासिक और समसामयिक समस्याओं से प्रभावी ढंग से टकराता है, धुंधलका दूर करते हुए अपेक्षित मार्ग प्रशस्त करता है। भारतीय समाज को हिन्दी के माध्यम से एक महत्वपूर्ण पत्रिका प्रदान करने के लिए आप सभी प्रशंसा के पात्र हैं। स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों पर आपका लेख, फांग कांग, चार्ल्स डब्ल्यू चेङ, ली ओनेस्टो, ललित सती, अरविन्द एवं प्यारेलाल जी के लेख तथा सर्वहारा चेतना केन्द्र की रचना विशेष महत्व के हैं। थियेटर पर बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कृति रचनात्मक चेतना के वैज्ञानिक विकास में सहायक है। 'गतिविधि' में विष्णुचन्द्र शर्मा के विचार पसन्द आये।

—शम्भु बादल, जबरा रोड, कोर्रा, हजारीबाग, बिहार

—जुलाई-सितम्बर 1999 अंक देखा, बहुत ही अच्छा लगा। स्वयंसेवी संगठनों पर लिखा लेख बहुत ही प्रासंगिक है। जनआन्दोलनों के मंच में भी भारी संख्या में एन.जी.ओ. की भागीदारी है। वास्तविक संघर्षों और प्रायोजित संघर्षों के अन्तर को जनता के सामने लाने की बहुत ही जरूरत है।

'तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा' आलेख शोधपूर्ण आलेख है। इस तरह का आलेख प्रत्येक अंक में एक विषय पर जरूर देना चाहिए।

भविष्य सार्थक संघर्षों का ही होगा।

—केसर, आजादी बचाओ आन्दोलन, गांधी भवन, चैथम लाइन्स, इलाहाबाद

भारतीय गणतंत्र और संविधान की अर्द्धशती के प्रश्नचिन्ह और विरामचिन्ह और कुछ नये संकेत चिन्ह

यह पुस्तक मर चुकी है
इसे न पढ़ें
इसके शब्दों में मौत की ठंडक है
और एक-एक पृष्ठ
जिन्दगी के आखिरी पल जैसा भयानक
यह पुस्तक जब बनी थी
तो मैं एक पशु था
सोया हुआ पशु...
और जब मैं जगा
तो मेरे इंसान बनने तक
यह पुस्तक मर चुकी थी
अब यदि इस पुस्तक को पढ़ोगे
तो पशु बन जाओगे
सोये हुए पशु।
(***पाश** की कविता : **'संविधान'***)

•

नई सदी के पहले वर्ष में भारतीय जनतांत्रिक गणतंत्र की पचासवीं सालगिरह मनाई गई। अब साल भर भारतीय जनतंत्र और संविधान की ''पवित्र पुस्तक'' का स्वर्णजयन्ती वर्ष मनाया जायेगा। भारतीय जनता को भारी तामझाम और टीम-टाम के साथ किये जाने वाले आयोजनों-समारोहों-संगोष्ठियों में बेहद उबाऊ-अनुष्ठानिक और आस्थाहीन ढंग से यह बताने की कोशिश की जायेगी कि दुनिया भर के संविधानों से ''सार-सार को गहि'' लेने वाला हमारा संविधान कितना महान है, इसके प्रणेता कितने प्रकाण्ड पण्डित और दुर्दान्त दूरदर्शी विधिवेत्ता थे.... वगैरह-वगैरह। आधी सदी के दौरान यह बात कूट-कूटकर जनमानस में बैठाई जाती रही है कि यह पुस्तक इतनी पवित्र है कि अप्रश्नेय है। इसपर प्रश्न यदि जनता उठाती है तो यह लगभग देशद्रोह है। हां, शासन को चलाने की आवश्यकतानुसार, संसद इसमें लगातार छोटे-बड़े संशोधन करती रही है। आपातकाल का कुख्यात बयालीसवां संशोधन, जो राज्य के हित में नागरिक के जीने के अधिकार तक का अपहरण कर लेने वाला था, भला कैसे भूला जा सकता है! और अब, **यह राज्यसत्ता का ही अन्तर्भूत संकट है, जिसके चलते केन्द्र की भाजपा सरकार, और भाजपाई भगवा चोले के सामाजिक-जनवादी चिल्लर भी, संविधान की नये सिरे से समीक्षा की बात कर रहे हैं।** और ऐसा इसलिए नहीं किया जा रहा है कि शासन चलाने वाले लोग जनता के संवैधानिक-वैधानिक अधिकारों की प्रभाविता की गारण्टी करना चाहते हैं, या कि उनके सीमान्तों को विस्तारित करना चाहते हैं। बल्कि मंशा इसके ठीक उल्टी है।

सामाजिक-आर्थिक ढांचे के जिस निर्विकल्प संकट और आवश्यकता के स्वयंस्फूर्त आन्तरिक दबावों के चलते, आज हमारे देश में (पूंजीवादी जनवादी संसदीय चुनावों के सम्पूर्ण रीति-विधानों का अनुपालन करते हुए) **एक धार्मिक कट्टरपंथी फासिस्ट पार्टी की अगुवाई वाला गठबंधन सत्तारूढ़ है, व्यवस्था के जिस ढांचागत संकट ने एक सर्वसत्तावादी निरंकुश सत्ता के सामाजिक आधारों का** (खुशहाल शहरी व ग्रामीण मध्य वर्ग, फार्मरों-कुलकों, वणिकों और तमाम परजीवी कमीशन एजेण्ट जमातों के बीच) **विस्तार किया है और व्यापक जनता से इस राज्यसत्ता के बढ़ते अलगाव के साथ ही राजकीय**

दमन का चरित्र ज्यादा से ज्यादा सैनिक-जुण्टाओं की हुकूमतों जैसा होता चला जा रहा है; उन्हीं संकटों-आवश्यकताओं ने सत्ताधारियों को विवश किया है कि वे संविधान-समीक्षा का उपक्रम करें। यह जरूरी है, ताकि लोहे के दस्ताने पहनकर शासन किया जा सके। संविधान-प्रदत्त अति सीमित, पंगु-विकलांग जनवाद भी आज सत्ताधारियों के लिए बाधक बनने लगा है।

विडम्बना तो यह है कि भाजपा सरकार के इस एजेण्डे का विरोध करने के लिए संसदीय वामपंथियों की मण्डली भी संविधान की ''पवित्र अपरिवर्तनीयता'' और ''अनुल्लंघनीयता'' के नपुंसक तर्कों की ही आड़ ले रही है। उनकी भी मजबूरी है। संसदीय चण्डूखाने में बैठकर वे काउत्स्कीपंथियों को भी शर्मिन्दा कर देने वाली बेशर्मी के साथ बहसबाजी की रोटी खा रहे हैं और राज्य और क्रान्ति विषयक मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं की धज्जी उड़ा रहे हैं, फिर भला बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था की आचार-संहिता पर वे सर्वहारा की क्रान्तिकारी अवस्थिति से प्रश्नचिन्ह कैसे खड़ा कर सकते हैं? जनता के अतिसीमित बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को भी कोई सत्ता जब छीनने की कोशिश करती है तो इस कुचेष्टा के विरुद्ध संघर्ष सच्चे वामपंथ का एक अनिवार्य फौरी कार्यभार होता है, पर **यह उसका अन्तिम लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। अपने उपरोक्त फौरी कार्यभार को पूरा करने के साथ ही सच्चा, क्रान्तिकारी वामपंथ हर-हमेशा बुर्जुआ जनवाद के सीमान्तों और वास्तविक चरित्र को उजागर करता रहता है, न कि उनका आदर्शीकरण करता है। सर्वहारा वर्ग की पार्टी की क्रान्तिकारी अवस्थिति यही हो सकती है कि वह जनता के सीमित जनवादी अधिकारों को भी छीनकर सर्वसत्तावादी शासन स्थापित करने के लिए संविधान-समीक्षा की किसी भी फासिस्ट परियोजना के मूल उद्देश्य का भण्डाफोड़ करे और उसके समान्तर एक नये, सच्चे जनवादी संविधान के निर्माण की क्रान्तिकारी परियोजना, सांगोपांग रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करे।** किसी फासिस्ट-अर्द्धफासिस्ट पार्टी के शासन के कुचक्रों का प्रतिरोध करते हुए पूंजीवादी जनवाद के (संविधान सहित) हर पहलू के 'एक्सपोजर' के सतत्, दीर्घकालिक कार्यभार की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। जो ऐसा करते हैं, जाहिर है कि वे पूंजीवादी जनवाद के पैरोकार हैं, न कि सर्वहारा जनवाद के।

●

जनवाद का स्रोत संविधान का मोटा पोथा नहीं होता। कोई भी संविधान जनता को किस हद तक जनवादी अधिकार प्रदान करता है, यह इस बात से तय होता है कि सत्ता किस वर्ग के हाथों में है। पूंजीवादी जनवाद, चाहे वह जैसा भी हो, सारत: वह पूंजीपति वर्ग की तानाशाही होता है जो पूंजीवादी वर्गों को, उनकी सम्पत्ति के अनुपात में, वास्तविक जनवादी अधिकार प्रदान करता है और व्यापक आम जनता के लिए तानाशाही होता है। प्राक्‌पूंजीवादी सत्ताओं के मुकाबले बुर्जुआ जनवाद ने जनता को जिस हद तक जनवाद प्रदान किया, वह पूंजीवादी उत्पादन और विनिमय प्रणाली के सामान्य संचालन की जरूरत था। साथ ही, पूंजीवादी जनवाद के लिए हुए वर्ग-संघर्ष में जनता की भागीदारी और जाग्रत चेतना के चलते इस हद तक जनवादी अधिकार जनता को देने की विवशता थी। जनता की उन्नत वर्ग-चेतना और संगठित शक्ति के चलते बुर्जुआ सत्ता इन जनवादी अधिकारों का अपहरण, उस समय भी नहीं कर सकी, या पूरी तरह नहीं कर सकी, जब इजारेदारी और वित्तीय पूंजी के दौर की आवश्यकता थी—निरंकुश सत्ता।

पश्चिम की जो बुर्जुआ सत्ताएं पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की प्रक्रिया से स्थापित हुईं थीं, उन्होंने अपने देश की जनता को अपेक्षतया अधिक जनवादी अधिकार दिये। गौरतलब है कि ठीक उसीसमय पश्चिमी देशों के ये पूंजीपति उपनिवेशों की जनता के साथ पाशविक बर्बरता का सुलूक कर रहे थे। साम्राज्यवादी युग में पश्चिमी देशों की बुर्जुआजी ने उपनिवेशों की लूट के सहारे अपने देश की मेहनतकश जनता के एक हिस्से को भी अधिक सुविधाएं दीं और कुछ अधिक अधिकार भी देकर उनकी चेतना का भ्रष्टीकरण किया। उन्हें अपने देश की जनता के अधिकारों के सीधे-सीधे दमन या अपहरण की उतनी आवश्यकता भी नहीं थी। आगे जब यह आवश्यकता पड़ने लगी, खासकर गत शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के संकटकालीन दिनों में, तो उन्हें पूंजीवादी अधिनायकत्व का असली चेहरा सामने लाने में कोई हिचक भी नहीं हुई। यूं इसके पहले भी, कम्युनिस्टों, रैडिकल अश्वेत नेताओं और रैडिकल मजदूर नेताओं के लिए पश्चिमी बुर्जुआ जनतंत्र के पहरुए नग्न-निरंकुश अधिनायक-तंत्र की ही बानगी पेश करते रहे हैं। उन्नीसवीं सदी में ही शिकागो के मई दिवस के नायकों को और बीसवीं सदी में साको और वैंजियाटी को तथा रोजेनबर्ग दम्पत्ति को फर्जी मुकदमा चलाकर अमेरिका में फांसी दे दी गई और आज मूमिया अबू जमाल भी इसीतरह फांसी की प्रतीक्षा कर रहा है। मैकार्थीवाद के काल में अमेरिका में कम्युनिस्टों, हर तरह के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और पूरे मजदूर आन्दोलन तथा अश्वेत आन्दोलन के साथ सत्ता का सुलूक फासिस्ट सत्ता जैसा ही था।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि तमाम संकटों के बावजूद चूंकि पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में फिलहाल क्रान्तिकारी विस्फोटों की सम्भावनाएं आसन्न नहीं हैं और शासक वर्ग की दृष्टि से स्थितियां बेकाबू नहीं हैं,

सामाजिक-आर्थिक ढांचे के जिस निर्विकल्प संकट और आवश्यकता के स्वयंस्फूर्त आन्तरिक दबावों के चलते, आज हमारे देश में एक धार्मिक कट्टरपंथी फासिस्ट पार्टी की अगुवाई वाला गठबंधन सत्तारूढ़ है, व्यवस्था के जिस ढांचागत संकट ने एक सर्वसत्तावादी निरंकुश सत्ता के सामाजिक आधारों का विस्तार किया है और व्यापक जनता से इस राज्यसत्ता के बढ़ते अलगाव के साथ ही राजकीय दमन का चरित्र ज्यादा से ज्यादा सैनिक-जुण्टाओं की हुकूमतों जैसा होता चला जा रहा है; उन्हीं संकटों-आवश्यकताओं ने सत्ताधारियों को विवश किया है कि वे संविधान-समीक्षा का उपक्रम करें।

इसलिए वहां अभी भी जनता को बेहतर आर्थिक सुविधाएं तथा नागरिक और जनवादी अधिकार प्राप्त हैं (जाहिर है कि यह स्थिति तीसरी दुनिया की जनता की लूट की कीमत पर बनी है और कायम है तथा यही इन देशों में सामाजिक जनवादी राजनीति की जमीन भी है, हालांकि आज यह जमीन वहां भी सिकुड़ती जा रही है)।

भारत जैसे देश का शासक पूंजीपति वर्ग शुरू से ही इस स्थिति में नहीं था कि जनता को पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी सत्ताओं जैसे जनवादी अधिकार दे सके। जिस शासक वर्ग की आजादी स्वयं ही अधूरी हो और सम्प्रभुता खण्डित हो, वह अत्यन्त विकलांग-रुग्ण बुर्जुआ जनवादी सत्ता ही कायम कर सकता था और जनता को अति सीमित जनवादी अधिकार ही प्रदान कर सकता था।

●

भारतीय संविधान के मोटे पोथे में जनवाद के बारे में चाहे जो भी लिखा हो और चाहे जितने भी विद्वतापूर्ण ढंग से लिखा गया हो, जमीनी हकीकत यह है कि जनता को राज्यसत्ता से अति सीमित जनवादी अधिकार प्राप्त रहे हैं और जब चाहे उनके अपहरण के संवैधानिक-वैधिक हथकण्डे भी मौजूद रहे हैं। जमीनी हकीकत यह है कि तरह-तरह के काले कानूनों द्वारा जनता के जनवादी अधिकारों को आज नाम-मात्र का बना दिया गया है। जमीनी हकीकत यह है कि व्यापक आम जनता के लिए संविधान प्रदत्त अधिकारों, कानूनी प्रावधानों और उच्चतम न्यायालय के मानवाधिकार-विषयक दिशा-निर्देशों का कोई खास मतलब नहीं है। उसके सभी अधिकार तो थाने के दीवानजी की जेब में ही समा जाते हैं। और जमीनी हकीकत यह भी है कि पिछली आधी सदी के पूंजीवादी आर्थिक विकास ने धनी-गरीब की बढ़ती खाई, लूट, भ्रष्टाचार, मंहगाई, बेरोजगारी के साथ-साथ अलगाव, निरंकुशता, सर्वसत्तावाद और फासीवाद मूल्यों को तो लगातार मजबूत बनाया है, पर पूंजीवादी जनवाद के मूल्य और चेतना महज मुट्ठी भर शीर्षस्थ, महानगरीय बुद्धिजीवियों के अभिजन समाज तक ही सीमित हैं।

भारतीय पूंजीपति जनवाद की इन सीमाओं को समझने के लिए कुछ बुनियादी ऐतिहासिक वस्तुगत सच्चाईयों को सही ढंग से समझना होगा।

भारतीय पूंजीवाद ने कृषि से दस्तकारी और दस्तकारी से उद्योग तक की अपनी स्वाभाविक यात्रा पूरी ही नहीं की। इसके पहले ही देश गुलाम हो गया और मध्यकाल की संक्रमणशील सामाजिक-आर्थिक संरचना को तोड़कर इसपर एक औपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती सामाजिक-आर्थिक संरचना लाद दी गई। भारतीय पूंजीपति वर्ग इसी औपनिवेशिक संरचना में विकसित हुआ—पहले कमीशन एजेण्ट और व्यापारिक पूंजीपति वर्ग के रूप में और फिर (साम्राज्यवाद के आन्तरिक अन्तरविरोधों-विवशताओं का लाभ उठाकर) औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के रूप में। इसतरह, भारतीय पूंजीपति वर्ग बर्गरों की सन्तान नहीं था। इसने पुनर्जागरण-प्रबोधन-जनवादी क्रान्ति की मंजिलों से होकर पूंजीवादी जनवाद को बहाल करने का काम नहीं किया। औपनिवेशिक कोख से उत्पन्न होकर साम्राज्यवादी दौर में सयाना हुआ यह पूंजीपति वर्ग जन्म से ही बूढ़ा था, बौना और विकलांग था। राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष में भी इसने हमेशा दोहरी भूमिका निभाई। जनता की शक्ति से यह हमेशा ही आतंकित रहा। याचना के रूप में इसने अधिकार मांगने की शुरुआत की। विश्व पूंजीवाद के अन्तरविरोधों और ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के उलझाव का लाभ उठाकर यह क्रमशः अपनी आर्थिक-राजनीतिक शक्ति बढ़ाता गया और साथ ही एक चतुर बूढ़े बौने की तरह आम जनता की विकासमान राष्ट्रीय जनवादी चेतना और संघर्षों का भी इसने अपने पक्ष में इस्तेमाल किया। सर्वहारा नेतृत्व की कमजोरियों-गलतियों का भी इसने अचूक कुटिलता के साथ लाभ उठाया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब विश्व पूंजीवादी तंत्र की चौधराहट ब्रिटेन से अमेरिका के हाथ में जा रही थी, ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य सिकुड़ रहा था और भारतीय जनता के तूफानी जनउभारों से ब्रिटिश उपनिवेशवादी आतंकित हो उठे थे, उससमय भारतीय पूंजीपति वर्ग ने सत्ता के लिए अपनी दावेदारी पेश की और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के सामने भी एकमात्र यही विकल्प था जो उनके भी हक में था और पूरे साम्राज्यवाद के भी हक में था।

''सख्त आर्थिक कदमों'' के बाद ''सख्त राजनीतिक कदमों'' के लिए भी तैयार रहना होगा, यह सत्ताधारियों के सामने स्पष्ट है। इसीलिए नई श्रम नीति बन रही है, नई उद्योग नीति बन रही है और अब इसीलिए संविधान-समीक्षा के उपक्रम किये जा रहे हैं। सरकार का लक्ष्य है, एक लम्बी प्रक्रिया में ऐसा माहौल तैयार करना जो सर्वसत्तावादी निरंकुश सत्ता को संविधान-सम्मत बनाने के अनुकूल हो।

1947 से 1950 तक का समय आधुनिक भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण संक्रमण-काल था, जिस दौरान नये सत्ताधारी—भारतीय पूंजीपति वर्ग को उद्योग-धन्धों और कृषि के विकास की बुनियादी दिशा तय करनी थी, पूरे भारतीय समाज के विकास की नीतियां तय करनी थीं और भारतीय संविधान का निर्माण करना था। यूं तो, भारतीय संविधान के चरित्र को मोटे तौर पर समझने के लिए संविधान-निर्माण की प्रक्रिया की चर्चा ही काफी होती, लेकिन इसे अच्छीतरह से और गहराई में जाकर समझने के लिए यह देखना भी जरूरी है कि नये सत्ताधारियों ने इस संक्रमणकाल के अपने अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को किसतरह अंजाम दिया और भविष्य के लिए क्या दिशा तय की!

सबसे पहले अनौपनिवेशीकरण (डीकोलोनाइजेशन) के प्रश्न को लें। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने समूचे सामाजिक-आर्थिक तंत्र का आमूलचूल अनौपनिवेशीकरण करके एक राष्ट्रीय जनवादी सत्ता कायम करने के

बजाय पुराने ढांचे पर ही एक हद तक रंग-रोगन करने का, एक हद तक चिप्पी लगाने का और कुछ चीजों को धीरे-धीरे एक लम्बी प्रक्रिया में अपने हितों के अनुरूप बदलने का रास्ता अपनाया। विश्व पूंजीवादी तंत्र से निर्णायक-आमूल विच्छेद के बजाय इसने राष्ट्रीय अर्थतंत्र को उसका अभिन्न अंग बनाये रखने का निर्णय लिया और साम्राज्यवादी देशों की मदद से औद्योगिक विकास का रास्ता चुना। नतीजतन देश में साम्राज्यवादी देशों, साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभाव घटने के बजाय लगातार बढ़ता गया। हां, इतना जरूर रहा कि अब भारतीय पूंजीपति वर्ग किसी एक साम्राज्यवादी देश का गुलाम नहीं था। साम्राज्यवादियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर उसने अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार किया और राजनीतिक आजादी एवं सम्प्रभुता के 'स्पेस' को एक हद तक बढ़ाने का भी काम किया। इस काम में, शुरुआती एक दशक तक उसने समाजवादी शिविर की मौजूदगी का भी लाभ उठाया। साथ ही उसने 'पब्लिक सेक्टर' के रूप में समाजवादी मुखौटे वाला राजकीय पूंजीवाद का ढांचा खड़ा किया ताकि शुरुआती दौर में निवेश के लिए आवश्यक पूंजी का एक बड़ा हिस्सा जनता से इकट्ठा किया जाये और साम्राज्यवाद के दबाव को एक हद तक झेला जा सके। देशी पूंजीपतियों ने पब्लिक सेक्टर का चार दशकों तक पूरा लाभ उठाया और जब उसकी भूमिका समाप्त हो गई तो उसे तोड़ने में जरा भी देर नहीं की। आर्थिक-सामाजिक विकास की यह दिशा 1947 से 1950 के बीच ही स्पष्ट हो चुकी थी, जब नई सत्ता ने अनौपनिवेशीकरण के काम को हाथ में लिया।

दूसरा काम जो भारतीय पूंजीपति वर्ग के सामने था, वह था अर्द्धसामन्ती भूमि-व्यवस्था को बदलने का। एक केन्द्रीकृत बुर्जुआ राज्यसत्ता की स्थापना के लिए देश की एक तिहाई भूमि पर शासन करने वाले देशी राजों-रजवाड़ों की रियासतों को खतम करना जरूरी था। ये राजे-रजवाड़े हमेशा से ही जालिम, विलासी और अंग्रेजों के वफादार कुत्ते रहे थे। कांग्रेस ने देशी रियासतों को समाप्त करके उन्हें भारतीय राज्यसत्ता के अधीन तो कर दिया, पर राजाओं-नवाबों से केवल कर एकत्र करने और शासन करने के अधिकार छीने गये। जनता के लूटमार से एकत्र अकूत सम्पत्ति उनके पास रहने दी गई और करीब दो दशकों तक जनता की गाढ़ी कमाई से उन्हें प्रिवी पर्स भी दिया जाता रहा। आज भी इन भूतपूर्व राजाओं के पास करोड़ों की सम्पत्ति ट्रस्ट आदि के रूप में है और होटल तथा अन्य व्यवसायों-उद्योगों में पूंजी लगाने के साथ ये पुराने शासक आज नये शासकों के गिरोह में शामिल हो चुके हैं। इनमें से अधिकांश आज अलग-अलग बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों में—मुख्यत: कांग्रेस और भाजपा में शामिल हैं।

''सख्त राज्य'' की आड़ में अघोषित भगवा इमर्जेंसी के निशाने पर, अल्पसंख्यकों के अतिरिक्त क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट, दलित वर्ग और प्रगतिशील बुद्धिजीवी ही सबसे पहले होंगे। पर यह अघोषित भगवा इमर्जेंसी भारतीय पूंजीपति वर्ग का लक्ष्य नहीं है। वह बहुत चतुराई से हिन्दूवादी फासीवाद का नियंत्रित इस्तेमाल कर रहा है, जिसमें जाहिरा तौर पर यह खतरा भी निहित है कि यह ''नियंत्रित इस्तेमाल'' अनियंत्रित हो जाये।

भारतीय पूंजीपति वर्ग ने बुर्जुआ भूमि सुधार का जो रास्ता चुना, वह जर्मनी के जुंकर-टाइप रूपान्तरण और रूस के स्तॉलिपिन के भूमि-सुधारों से मिलता-जुलता रास्ता था। भारतीय पूंजीपति वर्ग ने 1947 से 1950 के बीच इन नीतियों का निर्धारण किया और पचास और साठ के दशक में इन्हें अमली जामा पहनाया गया। भूमि सुधार के इस घोर प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ रास्ते को अपनाकर भारतीय पूंजीपति वर्ग ने पुराने सामन्ती भूस्वामियों को बाध्य किया, और साथ ही पूरा मौका दिया, कि वे खुद को पूंजीवादी भूस्वामी के रूप में बदल लें। राज्य और किसान आबादी के बीच भू राजस्व उगाहने वाले मध्यवर्ती वर्ग के रूप में उनकी स्थिति समाप्त कर दी गईं, पर उन्हें पूरा मौका दिया गया कि तरह-तरह के तीन-तिकड़मों से वे अपनी चल-अचल सम्पत्ति बचा लें। जिन पुराने भूस्वामियों ने अपने को नहीं बदला, वे उजड़कर गांव-शहर के मध्य वर्ग में शामिल हो गये। शेष धीरे-धीरे नये पूंजीवादी भूस्वामी बन गये और उनकी कतारों में खुशहाल और धनी मालिक किसानों की भी एक आबादी आकर शामिल हो गई।

भारतीय पूंजीपति वर्ग ने उत्पादन की शक्तियों को हमेशा ही अंशत: और धीरे-धीरे मुक्त करने का काम किया, क्योंकि जनता की अचानक निर्बंध होने वाली शक्ति के ज्वार से यह हरदम भयभीत रहता था। यह इसके औपनिवेशिक संरचना की कोख से, साम्राज्यवाद के युग में, जन्म के नाते पैदा हुई अभिलाक्षणिक विशिष्टता थी और इसी नाते अनौपनिवेशीकरण और भूमि सुधार के काम को किसी रैडिकल, राष्ट्रीय बुर्जुआ के समान पूरा करने में यह सर्वथा असमर्थ था।

जाहिर है कि ऐसे बुर्जुआ वर्ग की सत्ता से हम बुर्जुआ अर्थों में भी राष्ट्रीय जनवादी होने की अपेक्षा नहीं कर सकते। संविधान में जनवाद के सारे प्राविधान यदि मौजूद भी रहते तो भी राज्यसत्ता के विधायी और कार्यकारी अंगों द्वारा वे निष्प्रभावी बना दिये जाते। साथ ही, प्राक्पूंजीवादी भूमि-सम्बन्धों से उत्पादक शक्तियों के निर्बंध होने की क्रिया यदि क्रान्तिकारी ढंग से सम्पन्न न हो तो समाज में जनवादी मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं का वर्चस्व कायम नहीं हो पाता और ऐसी स्थिति में जनवाद के प्राविधान संविधान में ही धरे-के-धरे रह जाते हैं। भारत में यही हुआ। हम आगे यह भी देखेंगे कि जनवादी अधिकारों की जो भी बातें संविधान में की गई हैं, वे सजावटी और लफ्फाजी अधिक हैं और वास्तविक रूप से प्रभावी बहुत कम हैं।

अनौपनिवेशीकरण और भूमि-सुधार की नीतियों के निर्धारण में भारतीय बुर्जुआ वर्ग का जो

अप्रोच और दृष्टिकोण था, एकदम वही अप्रोच और दृष्टिकोण संविधान-निर्माण की प्रक्रिया में भी दिखाई देता है और ज्यादा नग्न रूप में दिखाई देता है।

●

जिस संविधान को भारतीय जनतांत्रिक गणराज्य की दार्शनिक-वैचारिक पीठिका और सभी प्रश्नों-शंकाओं से परे जनवाद का अद्वितीय ''धर्मग्रंथ'' साबित करने की अनथक कोशिशें की जाती रही हैं, **उसकी निर्माण-प्रक्रिया ही अपने-आप में घोर गैर जनवादी रही है।** जैसे इस देश का संविधान बना, उसे देखते हुए ''जनवाद'' की वह बानगी भी अप्रत्याशित नहीं लगती जो ''सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न जनतांत्रिक गणराज्य'' की जनता गत आधी सदी से भोगती-भुगतती आ रही है।

यहां, जरूरी है कि हम संविधान-निर्माण के ऐतिहासिक घटना-क्रम पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालें।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, 1946 तक ब्रिटिश उपनिवेशवादी यह समझ चुके थे कि उन्हें भारत छोड़ना होगा। तत्कालीन विश्व परिस्थितियों में उनका साम्राज्य सिकुड़ना तय हो चुका था। साम्राज्यवादी दुनिया का चौधरी अब अमेरिका बन चुका था। उधर भारतीय जनता के लगातार तेज होते वर्ग-संघर्ष चेतावनी दे रहे थे कि यदि समय रहते कोई कदम नहीं उठाया गया तो सबकुछ हाथ से निकल सकता है और चीन की विजयोन्मुख लाल क्रान्ति की लहर हिमालय के दूसरी ओर भी पहुंच सकती है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी, काफी सोच-विचार के बाद सत्ता भारतीय पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि संगठनों—कांग्रेस और मुस्लिम लीग के हाथों में सौंपने का निश्चय कर चुके थे और अब उनकी कोशिश यह थी कि किसतरह अधिकतम सम्भव हद तक ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की हिफाजत की जाये। सभी पश्चिमी साम्राज्यवादियों की साझा चिन्ता यह थी कि नवस्वाधीन देश में तरह-तरह से पूंजी लगाने और मुनाफा निचोड़ने की अनुकूलतम स्थितियां किसतरह तैयार हों!

मार्च, 1946 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड एटली ने अपने मंत्रिमण्डल के तीन सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल भारत भेजा जिसे प्रमुख राजनीतिक दलों, गणमान्य नागरिकों और देशी रियासतों के प्रमुखों से विचार-विमर्श के बाद सत्ता-हस्तान्तरण की योजना तैयार करनी थी। 16 मई 1946 को 'कैबिनेट मिशन' नाम से प्रसिद्ध उस दल ने अपनी योजना घोषित की जिसे सभी पक्षों ने स्वीकार किया। कैबिनेट मिशन की मूलभूत शर्तें इस प्रकार थीं :

(i) भारत का बंटवारा नहीं होगा। इसका ढांचा संघीय होगा। 16 जुलाई, 1948 को सत्ता हस्तान्तरित की जायेगी। इसके पूर्व संघीय भारत का संविधान तैयार कर लिया जायेगा।

(ii) संविधान लिखने के लिए 389 सदस्यों की संविधान सभा का गठन किया जायेगा जिसमें 89 सदस्य देशी रियासतों के प्रमुखों द्वारा मनोनीत किये जायेंगे।

(iii) शेष 300 सदस्यों का चुनाव ब्रिटिश शासित प्रान्तों की विधायिका के सदस्यों द्वारा किया जायेगा। इन 300 में से मुसलमानों के लिए आरक्षित 78 सीटों का चुनाव मुस्लिम समुदाया द्वारा ही किया जायेगा।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासित प्रान्तों की विधानसभाओं के सदस्यों का चुनाव 'भारत सरकार अधिनियम - 1935' के अनुसार सीमित मताधिकार के आधार पर हुआ था। उक्त अधिनियम के अनुसार मात्र 15 प्रतिशत वयस्क नागरिकों को ही मत देने का अधिकार था (जो कुल आबादी के 0.5 प्रतिशत थे)। शेष 85 प्रतिशत नागरिक मताधिकार से वंचित थे।

(iv) संविधान सभा सम्प्रभुता सम्पन्न नहीं होगी। वह कैबिनेट मिशन प्लान 1946 के अन्तर्गत संविधान लिखेगी जिसे लागू करने के लिए ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति अनिवार्य होगी।

(v) इस दौरान भारत का शासन प्रबन्ध भारत सरकार अधिनियम 1935 के तहत होता रहेगा जिसके लिए केन्द्र में एक सर्वदल समर्थित अन्तरिम सरकार गठित की जायेगी।

जुलाई, 1946 में संविधान सभा का चुनाव हुआ जिसमें कांग्रेस को 199 सीटें और 13 का समर्थन प्राप्त हुआ, मुस्लिम लीग को 72 सीटें मिलीं तथा 16 पर अन्य विजयी हुए।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी एक ओर तो देश का बंटवारा नहीं होने देने की ''सद्भावना'' जाहिर कर रहे थे, दूसरी ओर अपने स्वार्थवश वे बंटवारे की साजिश रच रहे थे और सत्ता में भागीदारी के प्रश्न पर मुस्लिम लीग के नेताओं की शंकाओं एवं असुरक्षा-बोध को उकसा रहे थे। उधर भारतीय पूंजीपतियों की प्रमुख पार्टी कांग्रेस सत्ता-प्राप्ति की जल्दबाजी के कारण बंटवारे की स्थिति पैदा कर रही थी। एक और प्रमुख कारण यह भी था कि भारतीय पूंजीपति वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस एक ढीले-ढाले विकेन्द्रित प्रशासन की जगह केन्द्रीकृत मजबूत प्रशासन चाहती थी।

फलत: हालात ऐसे बने कि मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बॉयकाट कर दिया और पाकिस्तान की मांग को लेकर 'सीधी कार्रवाई' का ऐलान कर दिया। पूरा देश दंगों और तबाही की आग में जलने लगा।

सितम्बर, 1946 में अन्तरिम सरकार का गठन हुआ जिसके प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू बने। एक माह

जिस संविधान को भारतीय जनतांत्रिक गणराज्य की दार्शनिक-वैचारिक पीठिका और सभी प्रश्नों-शंकाओं से परे जनवाद का अद्वितीय ''धर्मग्रंथ'' साबित करने की अनथक कोशिशें की जाती रही हैं, उसकी निर्माण-प्रक्रिया ही अपने-आप में घोर गैर जनवादी रही है।

बाद मुस्लिम लीग भी उस अन्तरिम सरकार में शामिल हो गई, लेकिन संविधान सभा का वह लगातार बहिष्कार करती रही।

9 दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा की पहली बैठक बुलाई गई जिसमें राजेन्द्र प्रसाद को अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसम्बर को संविधान की प्रस्तावना पेश की गई और 22 जनवरी 1947 को उसे स्वीकार किया गया। लीग और रियासतों के मनोनीत प्रतिनिधियों के बॉयकाट के बाद (महज 15 प्रतिशत नागरिकों द्वारा निर्वाचित) संविधान सभा के कुल 55 प्रतिशत सदस्यों ने उसे स्वीकार किया। विभाजन के बाद इसी प्रस्तावना को भारतीय संविधान की दार्शनिक आधारशिला के रूप में स्वीकार किया गया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 22 जनवरी 1947 को संविधान सभा ने इस प्रस्तावना को ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति हेतु भेजने के लिए पारित किया था क्योंकि उस समय वह ब्रिटिश संसद के मातहत ही काम कर रही थी।

संघीय भारत का संविधान बनने से पहले ही, 3 जून 1947 को भारत का बंटवारा मंजूर कर लिया गया और 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान को अधिराज्य (डोमीनियन) घोषित कर दिया गया। डोमीनियन इसलिए कि दोनों देशों के संविधान तैयार होने तक, इनका शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश संसद द्वारा पारित 'भारत सरकार अधिनियम 1935' से ही संचालित होना था।

औपनिवेशिक गुलामी के ऐसे चिन्हों और चलनों-रिवायतों की एक लम्बी फेहरिस्त तैयार की जा सकती है, जो स्वाधीन भारत के शासक बाद में भी लम्बे समय तक ढोते रहे। इनसे यह नतीजा तो नहीं निकाला जा सकता कि देश अभी भी औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त नहीं हुआ है, क्योंकि आर्थिक-राजनीतिक सच्चाइयां इस नतीजे के अनुकूल नहीं हैं, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि **भारतीय पूंजीपति वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस ने साम्राज्यवादी लूट को कायम रखने की शर्तों पर भारतीय जनता के संघर्षों-कुर्बानियों का सौदा करके शासन और शोषण का अधिकार हासिल किया।** यह नतीजा जरूर निकाला जा सकता है कि **औपनिवेशिक शासनकाल और भारतीय बुर्जुआ शासन काल के बीच निर्णायक विच्छेद के बजाय निरंतरता और क्रमिक विकास के पहलू की प्रधानता है।** ब्रिटिश लेखक **लियोनार्ड मोसले** ने यह अनायास नहीं कहा था कि **भारत को आजादी उसके संघर्ष के बदले नहीं बल्कि ब्रिटिश सरकार और सत्तालोलुप भारतीय नेताओं के बीच हुए एक गुप्त समझौते के आधार पर मिली है।**

बहरहाल, जुलाई 1946 में गठित उसी संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान के आधार पर 26 जनवरी, 1950 को भारत को एक जनतांत्रिक गणतंत्र घोषित किया गया और इसके भी तीन वर्षों पश्चात 1952 में देश के प हले आम चुनाव हुए।

अपने मूल चरित्र में भारतीय संविधान एक पूंजीवादी संविधान है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की वर्तमान व्यवस्था की एक-एक इंच हिफाजत करने की कसमें खाता है, जमीन और पूंजी को उत्पादन और शोषण के साधन के रूप में स्वीकार करता है, शोषकों को शोषण की पूरी गारण्टी देता है, उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा का वचन देता है और मेहनतकश जनता को काम करने के अधिकार तक की, रोटी तक की गारण्टी नहीं देता।

यह सच्चाई दिन के उजाले की तरह साफ है कि **संविधान सभा को संविधान बनाने के लिए, भारतीय जनता ने नहीं बल्कि ब्रिटिश संसद ने अधिकृत किया था। उक्त संविधान सभा का चुनाव सार्विक मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा नहीं, बल्कि 15 फीसदी उच्चवर्गीय नागरिकों द्वारा परोक्ष चुनाव की विधि से हुआ था।** और यह बात भी केवल ब्रिटिश शासित प्रान्तों के दो तिहाई भूभाग के लिए लागू होती है। एक तिहाई भूभाग वाले देशी रियासतों के इलाकों से प्रतिनिधियों को मनोनीत किया गया था—राजाओं-नवाबों के द्वारा।

भारत के लोगों द्वारा भारतीय संविधान की पुष्टि कभी नहीं कराई गई, बल्कि संविधान के भीतर ही धारा 394 डालकर इसे पूरे देश की जनता पर थोप दिया गया। यहां तक कि **"केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य"** (1973) के मामले में उच्चतम न्यायालय के 13 जजों की संविधान पीठ के 12 सदस्यों ने एकमत से यह कहा है कि **भारतीय संविधान के स्रोत भारत के लोग नहीं हैं बल्कि संविधान लिखने के अधिकार संविधान सभा को ब्रिटिश संसद ने दिया था।** जस्टिस मैथ्यू ने स्पष्ट कहा है, **"यह सर्वविदित है कि संविधान की प्रस्तावना में किया गया वायदा ऐतिहासिक सत्य नहीं है। अधिक से अधिक सिर्फ यह कहा जा सकता है कि संविधान लिखने वाले संविधान सभा के सदस्यों को मात्र 28.5 प्रतिशत लोगों ने अपने परोक्ष मतदान से चुना था और कौन ऐसा है जो उन्हीं 28.5 प्रतिशत लोगों को भारत मान लेगा?"**

इस संविधान के निर्माण की प्रक्रिया सच्चे अर्थों में जनवादी तभी हो सकती थी जबकि, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की जनता सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का चुनाव करती, या वह जिस विधायिका का चुनाव करती वह खुद ही संविधान सभा का भी काम करती अथवा संविधान सभा का चुनाव करती।

लेकिन भारतीय पूंजीपति वर्ग की राज्यसत्ता को जैसे संविधान की जरूरत थी, वह उसीतरह से बन सकता था, जैसेकि वह 1946-50 के दौरान बना।

●

अपने मूल चरित्र में भारतीय संविधान एक पूंजीवादी संविधान है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की वर्तमान व्यवस्था की एक-एक इंच हिफाजत करने की कसमें खाता है, जमीन और पूंजी को उत्पादन और शोषण के साधन के रूप में स्वीकार करता है, शोषकों को शोषण की पूरी गारण्टी देता है, उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा का वचन देता है और मेहनतकश जनता को काम करने के अधिकार तक की, रोटी तक की गारण्टी नहीं देता।

हर तरह के पूंजीवादी जनवाद की वर्गीय अन्तर्वस्तु एक ही होता है, लेकिन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आर्थिक शक्ति और काल के हिसाब से अलग-अलग श्रेणी के देशों के पूंजीपति वर्गों में जो फर्क होते हैं, उसी हिसाब से पूंजीवादी जनवाद के चरित्र और प्रकृति में भी फर्क होते हैं। भारतीय पूंजीवाद के उद्‌भव और विकास की विशिष्टताओं की जो चर्चा हमने ऊपर की है, उसी के अनुरूप भारतीय पूंजीवादी जनवाद का भी चरित्र है।

भारतीय संविधान पश्चिमी पूंजीवादी देशों के संविधानों से थोक भाव से जुमले उधार लेने और धुंआधार लफ्फाजी करने के बावजूद इस सच्चाई को छुपा नहीं पाता कि यह संविधान भारतीय जनता को अत्यन्त सीमित जनवादी अधिकार प्रदान करता है और उन्हें भी छीन लेने के प्रावधान इसी के भीतर मौजूद हैं। शासक वर्ग के लिए आपातकाल के असीमित अधिकार इसी संविधान के भीतर मौजूद हैं और घोषित मूलभूत अधिकारों को सीमित करने के रास्ते भी इसी के भीतर हैं। नीति निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में समाजवादी रंग-रोगन लगाते हुए संविधान में ''कल्याणकारी राज्य'' के पश्चिमी पूंजीवादी मॉडलों की थोड़ी-बहुत नकल भी की गई है, पर इन नीति निर्देशक सिद्धान्तों को मानने की कोई भी बाध्यता या लागू करने का कोई समयबद्ध लक्ष्य शासक वर्ग के सामने नहीं रक्खा गया है और अब, आधी सदी बाद इन नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को पढ़कर केवल ठठाकर हंसा ही जा सकता है।

संविधान एक आम नागरिक को जो सीमित जनवादी अधिकार प्रदान करता है वह कानून के लागू करने के हाथों में आकर और अधिक सीमित हो जाता है। सच तो यह है कि संवैधानिक अधिकारों का लाभ भी अभिजन समाज के थोड़े से प्रबुद्ध लोग ही उठा पाते हैं। जहां तक कानून-व्यवस्था की बात है, जिससे आम आदमी का साबका पड़ता है, आज भी कुछ सुधारों-पैबन्दों के साथ उसका मूल ढांचा वही है जो ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने तैयार किया था। वही **आई.पी.सी., सी.आर.पी.सी.,** सम्पत्ति व उत्तराधिकार के वही कानून, कोर्ट-कचहरी का वही ढांचा, वही भाषा, वही वकील-पेशकार, वही नजराना-शुकराना। आम नागरिक की स्थिति कानून व्यवस्था के सामने पुराने रैयतों जैसी ही है।

और कानून-व्यवस्था से भी छन-रिसकर कुछ जनवादी और नागरिक अधिकार बच जाते हैं तो वे नौकरशाही और थाना-पुलिस की जेब में अंटक जाते हैं। कुछ पदनामों के बदल जाने और कुछ नये पद बन जाने के बावजूद दफ्तरों की नौकरशाही और पुलिसतंत्र का पूरा ढांचा वही है जो भारतीय शासकों को औपनिवेशिक महाप्रभुओं से विरासत में मिला था। फर्क यदि कोई पड़ा है तो यह कि आज की नौकरशाही ब्रिटिशकाल की अपेक्षा अधिक भ्रष्ट है और पुलिस-तंत्र अधिक बेहतर ढंग से शस्त्रसज्जित और प्रशिक्षित है तथा उसके नये-नये खूंखार ब्रांच गठित किये गये हैं। भारतीय पुलिस तीसरी दुनिया के देशों के सर्वाधिक जालिम पुलिसों में से एक है। समय-समय पर तमाम न्यायाधीशों और बुर्जुआ राजनेताओं तक ने इसे स्वीकार किया है। उच्चतम न्यायालय की ढेरों हिदायतों और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के बावजूद पुलिस हिरासत में मौतों से लेकर फर्जी मुठभेड़ों तक का ग्राफ लगातार ऊपर ही चढ़ता जा रहा है। भारतीय गणतंत्र की ''स्वर्ण जयन्ती'' शुरू होने के ठीक पहले देश के सबसे बड़े राज्य की राजधानी में एक व्यक्ति ने पुलिस जुल्म से तंग आकर विधान सभा के सामने आत्मदाह कर लिया और दूसरे ने ऐसा ही करने की कोशिश की। मलियाना से मुजफ्फरनगर तक, बागपत से पंतनगर तक—पुलिस-जुल्म की अगणित दास्तानें हैं। भारतीय न्यायपालिका के एक सम्मानित सदस्य ने भारतीय पुलिस को ''गुण्डों के सर्वाधिक संगठित गिरोह'' की संज्ञा अनायास नहीं दी थी।

यूं तो कानून में भी हजारों छिद्र हैं, पर आम जनता पर शासन मुख्यत: कानून का नहीं, बल्कि पुलिस का चलता है। और कश्मीर से लेकर पूर्वोत्तर भारत तक, जहां केन्द्र की सत्ता के विरुद्ध अलग-अलग राष्ट्रीयताओं की जनता संघर्ष चला रही है, वहां तो दशकों से सेना की तानाशाही ही कायम है और नागरिक अधिकारों का वस्तुत: कोई मतलब नहीं रह गया है।

●

विगत लगभग आधी सदी के दौरान भारतीय पूंजीवादी जनवाद की कमजोर जमीन और संकुचित सीमाएं व्यापक आम जनता के सन्दर्भों में भी न केवल लगातार ज्यादा से ज्यादा उजागर हुई हैं बल्कि क्रमश: और अधिक कमजोर और संकुचित भी होती चली गई हैं। व्यवस्था का संकट बढ़ने के साथ ही जनवाद का रंग-रोगन झड़ते

विडम्बना तो यह है कि भाजपा सरकार के इस एजेण्डे का विरोध करने के लिए संसदीय वामपंथियों की मण्डली भी संविधान की ''पवित्र अपरिवर्तनीयता'' और ''अनुल्लंघनीयता'' के नपुंसक तर्कों की ही आड़ ले रही है। संसदीय चण्डूखाने में बैठकर वे बेशर्मी के साथ बहसबाजी की रोटी खा रहे हैं और राज्य और क्रान्ति विषयक मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं की धज्जी उड़ा रहे हैं, फिर भला बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था की आचार-संहिता पर वे सर्वहारा की क्रान्तिकारी अवस्थिति से प्रश्नचिन्ह कैसे खड़ा कर सकते हैं?

जाना और वर्ग-अधिनायकत्व की अन्तर्वस्तु का रूप के धरातल पर भी ज्यादा से ज्यादा प्रकट होते जाना—यह आम नियम है जो कुछ विशिष्टताओं के साथ हर देश की बुर्जुआ राज्यसत्ता पर लागू होता है।

सच पूछें तो पूंजीवादी जनवाद की नौटंकी हमारे देश में इसलिए नहीं चल रही है कि जनता को इसके बारे में कोई भ्रम है। जनता अपने अनुभवों से जानती है कि सभी चुनावी पार्टियों में अपराधियों, भ्रष्टाचारियों का जमावड़ा है। उसे पता है कि संसद, विधानसभा में मनोरंजक बहसबाजी (वह भी बेहद घटिया राजनीतिक स्तर की) और धींगामुश्ती के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। मंत्री तक पूंजीपतियों से पैसा खाते हैं। असली राजकाज नौकरशाही चलाती है और कानून-व्यवस्था बनाये रखने का काम पुलिस-जेल-थाने के बूते होता है। नीतियां पूंजीपतियों की बैठकों में बनती हैं। आज जागरूक व्यापक जनता अपने अनुभव से यह सब जानती है। फिर भी यह सारा धंधा चल रहा है। इसलिए नहीं कि जनता को कोई भ्रम है, बल्कि इसलिए कि विकल्प दे पाने वाली ताकतें बिखरी हुई हैं, तैयार नहीं हैं और जनता के सामने विकल्प का स्पष्ट खाका नहीं है। मौजूदा व्यवस्था मूलत: अपनी जड़ता की शक्ति के सहारे चल रही है और इसलिए भी कि अनुभव से, चीजों को टुकड़े-टुकड़े में जानते हुए भी इसके वर्ग-चरित्र के हर पहलू के बारे में, और इसलिए इसके विकल्प के बारे में जनता की सुसंगत समझ नहीं है। और यह क्रान्तिकारी नेतृत्व के बिना हो भी नहीं सकती।

नेहरू काल की पूंजीवादी जनवादी राजनीति से भाजपा-गठबंधन के स्पष्ट फासीवादी रुझान और विकास की दिशा तक की यात्रा में भारतीय पूंजीवाद की स्वाभाविक ''विकास-यात्रा'' ही दिखाई देती है।

वैसे, व्यवस्था के सामने चुनौती खड़ा करने या थोड़ा-सा भी खतरा पैदा होने पर, भारतीय राज्यसत्ता का चरित्र हमेशा ही स्पष्टत: दमनकारी और स्वयं अपने ही कायदे-कानूनों को ताक पर धर देने का होता रहा है। देश के पहले आम चुनाव के पहले ही तेलंगाना किसान संघर्ष का बर्बर सैनिक दमन करके नेहरू ने अपने समाजवाद का रंग दिखा दिया था। पचास के दशक के अंत में, केरल में बनी देश की पहली कम्युनिस्ट सरकार को सभी जनवादी नियम-विधानों को धता बताकर भंग कर देने में भी नेहरू को कोई हिचक नहीं हुई थी। (आगे जब संसदमार्गी कम्युनिस्टों ने अपनी ''विश्वसनीयता'' सिद्ध कर दी, तो फिर कभी ऐसा नहीं हुआ)। कश्मीर के आत्मनिर्णय का प्रश्न उठाने पर शेख अब्दुल्ला को सत्ताच्युत करके गिरफ्तार करते भी नेहरू को देर नहीं लगी थी।

कांग्रेस ने आजादी के पूर्व अलग-अलग राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार देने का वायदा किया था, पर सत्तारूढ़ होते ही वह इस वायदे से मुकर गई। कश्मीर के अतिरिक्त पूर्वोत्तर भारत की विभिन्न राष्ट्रीयताएं और अल्पसंख्यक समुदाय भी केन्द्रीय बुर्जुआ सत्ता के अन्याय से त्रस्त होकर स्वतंत्रता और स्वायत्तता की मांगें उठाते रहे हैं और दशकों से संघर्ष करते रहे हैं। देश के इन इलाकों की नंगी सच्चाई यह है कि दशकों से वहां सेना और अर्द्धसैनिक बलों का फासिस्ट शासन ही कायम है और बुर्जुआ नागरिक शासन-प्रशासन बस दिखाने के दांत ही हैं। इन क्षेत्रों में तमाम विशेष कानूनों के तहत जनता के मूलभूत जनवादी अधिकार भी दशकों से स्थगित हैं। अब आंध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में भी ऐसे ही काले कानून नक्सलवाद से निपटने के नाम पर लागू किये जा रहे हैं और बिहार और मध्यप्रदेश के ''नक्सल-प्रभावित क्षेत्रों'' में भी ऐसा करने पर विचार किया जा रहा है।

जून, 1975 में लागू आपातकाल पूरे देश की जनता के लिए फासीवादी आतंक-राज का एक अनुभव था। पर नक्सलवाद पर काबू पाने के नाम पर आपातकाल के पहले 1967 से 1975 के बीच हजारों कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नौजवानों को सड़कों पर फर्जी मुठभेड़ों में मार डाला गया था, दसियों हजार कार्यकर्ताओं को डकैती और कत्ल जैसे फर्जी मुकदमों तक में फंसाकर जेलों में ठूंस दिया गया था और प्रभावित इलाकों में आम जनता पर बर्बर अत्याचार किया गया था। आपातकाल के दौरान भी सर्वाधिक हत्याएं भी नक्सलवादियों की ही हुईं और सर्वाधिक जुल्म भी उन्हीं के ऊपर हुआ। इस जनतांत्रिक देश के (बुर्जुआ) मीडिया ने भी हमेशा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के आदर्शों-सिद्धान्तों पर पर्दा डालकर उन्हें खूंखार आतंकवादी और देशद्रोही के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। कहने का मतलब यह कि पूंजीवादी राज्यसत्ता के लिए चुनौती बनने वाले या बनने की संभावना तक रखने वाले के लिए यह राज्यसत्ता सदा से नग्न-निरंकुश दमनकारी रही है।

आपातकाल एक ऐसे समय में लागू हुआ जब व्यवस्था का गहराता आर्थिक संकट राजनीतिक संकट में बदलकर इतना तीखा हो चुका था कि संवैधानिक चौहद्दियां चरमराने लगी थीं। स्वयं शासक वर्ग भी विभाजित हो चुका था। इन्दिरा सरकार के विरुद्ध व्यापक जनान्दोलन की लहर पर सवार बुर्जुआ विपक्षी भी इतनी दूर निकल आये थे कि वापस लौटना मुमकिन नहीं था और इन्दिरा सरकार को भी आपात स्थिति लागू करने में ही एकमात्र समाधान दीखा। फिर भी इतना तो हुआ ही कि जयप्रकाश नारायण ने बुर्जुआ पार्टियों को साथ लेकर एक जनउभार को क्रान्तिकारी दिशा में आगे विकसित होने से रोक दिया और आपातकाल-विरोधी व्यापक जन भावना का प्रस्फोट भी अन्ततोगत्वा जनता पार्टी शासन के प्रयोग में स्खलित होकर रह गया। निस्संदेह, इसमें

जनता के अतिसीमित बुर्जुआ जनवादी अधिकारों को भी कोई सत्ता जब छीनने की कोशिश करती है तो इस कुचेष्टा के विरुद्ध संघर्ष सच्चे वामपंथ का एक अनिवार्य फौरी कार्यभार होता है, पर यह उसका अन्तिम लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता।

अपने उपरोक्त फौरी कार्यभार को पूरा करने के साथ ही सच्चा, क्रान्तिकारी वामपंथ हर-हमेशा बुर्जुआ जनवाद के सीमान्तों और वास्तविक चरित्र को उजागर करता रहता है, न कि उनका आदर्शीकरण करता है।

क्रान्तिकारी वाम की अपरिपक्वता, पहलकदमी के अभाव और संकीर्णतावादी गलतियों की भी भूमिका थी, पर उसकी चर्चा यहां अभीष्ट नहीं है।

भारतीय शासक भी आज शायद पीछे मुड़कर देखने पर आपातकाल लागू करने के फैसले को एक भूल मानता होगा, जो अनुभव की कमी के कारण हुआ। अब राजनीतिक-आर्थिक संकट के विस्फोट शासक वर्ग को विभाजित करने के बजाय नीतिगत प्रश्नों पर एकजुट कर देते हैं। बुर्जुआ चुनावी पार्टियां संसदीय राजनीति में पक्ष-विपक्ष का खेल अधिक कुशलता से खेलती हैं। सरकार बनाने के लिए लड़ते हुए भी ये दल बुनियादी नीतियों पर एकमत होते हैं (यह उनकी विवशता भी है) और व्यवस्था का क्रान्तिकारी विकल्प प्रस्तुत करने वालों के विरुद्ध तथा व्यापक जनान्दोलनों के दमन के प्रश्न पर भी एकमत होते हैं। इससे भी अहम बात यह है कि शासक वर्गों को आपातकाल के बाद के वर्षों में यह बात समझ में आई कि देश व्यापी स्तर पर आपातकाल घोषित करने के बजाय, जब जहां जरूरत हो, तब तहां तरह-तरह के पहले से ही मौजूद काले कानूनों के सहारे, या नये कानूनों के सहारे, अघोषित आपातकाल जैसा आतंकराज्य कायम किया जा सकता है। गुजरे दो दशकों के दौरान, कश्मीर या असम-नगालैण्ड या फिर आन्ध्र प्रदेश में फासिस्ट आतंक-राज्य का यह प्रयोग लगातार होता रहा है और छोटे पैमाने पर देश के अन्य इलाकों में भी इसे दुहराया जाता रहा है।

तात्पर्य यह कि गुजरे वर्षों में, **शासक वर्ग ने संविधान में ही मौजूद प्रावधानों का इस्तेमाल करते हुए** (और गौरतलब है कि बुर्जुआ मीडिया को कुशलतापूर्वक साधते-इस्तेमाल करते हुए) **बिना ज्यादा शोर-शराबा के, अधिक कुशलता और अधिक बर्बरता के साथ दमन-तंत्र को चलाने में महारत हासिल की है।**

तब फिर सवाल यह उठता है कि इस सबके बावजूद, क्या कारण है कि भाजपा गठबंधन की केन्द्र सरकार आज संविधान समीक्षा के लिए कमेटी गठित कर रही है और उसके कई प्रवक्ता-वक्ता गण नये सिरे से राष्ट्रपति प्रणाली के गुणगान में लग गये हैं?

●

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर-संकेत हमें कुछ वर्षों पहले की, पूर्व राष्ट्रपति **वेंकटरमण** की एक उक्ति में मिल जायेंगे। उन्होंने कहा था कि **नई आर्थिक नीतियों की जो प्रकृति है, उसे देखते हुए लगता है कि इन्हें लागू करने के लिए किसी निरंकुश सत्ता की आवश्यकता होगी।** समय बीतने के साथ ही यह बात ज्यादा से ज्यादा स्पष्ट होती गई है कि उदारीकरण-निजीकरण की नीतियां हमारे देश के शासक वर्ग की मजबूरी और जरूरत दोनों है और दोनों ही रूपों में यह उसके समक्ष एकमात्र विकल्प है। इसीलिए, यह शासक वर्गों की सभी पार्टियों की आम सहमति की नीति है। और इसीलिए, वे इसे लागू करने में लोहे के हाथों से काम लेंगे।

सर्वहारा वर्ग की पार्टी की क्रान्तिकारी अवस्थिति यही हो सकती है कि वह जनता के सीमित जनवादी अधिकारों को भी छीनकर सर्वसत्तावादी शासन स्थापित करने के लिए संविधान-समीक्षा की किसी भी फासिस्ट परियोजना के मूल उद्देश्य का भण्डाफोड़ करे और उसके समानान्तर एक नये, सच्चे जनवादी संविधान के निर्माण की क्रान्तिकारी परियोजना, सांगोपांग रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करें।

यह संयोग भी कोई अनायास नहीं घटित हुआ है कि आर्थिक कट्टरपंथ की नीतियों की आधारशिला रखने और दिशा तय करने का काम भारतीय बुर्जुआ वर्ग की अबतक की सबसे विश्वसनीय, परीक्षित और पुरानी पार्टी कांग्रेस ने अंजाम दिया और इसके बाद वह मानो निस्तेज होकर सुस्त पड़ गई। और अब जब आर्थिक कट्टरपंथ या पूंजीवादी आर्थिक मूलतत्ववाद (फण्डामेण्टलिज्म) की नीतियों को लागू करने सम्बन्धी सर्वाधिक निर्णायक कदम उठाने हैं तो भारतीय बुर्जुआ राजनीतिक परिदृश्य की धुर दक्षिणपंथी, धार्मिक कट्टरपंथी, नवफासीवादी पार्टी पुराने पतित सामाजिक जनवादियों से गांठ जोड़कर केन्द्र में सत्तारूढ़ है। यह चर्चा हम इन पन्नों पर पहले भी करते रहे हैं कि भारतीय समाज में (और आज की दुनिया में भी) जिन कारणों से आर्थिक मूलतत्ववाद की दिशा पूंजीवाद ने तय की है, उन्हीं कारणों से राजनीतिक पटल पर विभिन्न किस्म की मूलतत्ववादी और नवफासीवादी प्रवृत्तियों का भी आधार मजबूत हुआ है। व्यवस्था के जिन संकटों-आवश्यकताओं ने केन्द्र में एक धार्मिक कट्टरपंथी फासिस्ट पार्टी के नेतृत्व वाले गठबंधन को सत्तारूढ़ किया है, अब वे ही संकट और वे ही आवश्यकताएं दबाव बना रही हैं कि सत्ता के केन्द्रीकृत निरंकुश रूप को और अधिक चाक-चौबन्द किया जाये और संविधान-समीक्षा का सारा उपक्रम भी इसीलिए किया जा रहा है। दोनों सदनों में अपेक्षित बहुमत के अभाव में भाजपा यदि इस बार यह काम नहीं भी कर सकी तो फासिस्टी प्रचार के हथकण्डों से सर्वसत्तावादी शासन के पक्ष में हवा बनाने का काम तो वह करेगी ही और ऐसा करके वह अपना दलगत हित भी साधेगी और बुर्जुआ वर्ग का भी हित साधेगी।

इस बार सत्तारूढ़ होने के समय से ही वाजपेयी सरकार लगातार सख्त आर्थिक कदम उठाने की बात करती रही है। **'दायित्वबोध'** के पिछले अंक के सम्पादकीय में हमने तफसील के साथ यह चर्चा की है कि वाजपेयी सरकार ने किसतरह एक माह के भीतर उतने अहम आर्थिक फैसले लिये जितने कि राव सरकार ने पांच वर्षों के भीतर नहीं लिये। जाहिर है कि वाजपेयी सरकार के जिन सख्त आर्थिक कदमों की भारतीय पूंजीपति और पश्चिमी साम्राज्यवादी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं, वे जनता के लिए ही ''सख्त'' हैं। और तब, यह भी स्वाभाविक है कि व्यापक जनता इन कदमों का विरोध भी करे। यह अनायास नहीं कि नई सदी की शुरुआत

भारत में मजदूरों-कर्मचारियों के व्यापक आन्दोलनों से हुई है। बैंक-बीमा कर्मियों के बाद गोदी मजदूरों, उ.प्र. के बिजली मजदूरों, राजस्थान के राज्य कर्मचारियों की हड़तालें—और यह सिलसिला अभी भी जारी है। यह सही है कि मूलत: नई आर्थिक नीतियों के विरुद्ध होते हुए भी ये संघर्ष एकताबद्ध और आवेगवान नहीं है। मजदूर नेताओं ने दशकों पहले दलिया के कटोरे के लिए मजदूर वर्ग के राजनीतिक अधिकारों एवं लक्ष्य के संघर्ष को तिलांजलि दे दी और अब मजदूर आर्थिक लड़ाई भी लड़ने में अपने को अक्षम पा रहे हैं। इस बुरी स्थिति के बावजूद, सरकार यह स्पष्ट महसूस कर रही है कि सरकार के फैसले बड़े पैमाने पर, मेहनतकश आबादी पर जो कहर ढायेंगे, उनकी प्रतिक्रिया लाजिमी है। इसलिए ''सख्त आर्थिक कदमों'' के बाद ''सख्त राजनीतिक कदमों'' के लिए भी तैयार रहना होगा, यह सत्ताधारियों के सामने स्पष्ट है। इसीलिए नई श्रम नीति बन रही है, नई उद्योग नीति बन रही है और अब इसीलिए संविधान-समीक्षा के उपक्रम किये जा रहे हैं। **सरकार का लक्ष्य है, एक लम्बी प्रक्रिया में ऐसा माहौल तैयार करना जो सर्वसत्तावादी निरंकुश सत्ता को संविधान-सम्मत बनाने के अनुकूल हो।**

निश्चित तौर पर, यह स्थिति भाजपा जैसी फासीवादी चरित्र की पार्टी के लिए भी काफी मनमुआफिक है। पर **अभी इस सवाल पर शासक वर्ग विभाजित भी है।** शासक वर्ग का एक बड़ा हिस्सा अभी भी यह सोचता है कि संविधान के मौजूदा ढांचे के लचीलेपन और संशोधनों की अपरम्पार गुंजाइशों का भरपूर लाभ उठाकर अधिकतम सम्भव सीमा तक काम चलाते रहा जाये। राष्ट्रपति की चेतावनी से लेकर विपक्षी बुर्जुआ दलों के विरोध तक में ये विचार अलग-अलग ढंग से प्रतिध्वनित होते दीख रहे हैं (राष्ट्रपति ने पचासवें गणतंत्र दिवस पर ही ये विचार प्रकट किये थे कि कमी संविधान में नहीं बल्कि उसे लागू करने वालों में हैं)।

राष्ट्रपति जी काफी विद्वान हैं और दूरदर्शी भी! इस बार पचासवें गणतंत्र दिवस की पूर्वसंध्या पर राष्ट्र के नाम अपने पारम्परिक सम्बोधन में उन्होंने सरकार चलाने वालों को साफ शब्दों में आगाह किया, **''लम्बे समय से कष्ट उठा रहे लोगों का धीरज चुक रहा है, उनके गुस्से के विस्फोट से सावधान हो जायें।''** उन्होंने कहा कि निर्बाध उपभोक्तावाद आम लोगों में निराशा और तनाव पैदा कर रहा है और समाज में हिंसा के विस्फोट की जमीन तैयार हो रही है। इसलिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि **निजीकरण, उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की ''थ्री वे फास्ट लेन'' पर आम भारतीय के सुरक्षित पार करने की पैदल पट्टी जरूर होनी चाहिए।** राष्ट्रपति जी की यह सदिच्छा इस व्यवस्था के सेहत के लिए काफी मुफीद हो सकती थी, पर अफसोस! पूंजी की गति इस मामले में अंधी होती है। निजीकरण-उदारीकरण का तर्क बाध्य करता है कि सभी कल्याणकारी योजनाओं को आज नहीं तो कल पूरीतरह रद्द कर दिया जाये और सब कुछ बाजार के हवाले कर दिया जाये।

भारत जैसे देश की कोई भी बुर्जुआ सरकार राष्ट्रपति की चेतावनी के मद्देनजर सिर्फ यही कर सकती है कि जनाक्रोश के हर विस्फोट से निपटने के लिए अपने को तैयार करे और हर तरह के हरबे-हथियारों से लैस हो जाये। भाजपा की हुकूमत इसी कार्यभार को पूरा कर रही है।

वैसे भी भारत को **''सख्त राज्य''** बनाना संघ परिवार के सर्वसत्तावादी साम्प्रदायिक फासीवादी एजेण्डे का एक पुराना मुद्दा रहा है। भारतीय राज्य को **''नरम राज्य''** दो अर्थ-सन्दर्भों में कहा जाता रहा है। **गुन्नार मिर्डल** ने भूमि सुधारों को लागू करने में पुराने भूस्वामियों के आगे घुटने टेकने के चलते यह संज्ञा दी थी। मार्क्सवादी इसे साम्राज्यवाद के प्रति समझौतापरस्ती के रवैये के चलते भी नरम राज्य कहते रहे हैं और इस नाते भी कि बहुराष्ट्रीय संघीय ढांचा होने के चलते कठिन संकटों के विस्फोटों के चलते इसके बिखरने की सम्भावना भी मौजूद रही है। इन अर्थ-सन्दर्भों में, खासकर बुर्जुआ भूमि सुधार और साम्राज्यवाद के साथ सम्बन्ध के सन्दर्भों में तो भारतीय राज्य आज भी ''नरम'' है।

पर रज्जू भइया और गृह मंत्री आडवाणी एकदम अलग सन्दर्भों में भारतीय राज्य को इसकी ''नरमी'' के लिए कोस रहे हैं और ''सख्त राज्य'' की जरूरत पर बल देते हैं। विमान अपहरण प्रकरण पर हिन्दुओं को ''कायर'' कहते हुए रज्जु भइया ने जब नरम राज्य होने के लिए कोसा तो साम्प्रदायिक फासीवादी एजेण्डे को आगे बढ़ाने के साथ ही वे पाकिस्तान व अन्य पड़ोसियों के सन्दर्भ में भारतीय पूंजीपति वर्ग की क्षेत्रीय विस्तारवादी आकांक्षा को भी आक्रामक अभिव्यक्ति दे रहे थे और आतंकवाद के विरुद्ध सख्ती से कदम उठाने पर बल दे रहे थे और हम सभी जानते हैं कि सरकार की नजरों में सत्ता का हर क्रान्तिकारी विरोध को आतंकवाद की श्रेणी में ही आता है। **''सख्त राज्य'' की आड़ में अघोषित भगवा इमर्जेंसी की जो सोच है, उसके निशाने पर, जाहिरा तौर पर अल्पसंख्यकों के अतिरिक्त क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट, दलित और प्रगतिशील बुद्धिजीवी ही सबसे पहले होंगे। पर यह अघोषित भगवा इमर्जेंसी भारतीय पूंजीपति वर्ग का लक्ष्य नहीं है। वह बहुत चतुराई से हिन्दूवादी फासीवाद का नियंत्रित इस्तेमाल कर रहा है, जिसमें जाहिरा तौर पर यह खतरा भी निहित है कि यह ''नियंत्रित इस्तेमाल'' अनियंत्रित हो जाये।**

जिस संविधान को देश की महज 15 फीसदी कुलीन आबादी के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश संसद की इजाजत से बनाया हो और देश की जनता से जिसके लिए कभी भी स्वीकृति न ली गई हो, उस संविधान को हम भी खारिज करते हैं। पर इसका विकल्प संविधान-समीक्षा की कमेटी बनाना नहीं, बल्कि नये सिरे से, सार्विक मताधिकार के आधार पर एक नये संविधान के निर्माण के लिए नई संविधान सभा बुलाने के वैकल्पिक नारे के तहत जनता को जागृत और संगठित करना होगा।

बहरहाल, आडवाणी जब आतंकवाद को कुचलने की बात करते हैं तो उनका मतलब रणवीर सेना, शिवसेना बजरंग दल आदि से कदापि नहीं होता। उनका मतलब सिर्फ पाकिस्तान पोषित आतंकवादियों से भी नहीं होता। उनका मतलब कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत के उन तमाम जनान्दोलनों से होता है जो राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग करते रहे है। उनका मतलब ''नक्सलवादी'' कहलाने वाले उन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से होता है, जिन्हें लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ा खतरा बताते हुए कुचल देने का संकल्प वे हैदराबाद में लेने के बाद कई बार दुहरा चुके हैं और संसद में भी कह चुके हैं कि पंजाब के आतंकवाद की तरह ही नक्सलवादी हिंसा से भी निपटा जायेगा। यहां आडवाणी यह भूल जाते हैं कि ''नक्सलवाद'' को बहुतेरे बुर्जुआ नेता और बुद्धिजीवी देश की आर्थिक-सामाजिक स्थिति की उपज मानते रहे हैं और जे.पी. तक उन्हें देशभक्त की संज्ञा दे चुके हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि पंजाब के आतंकवाद के चढ़ाव से उतार तक की यात्रा एक दशक लम्बी रही, जबकि बेमिसाल दमन के बावजूद, तीन दशकों से भी अधिक समय से ''नक्सलवाद'' की राजनीतिक परिघटना अमिट है और लाख प्रचार के बावजूद मध्यवर्ग से बाहर बहुसंख्यक गरीब आबादी में इस धारा के वामपंथियों की छवि आतंकवादी की नहीं बनाई जा सकी है।

पिछले तीन दशकों के भीतर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा के दसियों हजार कार्यकर्ताओं की पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा हत्या की जा चुकी है। सिर्फ पिछले एक वर्ष के दौरान विभिन्न मा-ले. संगठनों के लगभग एक हजार कार्यकर्ताओं की हत्या की गई। पहले मारे जाने वालों में किसान-मजदूर कार्यकर्ताओं-संगठनकर्ताओं की संख्या अधिक होती थी। अब इनमें डाक्टर, शिक्षक, कलाकार, पत्रकार, मानवाधिकार कर्मी और महिला कार्यकर्ता भी भारी संख्या में शामिल हैं। ''नक्सली हिंसा'' से निपटने के इस तरीके पर केन्द्र की भाजपा सरकार के साथ चन्द्रबाबू नायडू की ही नहीं, बल्कि दिग्विजय सिंह और लालू की सरकार की भी पूर्ण सहमति है।

केवल भाजपा ही नहीं, सभी बुर्जुआ पार्टियां भविष्य के उस खतरे को देख रही हैं, जब उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के विरुद्ध व्यापक जनाक्रोश फूटकर ऐसी शक्ल अख्तियार कर ले, जिसके प्रति राष्ट्रपति ने आगाह किया है। वे भली भांति जानती हैं कि अभी जो राज्य सिर्फ नक्सलियों के प्रति 'सख्त राज्य' या 'पुलिस राज्य' है, उसे व्यापक जनान्दोलनों के प्रति भी वैसा ही होना पड़ेगा। **वे यह भी जानती हैं कि क्रान्तिकारी वामपंथी राजनीति सम्भावित विस्फोट के भावी दिनों में व्यापक जनाधार को हासिल करके अदम्य बन सकती है। इसीलिए वे सख्त राज्य की सख्त जरूरत पर जोर दे रहे हैं और इसतरह का माहौल तैयार कर रहे हैं। संविधान-समीक्षा की सारी कवायद को भी इसी सम्बन्ध में देखा जाना चाहिए।**

यह पूरी स्थिति एक बार फिर क्रान्तिकारी वामपंथी शक्तियों के ऊपर एक फौरी दबाव बना रही है कि वे दूरगामी एकता के प्रयासों को जारी रखते हुए, कम से कम फासिस्ट निरंकुश सत्ता के आसन्न खतरे के विरुद्ध फौरी तौर पर मोर्चाबद्ध होने के लिए तैयार हों। आपातकाल (1975-77) के दौरान वे चूक गये थे और उसकी पूरी कीमत उन्होंने चुकाई थी। **इस बार चूकना और अधिक नुकसानदेह होगा।**

यह पूरी स्थिति एक बार फिर क्रान्तिकारी वामपंथी शक्तियों के ऊपर एक फौरी दबाव बना रही है कि वे दूरगामी एकता के प्रयासों को जारी रखते हुए, कम से कम फासिस्ट निरंकुश सत्ता के आसन्न खतरे के विरुद्ध फौरी तौर पर मोर्चाबद्ध होने के लिए तैयार हों। आपातकाल के दौरान वे चूक गये थे और उसकी पूरी कीमत उन्होंने चुकाई थी। इस बार चूकना और अधिक नुकसानदेह होगा।

दूसरे, जनवादी अधिकार आन्दोलन, जो 1977 से यहां तक आते-आते अपना आवेग और ऊष्मा खोता जा रहा है, उसे व्यापक जनाधार देते हुए फिर से गतिमान करने का, अनुष्ठानिक कार्रवाइयों से बाहर खींच निकाल कर ऊर्जस्वी आन्दोलनात्मक स्वरूप देने के लिए सही-सार्थक पहलकदमी का यही समय है। **इसे गंवाना नहीं होगा।**

संविधान-समीक्षा की आड़ में भाजपा जो फासिस्ट कुचक्र रच रही है और सर्वसत्तावादी निरंकुश दमनतंत्र के लिए जो आधार तैयार कर रही है, उसका पर्दाफाश करना होगा। पर भाजपाई षड्यंत्र का विरोध करने के लिए ''संवैधानिक'' वामपंथी बन जाना, वर्तमान संविधान का प्रहरी बन जाना और इसे जनवादी संविधान के मानक के रूप में प्रस्तुत करने लगना शर्मनाक है—जैसा कि संसदीय वामपंथी कर रहे हैं।

जनपक्षधर शक्तियों को अपना वैकल्पिक कार्यक्रम देना होगा। जिस संविधान को देश की महज 15 फीसदी कुलीन आबादी के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश संसद की इजाजत से बनाया हो और देश की जनता से जिसके लिए कभी भी स्वीकृति न ली गई हो, उस संविधान को हम भी खारिज करते हैं और पूरीतरह खारिज करते हैं। पर इसका विकल्प संविधान-समीक्षा की कमेटी बनाना नहीं, बल्कि **नये सिरे से, सार्विक मताधिकार के आधार पर एक नई संविधान सभा का चुनाव ही हो सकता है। एक सच्चे, जनवादी संविधान के निर्माण के लिए नई संविधान सभा बुलाने के वैकल्पिक नारे के तहत जनता को जागृत और संगठित करना होगा।**

संविधान को शासक वर्ग की सत्तारूढ़ पार्टी अपने लिए आज बेकार समझ रही है। लेकिन व्यापक जनता के लिए तो यह कभी भी काम का नहीं था। जनता तो बिना समीक्षा के ही इस संविधान को, अपने अनुभव के आधार पर खारिज कर सकती है। इसे सिर्फ इसी आधार पर खारिज किया जा सकता है कि इसे जन-प्रतिनिधियों ने न तो बनाया, न ही पारित किया। अत: नई संविधान सभा बुलाने की मांग एकजुट होकर भला क्यों न उठाई जानी चाहिए? ●

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन की 152वीं वर्षगांठ पर

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में

अंतोनियो लाब्रियोला

रोम विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर अंतोनियो लाब्रियोला (1843-1904) ने इटली में मार्क्सवाद का प्रचार-प्रसार करने में वही भूमिका निभाई जो रूस में प्लेखानोव की रही। वह समाजवाद की ओर 1885 में आकृष्ट हुए, उन्होंने 1889 में इटली में पहली बार मार्क्सवाद पर व्याख्यान दिये, 1890 में उन्होंने फ्रेडरिक एंगेल्स के साथ पत्र व्यवहार शुरू किया और इटली में मजदूर पार्टी बनाने के लिए काम किया।

बाद में वह भी प्लेखानोव की तरह मार्क्सवाद से भटक गए थे और क्रान्तिकारी संघाधिपत्यवाद के करीब चले गये थे जिसकी लेनिन ने ''वाम पक्ष से संशोधनवाद'' कहकर आलोचना की थी। लेकिन मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार में उनका महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान समाजवाद की समृद्ध विरासत का हिस्सा है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र का इटली में पहला अनुवाद करने वाले लाब्रियोला ने अपना प्रसिद्ध लेख 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में' 1895 में लिखा था, जिसे हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

तीन साल के अन्दर हम अपनी स्वर्ण जयन्ती मना सकते हैं। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के प्रकाशन की स्मरणीय तिथि (फरवरी 1848) इतिहास में हमारे प्रथम निर्विवाद प्रवेश को चिन्हित करती है। पिछले पचास वर्षों में हमारे सारे फैसले और सर्वहारा वर्ग द्वारा की गई प्रगति पर हमारी सारी शुभकामनाएं इसी तिथि से संदर्भित हैं। यह तिथि एक नये युग का उदय चिन्हित करती है। यह युग मौजूदा युग से ही उदित हो रहा है, या यूं कहें कि स्वयं को उससे पृथक कर रहा है। यह अपनी एक खास प्रक्रिया में विकसित हो रहा है और इसका आना एक तरह से अनिवार्य और अपरिहार्य है, भले ही इसमें अभी ऐसी कितनी ही जटिलताएं और क्रमिक दौर आने शेष हों, जिनका कोई पूर्वाभास तक हमें नहीं है।

हमारी कतारों में मौजूद उन सभी लोगों को, जिन्हें अपने काम की एक बेहतर समझ हासिल करने की इच्छा है, या जिन्हें ऐसा कर पाने का अवसर उपलब्ध है, उन कारणों और शक्तियों को जरूर ही ध्यान में रखना चाहिए, जिन्होंने *घोषणापत्र* की उत्पत्ति को सुनिश्चित किया और साथ ही उन परिस्थितियों को भी जो उस क्रान्ति की पूर्ववेला में उदित हुई थीं, जो पेरिस से वियना तक और पालेरमो से बर्लिन तक फूट पड़ी थी। सिर्फ यही वह तरीका है जिसके जरिए हम मौजूदा सामाजिक स्वरूप के भीतर समाजवाद के प्रति दिखाई दे रहे रुझान की व्याख्या कर सकते हैं और इसकी मौजूदा जरूरत के जरिए इसकी विजय की अपरिहार्यता प्रदर्शित कर सकते हैं।

दरअसल क्या यही *घोषणापत्र* का जीवन्त अंग, उसकी अन्तर्वस्तु और उसका खासमखास किरदार नहीं है?

यदि हम इसके दूसरे अध्याय के अन्त में सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी सफलता की आसन्नता को लेकर सुझाये गये और प्रस्तावित उपायों को, या फिर चौथे अध्याय में उस युग की अन्य क्रान्तिकारी पार्टियों के साथ इसके राजनीतिक सम्बन्धों को लेकर दिये गये संकेतों को इसके मूलभूत अंग मान बैठते हैं तो यह निश्चय ही एक गलत रास्ता पकड़ना होगा। ये संकेत और ये उपाय 1848 और 1850 के बीच की क्रान्तिकारी अवधि में जर्मन कम्युनिस्टों की राजनीतिक गतिविधि का एक सटीक मूल्यांकन करने की दृष्टि से ध्यान में रखे ही जाने चाहिए और वहां इन्हें ध्यान में रखना निहायत जरूरी भी है लेकिन उसके बाद से ये हमारे लिए ऐसे व्यावहारिक फैसले नहीं हैं, जिनके पक्ष या विपक्ष में खड़े होना हर आसन्न स्थिति में हमारे लिए जरूरी हो। इंटरनेशनल की स्थापना के बाद से सर्वहारा के नाम पर विविध देशों में जिन पार्टियों ने अपने पांव जमाये हैं, और जो स्पष्ट रूप से इस वर्ग को ही अपना आधार मान कर चल रही हैं, उन्होंने अपनी उत्पत्ति और विकास के अनुपात में ही इस बात की पुरजोर जरूरत महसूस की है और कर रही हैं कि वे अपने कार्यक्रम और गतिविधि को उन परिस्थितियों के अनुरूप ढालें, जो हर जगह भिन्न और बहुरूपी किस्म की है। लेकिन इनमें से एक भी पार्टी ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को इतने करीब महसूस नहीं किया है कि *घोषणापत्र* में प्रस्तावित कदमों की नए सिरे से जांच करने और इन पर कोई फैसला सुनाने की जरूरत या इच्छा या यहां तक कि इस किस्म के किसी लोभ का भी अनुभव करे। दरअसल इतिहास स्वयं जो अनुभव कराता है, उसे छोड़कर किसी भी ऐतिहासिक अनुभव का अस्तित्व नहीं होता। इनके विषय में किसी भी किस्म की भविष्यवाणी करना उसी तरह असम्भव है, जैसे पहले से ही उन्हें नियोजित करना अथवा उन्हें कोई तरतीब देना। कम्यून के दौर में, जो आज के दिन तक सर्वहारा वर्ग द्वारा राज्यसत्ता पर नियंत्रण करने की एकमात्र (यद्यपि अपने अचानक और संक्षिप्त अवधि वाले चरित्र के कारण आंशिक और दिग्भ्रमित) कार्रवाई है, ठीक यही हुआ था। यह अनुभव भी न तो वांछित था और न ही इसके लिए कोई विशेष प्रयास किया गया था। इसके बजाय स्वयं परिस्थितियों ने ही इसे थोप दिया था। इसे नायकत्वपूर्ण ढंग से अंजाम तक पहुंचाया गया और हमारे लिए आज यह एक अभिनंदनीय पाठ बन चुका है। जिन देशों में समाजवादी आन्दोलन

अभी अपने शुरुआती दौर में ही है—जैसे इटली में—वहां प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव की कमी के चलते *घोषणापत्र* के किसी पाठ को इस तरह प्राधिकारपूर्ण ढंग से लेने की अपील की जा सकती है, गोया यह कोई धार्मिक हुक्मनामा हो, लेकिन असलियत में ये अंश कोई महत्व नहीं रखते।

फिर, मुझे पूरा यकीन है कि *घोषणापत्र* का हृदयस्थल, इसकी अन्तर्वस्तु, इसका विशिष्ट चरित्र हमें इसकी उन बातों में भी नहीं खोजना चाहिए, जिन्हें यह *साहित्य* शीर्षक के तहत समाजवाद के अन्य रूपों के बारे में कहता है। समूचा तीसरा अध्याय निस्सन्देह बहिष्करण और प्रतिवाद के जरिए, संक्षिप्त लेकिन ऊर्जस्वी चरित्रांकनों के जरिए उन अन्तरों को स्पष्ट कर देता है, जो आज सामान्यत: वैज्ञानिक कम्युनिज्म के रूप में चिन्हित कम्युनिज्म—एक ऐसी अभिव्यक्ति, जिसका इस्तेमाल कभी-कभी गलत और अन्तरविरोधी रूप में भी किया जाता है—या उस कम्युनिज्म को, जिसमें सर्वहारा वर्ग को मुख्य कर्ता माना जाता है और जिसकी कथावस्तु सर्वहारा क्रान्ति हुआ करती है, और समाजवाद के बाकी रूपों; प्रतिक्रियावादी, पूंजीवादी, अर्द्ध-पूंजीवादी, निम्न-पूंजीवादी, काल्पनिक आदि रूपों के बीच मौजूद हैं। इनमें से एक[1] के अलावा बाकी सभी अपनी पुनराभिव्यक्ति और पुनर्नवीकरण कर चुके हैं। जिन देशों में आधुनिक सर्वहारा आन्दोलन अभी अपनी नवजात स्थिति में है, वहां ये आज भी नये-नये रूपों में प्रकट हो रहे हैं। इन देशों के लिए और ऐसी परिस्थितियों के तहत *घोषणापत्र* ने समकालीन समालोचना और साहित्यिक सचेतक की भूमिका अदा की है और अब भी कर रहा है। और यदि दूसरे देशों की बात छोड़ भी दें तो जिन देशों में ये रूप पहले ही सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अपनी उम्र पूरी कर चुके हैं, जैसे जर्मनी और आस्ट्रिया में, या फिर जहां यह सिर्फ कुछ थोड़े से लोगों की राय के बतौर जिन्दा हैं, जैसे फ्रांस और इंगलैण्ड में, *घोषणापत्र* ने इस दृष्टि से अपनी एक भूमिका अदा की है। इस तरह यह इतिहास की एक चीज के रूप में एक ऐसे पहलू को दर्ज करता है जिसके बारे में सोचना हमारे लिए अब जरूरी नहीं है क्योंकि हमारा साबका तो सर्वहारा वर्ग की उस गतिविधि से है, जो अपने क्रमिक और स्वाभाविक विकासक्रम में पहले से ही हमारे सामने आ चुकी है।

हमारे लिए यह महत्वपूर्ण था, लेकिन सिर्फ उन व्यक्तियों के दिमागी रुझान को समझने के लिए, जिन्होंने इसे लिखा था। अपनी सोच के बल पर और कुछ बिखरे-बिखरे अनुभवजन्य तथ्यों के जरिए उन्होंने उन घटनाओं का पूर्वानुमान कर लिया था, जो सचमुच में घटीं और उन्होंने उस चीज के विलोप की घोषणा और उसकी भर्त्सना के बाद ही दम लिया, जिसके दायरे से वे कहीं ऊपर उठ चुके थे। उनके कम्युनिज्म का सच्चा नाम आलोचनात्मक कम्युनिज्म है और इस सिद्धान्त का इससे बेहतर नाम और कोई हो भी नहीं सकता। समकालीन समाज की आलोचना करने के लिए पुराने समाज पर अफसोस जताने के सामंतवादियों के रवैये के साथ इसकी कोई साझीदारी नहीं थी। इसकी दृष्टि केवल भविष्य पर गड़ी थी। जो चीज बचाई नहीं जा सकती, उसे बचाने की निम्न पूंजीवादी इच्छा के साथ इसने खुद को नहीं जोड़ा, जैसे छोटी मिल्कियत, जैसे छोटी संपदा के मालिक की शांत जीवन की इच्छा, जिसे मौजूदा समाज के स्वाभाविक अंग और उसकी जरूरत के रूप में उभरा आधुनिक राज्य बर्बाद और उलट-पुलट कर देता है, क्योंकि अपनी सतत क्रान्तियों के जरिए यह स्वयं में कई नई और अधिक मूलभूत क्रान्तियों की जरूरत भी लिए चलता है।

न ही इसने स्वयं को अधिभूतवाद सनकों और रुग्ण भावुकतावाद या धार्मिक साधना में परिणत होने दिया, जो कि रोजमर्रे के जीवन में भौतिकतावादी हितों के वास्तविक प्रतिवादी हैं। इसके विपरीत इसने इन कथित प्रतिवादों को इनके समूचे भोंडे़ यथार्थ की शक्ल में सामने लाकर इनकी बखिया उधेड़ कर रख दी। इसने भविष्य के समाज की ऐसी कोई सुसंगत योजना नहीं गढ़ी, जिसके हर पहलू पर अच्छी तरह सोच-विचार कर लिया गया हो। दार्शनिक मिथकशास्त्र की दोनों देवियों के प्रति, उन दोनों देवियों के प्रति जिनकी रोजमर्रे की व्यावहारिक जिन्दगी में भारी दुर्गति हुआ करती है, यानी न्याय और समानता के प्रति इसमें स्तुति या सम्मोहन के आशय का एक शब्द भी नहीं है। यह बात खासकर तब और भी जायज लगती है, जब हम यह देखते हैं कि बीती कई सदियों का इतिहास हमेशा इन देवियों की निर्मूल सलाहों को दुष्टतापूर्ण ढंग से खंडित करके ही आनन्दित होता रहा है। इस मार्के के कम्युनिस्ट तथ्यों के आधार पर अपनी यह मान्यता घोषित करते हुए भी कि सर्वहारा वर्ग का मिशन पूंजीपति वर्ग की कब्र खोदना है, यह मानते हैं कि पूंजीपति वर्ग एक ऐसे सामाजिक रूप का निर्माता है, जो विस्तार और गहराई दोनों ही दृष्टियों से प्रगति की एक महत्वपूर्ण अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है और केवल यही ऐसे नये संघर्षों के लिए एक मैदान तैयार कर सकता है, जिसमें सर्वहारा वर्ग के लिए भविष्य की खुशियों की सम्भावनाएं मौजूद हैं। अन्तिम संस्कार के समय दिया जाने वाला भाषण कभी भी इतना शानदार नहीं रहा। पूंजीपति वर्ग को सम्बोधित इन प्रशंसाओं में एक किस्म का त्रासद विनोद निहित है—इनकी तुलना प्राचीन बलिपर्व पर गाये जाने वाले रौद्र गीतों के साथ की गई है।

उस समय मौजूद और बाद में भी बार-बार उभरने वाले समाजवाद के अन्य रूपों की नकारात्मक और प्रतिवादी परिभाषाएं यद्यपि मूलत: अपने लक्ष्य और रूप दोनों ही दृष्टियों से आलोचना से परे हैं, इसके बावजूद न तो समाजवाद का वास्तविक इतिहास है और न ही उनका ऐसा कोई दावा है; जो भी ऐसा कोई इतिहास लिखेगा, उसके लिए ये न तो बाह्य रूपरेखा के रूप में और न ही इसकी योजना के रूप में किसी काम की साबित होंगी। यथार्थ में इतिहास सच और झूठ के बीच, उचित और अनुचित के बीच किये जाने वाले फर्क पर ज्यादा निर्भर नहीं करता और इससे भी कम यह सम्भावित और वास्तविक के बीच मौजूद उस अमूर्त टकराव पर निर्भर करता है, जो कुछ इस तरह का होता है, जैसे चीजें एक तरफ हों और दूसरी तरफ हों उनकी परछाइयां और उनकी वैचारिक अभिव्यक्तियां। इतिहास एक समूची चीज है, और यह समाज के निर्माण और उसके परिवर्तन पर निर्भर करता है; और वह भी प्रकटत: एक ऐसे रूप में जो हमारी मर्जी या नामर्जी से पूरी तरह स्वतंत्र और पूरी तरह वस्तुगत होता है। उन प्रत्यक्षवादियों की तरह कभी की छोड़ दी गयी शब्दावली में बोलना, जो इस किस्म की अभिव्यक्तियों की दृष्टि से काफी नर्मोनाजुक होते हैं, एक विशिष्ट वर्ग के गतिविज्ञान का एक अंग है। इसके लिए चिन्तन और व्यवहार के उन विविध समाजवादी रूपों का अध्ययन करना होगा जो सदियों की अवधि में उदित और अस्त हुए हैं, और जो अपने लक्ष्यों, पहलुओं और प्रभावों में इतने भिन्न रहे हैं, और इसके साथ ही इनकी व्याख्या सामाजिक जीवन की उन विशिष्ट और जटिल परिस्थितियों के जरिए करनी होगी जिनमें ये उत्पन्न हुए। गहरी जांच पड़ताल से यह दिखाई देता है कि वे मिलकर सतत प्रक्रिया के एक समग्र का निर्माण नहीं करते क्योंकि यह श्रृंखला सामाजिक ताने-बाने में आने वाले परिवर्तनों और एक परम्परा के ही विलोप के चलते बार-बार टूट जाती है। केवल फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद ही समाजवाद प्रक्रिया की एक निश्चित एकता प्रदर्शित करता है, जो 1838 के बाद से यानी फ्रांस और इंगलैण्ड में पूंजीपति वर्ग की

सुनिश्चित राजनीतिक सर्वोच्चता के बाद से एक आमफहम बात और अंततः इण्टरनेशनल की स्थापना के बाद से तो छू सकी जा सकने वाली चीज बन जाती है। इस सड़क पर *घोषणापत्र* एक विराट मार्गदर्शक चौकी की तरह खड़ा है और इस पर एक दोहरी इबारत लिखी है : एक तरफ है उस नए सिद्धान्त का शुरुआती खाका, जिसका दायरा आज समूची दुनिया तक फैल गया है; और दूसरी तरफ उन रूपों के साथ इसके सम्बन्धों की परिभाषा, जिन्हें यह बगैर उनका कोई ऐतिहासिक लेखा जोखा दिए बहिष्कृत करता है।

इस पुस्तक का हृदयस्थल, इसकी अंतर्वस्तु, इसका विशिष्ट चरित्र इतिहास की उस नई अवधारणा में निहित है, जो इसमें सर्वत्र छायी हुई है और जिसे इसमें आंशिक रूप से व्याख्यायित और विकसित भी किया गया है। इस अवधारणा की मदद से कम्युनिज्म अब महज एक आशा, एक आकांक्षा, एक स्मृति, एक संयोग, एक आकस्मिकता नहीं रह गया, बल्कि पहली बार इसने अपनी आवश्यकता के बोध के रूप में, या यूं कहें कि इस बोध के रूप में कि यह मौजूदा वर्गों के बीच के संघर्ष की उपज और उसका समाधान है, अपनी एक उचित अभिव्यक्ति हासिल की। देशकाल के अनुसार इन संघर्षों में भिन्नता रही है और इतिहास इन्हीं के जरिए विकसित हुआ है; लेकिन ये सारे के सारे हमारे अपने जमाने में आकर पूंजीपति वर्ग और उन कामगारों के बीच के संघर्ष में समाहित हो गये हैं, जो स्वयं अपरिहार्य रूप से सर्वहारा वर्ग की कतारों में शामिल हो जाने के लिए बाध्य हो गये हैं। *घोषणापत्र* इस संघर्ष की उत्पत्ति प्रक्रिया के बारे में बताता है, इसकी क्रान्तिकारी लय का ब्यौरा देता है, और इसके अन्तिम परिणाम की घोषणा करता है।

इतिहास की उसी अवधारणा में वैज्ञानिक समाजवाद का समूचा सिद्धान्त निहित है। इसी क्षण के बाद से समाजवाद विरोधियों के पास उत्पादन साधनों के लोकतांत्रिक समाजीकरण की उस अमूर्त सम्भावना की चर्चा करने का कोई मौका शेष नहीं रह गया, जिसके बारे में अपना फैसला वे तथाकथित मानव प्रकृति के सामान्य और व्यापक रुझान पर आधारित अटकलों के जरिए दिया करते थे।[2] इसके बाद से सवाल मानवीय घटनाओं के क्रम में सिर्फ उस जरूरत को मानने या न मानने का रह गया, जो हमारी संवेदना अथवा हमारी वैयक्तिक सहमति से कहीं ऊपर हुआ करती है। सभ्यता की दृष्टि से सर्वाधिक विकसित देशों में समाज इस रूप में संगठित है या नहीं, कि उसका मौजूदा आर्थिक ढांचा और उसके द्वारा पैदा हो रहे तनाव अब इसके विघटन और समाधान के जरिए ही समाप्त हो सकते हैं? इस सिद्धान्त के आगमन के बाद से चर्चा का विषय यही बना हुआ है और इसी के चलते पैदा हुआ है व्यवहार का वह नियम, जो स्वयं को समाजवादी पार्टियों के कामकाज पर लागू करता है, भले ही वे केवल सर्वहारा को लेकर गठित हों या उनकी कतारों में ऐसे लोग भी हों, जो अन्य वर्गों से आए हों लेकिन जो स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं के रूप में सर्वहारा की फौज में शामिल हो गये हों। यही वजह है कि हम वैज्ञानिक उपशीर्षक को स्वीकार करते हैं, बशर्ते हम अपना घालमेल प्रत्यक्षवादियों के साथ न कर लें, जो कभी-कभी मान न मान मैं तेरा मेहमान की तरह हमारे खेमे में घुस आते हैं और जो यह मानकर चलते हैं कि विज्ञान की इजारेदारी तो उनके ही पास है; हम अपने सिद्धान्त को वकीलों और सोफिस्टों की तरह किसी अमूर्त और पंथक सिद्धान्त की तरह पेश नहीं करना चाहते, और अपने लक्ष्यों की तार्किकता और प्रदर्शित करने के लिए हम जमीन-आसमान एक नहीं करते। उस प्रक्रिया की व्याख्या के दौरान, जो हमारे बीच और हमारे विषय में आकार ग्रहण कर रही है और जिसका समूचा अस्तित्व ही उस सामाजिक जीवन में निहित है, जिसके हम कर्ता और कर्म, कारण और प्रभाव दोनों ही हैं, सामने आ रहे तथ्यों की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति और व्यावहारिक व्याख्या का भरपूर इरादा रखते हैं। हमारे लक्ष्य तार्किक इसलिए नहीं हैं कि वे चीजों के वस्तुगत अध्ययन से निकले हुए हैं बल्कि वे ऐसे इसलिए हैं क्योंकि वे उनकी उस प्रक्रिया की व्याख्या से उपजे हैं जो न तो हमारी इच्छा का परिणाम है और न हो सकती है, बल्कि इसके विपरीत जो हमारी इच्छा पर विजय हासिल करती है और इसे अपने अधीन बना लेती है।

स्वयं *घोषणापत्र* के लेखकों का भी कोई पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती काम न तो *घोषणापत्र* की जगह ले सकता और न ही इतनी सामर्थ्य हासिल कर सकता है, यद्यपि इन कामों का रुझान *घोषणापत्र* की तुलना में कहीं ज्यादा वैज्ञानिक जरूर हो सकता है। यह हमें अपनी क्लासिकीय सरलता के साथ इस स्थिति की सच्ची अभिव्यक्ति देता है; आधुनिक सर्वहारा वर्ग अस्तित्वमान होता है, अपना नजरिया चुनता है और समकालीन इतिहास में एक ठोस कर्ता की तरह, एक ऐसी सकारात्मक शक्ति की तरह बढ़ता और विकसित होता है जिसकी अनिवार्यतः क्रान्तिकारी कार्रवाई अपनी अनिवार्य परिणति कम्युनिज्म में ही प्राप्त होगी। और यही वजह है कि यह काम अपनी भविष्यवाणी को सैद्धान्तिक आधार देते हुए और संक्षिप्त, तीव्र और सटीक सूत्रों के रूप में इसको अभिव्यक्त करते हुए एक ऐसे भंडार-गृह का, या यूं कहें कि एक ऐसी अक्षय खदान का निर्माण करता है, जिसमें भ्रूणरूपी विचार भरे पड़े हैं और जिन्हें इसका पाठक विकसित और अंतहीन रूप में बहुगुणित कर सकता है; यह उस चीज की समूची मौलिक और मूलाधार शक्तियों को खुद में समेटे हुए है जो अभी हाल ही में पैदा हुई है और जिसने अभी अपना उत्पादन क्षेत्र छोड़ा नहीं है। इस प्रेक्षण के जरिए इरादा उन लोगों को सम्बोधित करने का है जो कपटी, ठग या मिठबोले कलाविलासी नहीं हैं, इसके बावजूद आलोचनात्मक कम्युनिज्म के प्रति एक विद्वतापूर्ण अनभिज्ञता का प्रयोग करते हुए इसके व्याख्याता, अभिभावक, सहकर्मी और हर दर्जे के मास्टर आदि बने रहते हैं, और ऐसा करते हुए सामान्यबोध और सर्वाधिक भोंड़े कालक्रम तक का खयाल नहीं रखते। या फिर वे हमारे भौतिकवादी इतिहासबोध को सार्वभौमिक उद्‌विकास के सिद्धान्त में वापस लौटा लाने की कोशिश करते हैं, जो बहुत सारे लोगों के दिमाग के लिए एक नये अधिभूतवाद का ही एक नया रूपक भर है। या फिर यह कि वे इस सिद्धान्त में डार्विनवाद की कोई व्युत्पत्ति खोजने की कोशिश करते हैं जो सिर्फ कुछेक दृष्टिबिन्दुओं से और मोटे तौर पर ही इसके साथ मिलती जुलती चीज है; या यह कि वे हमें उस प्रत्यक्षवादी दर्शन का सहयोग और उसका अभिभावकतत्व प्रदान करने की कृपा करते हैं जो काम्टे से, मेधावी सेंट साइमन के उस पतित और प्रतिक्रियावादी शिष्य से लेकर स्पेंसर तक, अराजकतावादी पूंजीवाद की उस आत्मिक अभिव्यक्ति तक फैला हुआ है, यानी कहने का मतलब यह कि वे हमारे सर्वाधिक प्रकट प्रतिपक्षियों को ही हमारे सहयोगी के रूप में सौंपने की इच्छा रखते हैं।

इस पुस्तक की उर्वरा शक्ति, इसकी शास्त्रीय ताकत और साथ ही इस तथ्य की वजह भी कि इतनी विचार श्रृंखलाओं और विचार समूहों का संश्लेषण इतने थोड़े से पृष्ठों में समाहित हो गया है, स्वयं इसकी उत्पत्ति में ही निहित है।[3]

यह दो जर्मनों द्वारा किया हुआ काम है लेकिन अपने रूप और आधार दोनों ही में यह उनकी व्यक्तिगत राय की अभिव्यक्ति नहीं है। इसमें उन अमंगल प्रार्थनाओं, उन उलझनों, उन कड़वाहटों का कोई चिन्ह तक नहीं है जो उन राजनीतिक शरणार्थियों में आमतौर पर पाई जाती

हैं, जिन्होंने मुक्त हवा में सांस लेने के लिए स्वैच्छिक रूप से अपना देश छोड़ा होता है। न ही इसमें कहीं भी हम उनके अपने देश की परिस्थितियों का कोई प्रत्यक्ष ब्योरा पाते हैं, जो उस समय एक निन्दनीय राजनीतिक अवस्था में था और सामाजिक और आर्थिक रूप से जिसकी तुलना फ्रांस और इंगलैण्ड के साथ उनके कुछेक पिछड़े इलाकों के अलावा सामान्यत: की ही नहीं जा सकती थी। इसके ठीक विपरीत अपनी इस पुस्तक में वे उस दार्शनिक चिंतन को ले आए, जो उनके देश को समकालीन इतिहास के स्तर तक ले आता था : वह दार्शनिक चिन्तन, जो उनके हाथों में पहुंचकर उस महत्वपूर्ण रूपान्तरण से गुजर रहा था, जिसने फायरबाख के हाथों नवीकृत भौतिकवाद को द्वंद्ववाद के साथ जुड़ने के काबिल बना दिया था, इतिहास की गति के उन सर्वाधिक गोपन और अनखोजे कारणों के साथ जुड़ने और उसे समझने के काबिल बना दिया था, जो अभी तक अनखोजे थे, तो सिर्फ इसलिए क्योंकि वे छिपे हुए थे और उन्हें देख पाना कठिन था। दोनों ही कम्युनिस्ट और क्रान्तिकारी थे लेकिन ऐसे वे न तो सहजबोध के चलते थे, न कि किसी आवेग के अथवा किसी भावावेश के चलते। आर्थिक विज्ञान की उन्होंने एक सर्वथा नई आलोचना विकसित की थी और उन्होंने इंग्लिश चैनल के दोनों पार मौजूद फ्रांस और इंगलैण्ड के सर्वहारा आन्दोलन का आपसी सम्बन्ध और ऐतिहासिक अर्थ कम्युनिस्ट लीग के सिद्धान्त और कार्यक्रम की अभिव्यक्ति *घोषणापत्र* में करने के लिए बुलाये जाने के पहले ही समझ लिया था। इस संस्था का केन्द्र लन्दन में था और इसकी शाखाएं महाद्वीप में कई जगहों पर थीं; अपने पीछे यह अपना अलग ही जीवन और विकास लिये हुए थी।

एंगेल्स एक ऐसा आलोचनात्मक निबन्ध पहले ही प्रकाशित कर चुके थे जिसमें सभी किस्म के वैयक्तिक और एकतरफा संशोधनों को फलांगते हुए उन्होंने पहली बार एक वस्तुगत शैली में राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना प्रस्तुत की और इस अर्थशास्त्र की अवधारणा और स्वयं इसके ही आंकड़ों में अन्तर्निहित प्रतिवादों को सतह पर ला दिया। इंगलैण्ड के मजदूर वर्ग की परिस्थिति पर एक पुस्तक के प्रकाशन को लेकर वे पहले ही काफी प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे, जो कि मजूदर वर्ग के आन्दोलनों को उत्पादन की शक्तियों और साधनों के परिणाम के रूप में देखने का पहला प्रयास था।[4] इससे पहले के कुछ वर्षों में मार्क्स जर्मनी, पेरिस और ब्रसेल्स में एक विप्लवी प्रचारक के रूप पहचाने जाने लगे थे। इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा को भ्रूण रूप में वे आत्मसात कर चुके थे। प्रूधों की परिकल्पनाओं और उनके मतवाद की व्युत्पत्तियों की उन्होंने एक विजयपूर्ण आलोचना प्रस्तुत की थी और श्रमशक्ति के क्रय तथा उपयोग की एक परिणति के रूप में बेशी मूल्य की पहली सटीक व्याख्या भी उन्होंने दे दी थी, यानी यह कि जो अवधारणाएं *पूंजी* (कैपिटल) में आपसी सम्पर्कों और ब्योरों के साथ प्रदर्शित और व्याख्यायित की गईं, उन सभी के बीजाणु अब तक आ गये थे। दोनों ही व्यक्ति यूरोप के विभिन्न देशों और खासकर फ्रांस, बेल्जियम और इंगलैण्ड के क्रान्तिवादियों के सम्पर्क में थे; उनका *घोषणापत्र* उनके व्यक्तिगत सिद्धान्त की अभिव्यक्ति नहीं था बल्कि यह उस पार्टी का मतवाद था, जिसकी मूलभावना, लक्ष्य और सक्रियता के जरिए इंटरनेशनल वर्किंगमेन्स एसोसिएशन का निर्माण पहले ही हो चुका था।

ये ही आधुनिक समाजवाद की शुरुआतें हैं। यहीं हमें वह रेखा मिलती है, जो इसे बाकी सभी से अलग करती है।

कम्युनिस्ट लीग का उदय *लीग आफ जस्ट* से हुआ था; जो स्वयं शरणार्थियों, निर्वासितों के समूहों के बीच क्रमिक विशेषज्ञता हासिल करती हुई सर्वहारा लक्ष्यों की एक स्पष्ट चेतना के साथ गठित की गई थी। एक विशिष्ट लाक्षणिक के रूप में, अपने भीतर एक भ्रूण रूप में बाद के सभी समाजवादी और सर्वहारा आन्दोलनों की छाप खुद पर लिये हुए यह षड्यंत्र और सर्वसमतावादी समाजवाद के विभिन्न दौरों से गुजर चुकी थी। ग्रुन के साथ यह अधिभूतवादी और वाइटलिंग के साथ काल्पनिकतावादी (यूटोपियन) रह चुकी थी। इसका प्रधान कार्यालय लंदन में होने के कारण यह चार्टिस्ट आन्दोलन में रुचि रखती थी और उस पर इसका कुछ असर भी था। अपने अव्यवस्थित चरित्र के जरिए यह आन्दोलन यही प्रदर्शित करता था कि एक सर्वहारा राजनीतिक दल का गठन कितना कठिन था क्योंकि न तो यह पहले के सोचे-विचारे अनुभव का परिणाम था, न किसी षड्यंत्र अथवा पंथ का मूर्त रूप। चार्टिस्ट आन्दोलन का अंत निकट आने तक और इसके लगभग खत्म हो जाने तक इसमें समाजवादी प्रवृत्ति जाहिर नहीं हुई थी (यद्यपि जोन्स ओर हॉर्नर को कभी भुलाया नहीं जा सकता) लीग क्रान्ति की गंध को हर तरफ ले गई, ऐसा इस वजह से भी सम्भव हुआ कि यह चीज वैसे भी हर तरफ हवा में फैली हुई थी और इस वजह से भी कि इसकी सहजवृत्ति और आगे बढ़ने का तरीका इसी दिशा की ओर इंगित करता था। और क्रान्ति जितने भी समय तक पूरी तरंग में आगे बढ़ती रही, *घोषणापत्र* के नये मतवाद के बल पर इसके पास दिशा निर्धारण का एक और औजार मौजूद रहा, जो कि इसके साथ ही लड़ाई का एक हथियार भी था। दरअसल अपने सदस्यों की गुणवत्ता और उत्पत्तिगत भिन्नता के चलते और सबसे बढ़कर सभी की सहजवृत्ति और समर्पण के चलते अन्तरराष्ट्रीय तो यह पहले से ही था, अब इसने राजनीतिक जीवन के व्यापक आन्दोलन में अपनी जगह हासिल की और आधुनिक समाजवाद कहे जाने वाले आन्दोलन के सुनिश्चित पूर्ववर्ती के रूप में उभर आया, बशर्ते, आधुनिक से हमारा तात्पर्य सतही कालानुक्रम के सामान्य तथ्य से नहीं बल्कि समाज की जीवन्त आन्तरिक प्रक्रिया के संसूचक से हो।

1852 से 1864 का एक लम्बा हस्तक्षेप राजनीतिक प्रतिक्रिया के उस दौर का है जिसके साथ जुड़ी पुराने समाजवादी खेमों के विलोप, बिखराव और समाहित हो जाने की प्रक्रिया लन्दन के *आरबाइटरबिल्डंग्स्वेराइन* वाले इंटरनेशनल को बाद में सिर्फ इंटरनेशनल के ही नाम से जानी जाने वाली उस संस्था से अलग करता है, और जिसने यूरोप और अमरीका के सर्वहारा की एकता को संघर्ष में बदलने के लिए जी-जान लड़ा दी थी। सर्वहारा वर्ग की सक्रियता में, खासकर फ्रांस में, अन्य तरह के हस्तक्षेप भी देखने को मिले, और जर्मनी के अपवाद को छोड़ दें तो महान स्मृति वाले पुराने इंटरनेशनल के विघटन से लेकर आज भिन्न तरीकों से जारी और भिन्न रास्तों से विकसित होने वाले नये इंटरनेशनल तक, दोनों ही राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप खुद को ढालने में कामयाब रहे और दोनों ने ही प्रत्यक्ष अनुभव पर भरोसा किया। लेकिन दिसम्बर 1847 में जिन लोगों ने नये सिद्धान्त को लेकर बहस की और इसे स्वीकार किया उन्हीं के उत्तराधिकारी महान इंटरनेशनल के सार्वजनिक परिदृश्य में फिर प्रकट हुए और बाद में नये इंटरनेशनल में भी वे मुखर दिखाई दिये। स्वयं *घोषणापत्र* भी थोड़ा-थोड़ा करके फिर-फिर सामने आता रहा है और इसने सभी सभ्य देशों की भाषाओं की यात्रा कर ली, जिसका वादा अपने प्रथम प्रकटीकरण के समय ही इसने किया तो जरूर था, लेकिन जिसे उस वक्त यह पूरा नहीं कर सका था।

वही हमारा सच्चा प्रस्थान बिन्दु था; वही हमारे सच्चे पूर्वज थे। उन्होंने सबसे आगे रहते हुए अपने कदम बढ़ाये, वह भी प्रात:काल में। जिस रास्ते पर हमें चलना था, और जिस पर

यथार्थ में आज हम चल रहे हैं, उस पर उनके कदम तेज थे, साथ ही दृढ़ भी थे। हमें उन लोगों को अपना पूर्वज होने की संज्ञा नहीं देनी चाहिए, जिन लोगों ने ऐसे रास्ते पकड़े जिन्हें बाद में उन्हें छोड़ना पड़ा, न ही उन लोगों को जिनके बारे में यदि सीधे सपाट ढंग से कहें तो जिन्होंने ऐसे मतवाद सूत्रबद्ध किये और ऐसे आंदोलनों की शुरुआत की जो निस्सन्देह अपने जन्म के समय और परिस्थितियों के लिए सर्वथा उपयुक्त थे, लेकिन जो बाद में आलोचनात्मक कम्युनिज्म के मतवाद के जरिए पीछे छोड़ दिये गये, जो कि सर्वहारा क्रान्ति का सिद्धान्त है। इसका मतलब यह नहीं कि वे सिर्फ संयोग आधारित, अनुपयोगी और उथली परिघटनाएं थे। चीजों के ऐतिहासिक विकास क्रम में कुछ भी अतार्किक नहीं होता क्योंकि तर्क के बिना कोई चीज अस्तित्व में नहीं आती और इसलिए उथली जैसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं होता। इन मतवादों की तह में मानसिक रूप से गये बगैर और इनके उद्भव और विलोप की प्रक्रियाओं को जाने बगैर आज भी हम आलोचनात्मक कम्युनिज्म की पूरी समझ तक नहीं पहुंच सकते। दरअसल न सिर्फ ये सारे मतवाद कालातीत हो चुके हैं बल्कि सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव के तर्क और इनके निर्माण और प्रक्रिया के नियमों की अधिक सटीक समझ के जरिए ये चलन से बाहर कर दिये गये हैं।

अतीत का अंग ये ठीक उसी समय बनते हैं, यानी अंतर्भुक्त रूप से ये ठीक उसी समय छोटे पड़ने लगे हैं, जब *घोषणापत्र* अस्तित्व में आता है। आधुनिक समाजवाद की उत्पत्ति की पहली विषयसूची के रूप में यह रचना, जो अपने शिक्षण का सर्वाधिक सामान्य और सर्वाधिक आसानी से पकड़ में आ सकने वाले मूलबिन्दुओं को प्रस्तुत करती है, अपने ऊपर उस ऐतिहासिक क्षेत्र के चिन्ह भी लिये रहती है, जिसमें इसका जन्म हुआ है, फ्रांस, इंगलैण्ड और जर्मनी का क्षेत्र। इसके बाद से इसके प्रचार और परासरण का दायरा व्यापक से व्यापकतर होता गया है और आज यह समूची सभ्य दुनिया तक फैल गया है। उन सभी देशों में, जहां पूंजीपति और सर्वहारा के बीच के संघर्ष के किसी न किसी पहलू को आधार बनाते हुए कम्युनिज्म का रुझान विकसित हुआ है, इसके निर्माण की प्रक्रिया पूर्णत: या अंशत: दोहराई ही गई है। धीरे-धीरे करके जो सर्वहारा पार्टियां गठित हो रही हैं, उन्हें भी निर्माण की उन मंजिलों से गुजरना पड़ रहा है, जिनसे उनके पूर्ववर्तियों को गुजरना पड़ा था। लेकिन यह प्रक्रिया साल दर साल, एक देश से दूसरे देश तक अधिक पूर्व साक्ष्यों की मौजूदगी के चलते, और साथ ही टकरावों से जुड़ी जरूरतों और उनकी जबर्दस्त ऊर्जा के चलते तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है। इसके अलावा इसकी एक वजह यह भी है कि किसी मतवाद अथवा रुझान को पहली बार निर्मित करना उसे आत्मसात करने की तुलना में कहीं ज्यादा कठिन कार्य होता है। पचास साल पहले के हमारे सहकर्मी भी इस दृष्टि से अन्तरराष्ट्रीय थे क्योंकि अपनी मिसाल के जरिए उन्होंने विभिन्न देशों के सर्वहारा को उस लम्बे कूच की ओर अग्रसर किया, जिस पर उसे अग्रसर होना ही चाहिए। लेकिन आज समाजवाद का सम्पूर्ण सैद्धान्तिक ज्ञान इसकी ऐतिहासिक आवश्यकता की समझदारी में यानी इसकी उत्पत्ति के तरीके की चेतना में निहित है, जैसा कि यह अतीत में भी रहा है और भविष्य में भी रहेगा; और यह बात काफी सटीक तरीके से प्रेक्षण के सीमित क्षेत्र और जल्दी में उठाये गये एक उदाहरण के रूप में *घोषणापत्र* की रचना में दृष्टिगोचर होती है। इसे युद्ध के एक औजार के रूप में रचा गया था और इसीलिए इसकी बाहरी सतह पर अपनी उत्पत्ति के चिन्ह मौजूद हैं। इसमें व्याख्याओं से कहीं ज्यादा घोषणाएं हैं। व्याख्या पूरी तरह इसकी आवश्यकता को लेकर मौजूद संकल्प शक्ति पर निर्भर करती है। लेकिन हम इसकी रचना-प्रक्रिया की तह में जा सकते हैं और इस समूची प्रक्रिया को कदम-ब-कदम देखना ही *घोषणापत्र* के मतवाद को सच्चे तौर पर समझना है। विश्लेषण का एक तरीका ऐसा है, जो सैद्धान्तिक रूप से किसी जैविक संरचना के घटकों को अलगाते हुए उन्हें इस कदर नष्ट कर देता है कि वे एक सम्पूर्ण की एकता में योगदान कर सकने वाले तत्व रह ही नहीं जाते। लेकिन विश्लेषण का एक तरीका और भी है और सिर्फ यही है जिसके जरिए हम इतिहास की समझ हासिल कर सकते हैं। वह तरीका यह है कि घटक तत्वों को कुछ इस तरह अलगाया और पहचाना जाये कि उनमें एक बार फिर सम्पूर्ण परिणाम के लिए परस्पर सहयोग की वस्तुगत आवश्यकता को खोजा जा सके।

हाल-फिलहाल यह एक आम राय बन गई है कि समाजवाद एक सामान्य परिघटना है और यह इतिहास का एक अपरिहार्य उत्पाद है। इसकी राजनीतिक गतिविधि, जिसमें भविष्य में गतिरोध और धक्का लगने जैसी स्थितियां तो आ सकती हैं लेकिन जिसे पूरी तरह हजम कभी भी नहीं किया जा सकता, इन्टरनेशनल से शुरू हुई थी। लेकिन *घोषणापत्र* इससे पहले की चीज है। इसकी शिक्षा उस प्रकाश में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसे यह सर्वहारा आन्दोलन पर, उस आन्दोलन पर फेंकता है, जिसका जन्म और विकास किसी भी मतवाद से स्वतंत्र रूप में हुआ था। इसमें इस प्रकाश से भी ज्यादा बड़ी कोई चीज है। आलोचनात्मक कम्युनिज्म की शुरुआत उस बिन्दु से होती है, जहां सर्वहारा आन्दोलन केवल सामाजिक परिस्थितियों की उपज नहीं रह जाता, बल्कि यह इतनी शक्ति ग्रहण कर लेता है कि यह समझ सके कि ये परिस्थितियां बदली जा सकती हैं और ऐसे साधनों की खोज में निकल पड़ता है, जिनके जरिए इन्हें अपने पक्ष में बदला जा सके। अब मात्र यह कहना काफी नहीं था कि समाजवाद इतिहास का परिणाम है। बल्कि इसकी उत्पत्ति के अंतर्भुक्त कारणों को समझना और इस बात को भी समझना जरूरी हो गया था कि इसकी समूची गतिविधि किस ओर इंगित है। यह स्वीकारोक्ति कि सर्वहारा वर्ग आधुनिक समाज का अनिवार्य परिणाम है, इसका मिशन है पूंजीपति वर्ग का वारिस साबित होना और एक नई सामाजिक व्यवस्था के निर्माता के रूप में उसकी जगह लेना, जिसमें वर्गीय टकराव समाप्त हो जायेंगे, इतिहास के सामान्य परिप्रेक्ष्य में *घोषणापत्र* को एक लाक्षणिक युग-उद्घोषक का स्वरूप दे देता है। यह एक क्रान्ति है लेकिन प्रलय के अर्थ में अथवा सहस्राब्दी के बाइबिलीय वायदे के अर्थ में नहीं। हमारा नागरिक समाज जिस दिशा में आगे बढ़ रहा है, यह उसी से प्रतिबिम्बित होने वाला और वैज्ञानिक किस्म का एक इलहाम है (अपनी शैली की नकल के लिए यहां फूरिए मुझे क्षमा करें!)।

इस प्रकार *घोषणापत्र* हमें अपनी उत्पत्ति का आन्तरिक इतिहास तो खुद ही बता देती है और इस प्रकार न सिर्फ अपने मतवाद को न्यायोचित ठहराता है, बल्कि ठीक इसके साथ ही अपने एकात्मक प्रभाव और अपनी आश्चर्यजनक कार्यकुशलता की व्याख्या भी कर देता है। ज्यादा ब्योरों में भटकने के बजाए हम कुछ उन तत्वों की श्रेणी और समूहों पर दृष्टिपात करें जो इस तीव्र और सटीक विश्लेषण में संयोजित और पुनरेकीकृत हुए हैं और जो हमें वैज्ञानिक समाजवाद के बाद के विकास का सूत्र मुहैया कराते हैं।

ऐसी तात्कालिक, प्रत्यक्ष और प्रशंसनीय सामग्री दी गई है फ्रांस और इंगलैण्ड द्वारा जहां सर्वहारा आन्दोलन 1830 के बाद से ही रहा है, जो अन्य देशों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों से कभी मिलता जुलता तो कभी स्वयं को उनसे भिन्न सिद्ध करता रहा है। केवल एक सहजवृत्ति से प्रेरित विद्रोह से शुरू हुए आन्दोलन ने अपना विस्तार राजनीतिक दलों के

व्यावहारिक लक्ष्यों तक किया (मसलन चार्टिज्म और सामाजिक जनवाद) और कम्युनिज्म और अर्द्ध कम्युनिज्म के कई अस्थायी और जल्द ही नष्ट हो जाने वाले रूपों का भी इसने इस क्रम में सृजन किया, जिन्हें उन दिनों समाजवाद का ही नाम दिया गया था।

इन आंदोलनों में सिर्फ तत्काल भड़क उठने वाले या उल्कापात जैसे विक्षोभ देखने के बजाए एक नया सामाजिक सत्य देखने के लिए एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी जो उनकी व्याख्या करे और जो ऐसा सिद्धान्त न हो जो महज लोकतांत्रिक परम्परा के तहत एक पूरक की भूमिका अदा करता हो या अभी तक पहचाने जा चुके प्रतिस्पर्धा के अर्थशास्त्र के चलते पैदा होने वाली कई किस्म की गड़बड़ियों को आत्मगत रूप से सुधारता हो। यह बात दीगर है कि उस समय कई लोग इन पहलुओं पर काम कर रहे थे। यह नया सिद्धान्त मार्क्स और एंगेल्स का व्यक्तिगत कार्य था। वे ऐतिहासिक प्रगति की अपनी अवधारणा प्रतिवाद की एक प्रक्रिया में हीगेल के द्वंद्ववाद में मौजूद इसके अमूर्त स्वरूप से लेकर आए थे, जहां यह अपने सर्वाधिक सामान्य लक्षणों के पदों में व्याख्यायित है।

यहां उन्होंने इसका उपयोग वर्गसंघर्ष की ठोस व्याख्या में किया और हीगेल के सिद्धान्त में जहां ऐतिहासिक गति को एक वैचारिक रूप से दूसरे वैचारिक रूप तक पहुंचने के रूप में देखा जाता है, यहीं पहली बार उन्होंने इस गति को एक सामाजिक ढांचे से दूसरे सामाजिक ढांचे की ओर यानी आर्थिक उत्पादन के एक रूप से दूसरे रूप की ओर संक्रमण के रूप में देखा। यह ऐतिहासिक अवधारणा, जिसने नई सामाजिक क्रान्ति की उस आवश्यकता को एक सैद्धान्तिक रूप दिया, जो सर्वहारा वर्ग की सहज चेतना और उसके भावाविष्ट और स्वत:स्फूर्त आन्दोलनों में कमोबेश प्रकट रूप में मौजूद थी। साथ ही इसने क्रान्ति की अंतर्भुक्त और सन्निकट आवश्यकता को मान्यता दी और इस क्रम में स्वयं इसकी अवधारणा को भी बदल दिया। षड्यंत्रकारियों का पंथ जिस चीज को इच्छा के क्षेत्र से जुड़ी हुई और मनचाहे ढंग से गढ़ी जा सकने वाली चीज मानता था, वही अब एक ऐसी सरल प्रक्रिया हो गई, जिसे समर्थन दिया जा सकता था, जिसे बनाये रखा जा सकता था और जिसमें मदद पहुंचाई जा सकती थी। क्रान्ति अब एक ऐसा नीतिगत उद्देश्य बन गई, जिसकी शर्तें समाज की जटिल परिस्थिति से तय होती हैं। लिहाजा यह एक ऐसा परिणाम बन गई, जिसे अपने संघर्षों और संगठन के विविध रूपों के जरिए सर्वहारा वर्ग को हर हाल में हासिल करना ही चाहिए। जाहिर है, विद्रोहों की पुरानी कार्यनीतियों के लिए ये चीजें कल्पना से परे थीं। और यह सब इसलिए नहीं कि सर्वहारा कोई सहायक या लटकन किस्म का साधन, या निकृष्ट या कोई बुराई है, जिसे उस समाज से मिटा दिया जाना है, जिसमें हम रह रहे हैं, बल्कि इसलिए कि वह इसका अधोस्तर, इसकी अनिवार्य शर्त, इसका अपरिहार्य प्रभाव है और इसी क्रम में यह वह कारण भी है, जो स्वयं समाज को ही संरक्षित और जारी रखता है; और इसीलिए यह हर किसी को अपने साथ ही मुक्त किये बगैर, या यूं कहें कि उत्पादन-रूप का सम्पूर्ण क्रान्तिकारीकरण किये बगैर स्वयं भी मुक्त नहीं हो सकता। जिस तरह *लीग आफ जस्ट* प्रतीकवाद और षड्यंत्र के विफल हो जाने के बाद से धीरे-धीरे करके स्वयं को प्रचार और राजनीतिक गतिविधि के लिए तैयार कर रही थी, ठीक उसी तरह यह नया मतवाद भी, जिसे लीग ने स्वीकृत करके अपना बना लिया था, दृढ़तापूर्वक उन विचारों को त्याग कर चुका था, जो षड्यंत्रकारी गतिविधियों के लिए प्रेरित करते थे; और जिस चीज के बारे में षड्यंत्रकारियों का ऐसा मानना था कि वह एक पूर्वनिर्धारित योजना और उनकी नायकत्वपूर्ण भूमिका का परिणाम होगी, उसे यह एक प्रक्रिया के वस्तुगत परिणाम के रूप में लेता था।

इसी बिन्दु से तथ्य-क्रम में एक नई चढ़ती हुई रेखा की और अवधारणाओं तथा मतवादों के बीच एक नये सम्पर्क की शुरुआत होती है।

षड्यंत्र का कम्युनिज्म, जो उन दिनों का ब्लांकीवाद था, हमें बुओनारोट्टी के मार्फत और बाजार्ड तथा 'कार्बोनारी' के भी मार्फत बाबियोफ के षड्यंत्र तक लाता है, जो प्राचीन शोकांतकी के एक सच्चे नायक जैसा था और जिसने स्वयं को नियति के खिलाफ झोंक दिया क्योंकि उसके लक्ष्य और उस समय की आर्थिक परिस्थितियों के बीच कोई सम्पर्क नहीं था और वह राजनीतिक दृश्य पटल पर ऐसा सर्वहारा उपस्थित कर पाने में असमर्थ था, जिसके पास एक व्यापक वर्ग चेतना मौजूद हो। बाबियोफ और जैकोबिन दौर के कुछ कम चर्चित तत्वों से शुरू करके बाइसेल और फाउशे से होते हुए हम आत्मप्रेरण पर काम करने वाले मोरेली तथा उर्वर मेधा वाले माब्ली तक आ सकते हैं और यदि आप सहमत हों तो मेस्लियर के टेस्टामेंट आफ द क्योर तक और दुखी किसान पर जारी बर्बर दमन के विरुद्ध 'अच्छी समझ' के हिंसक विद्रोह तक भी।

हिंसा, प्रतिरोध और षड्यंत्र के जरिए पहचाने जाने वाले समाजवाद के ये सारे के सारे पूर्वज समानतावादी थे और ज्यादातर षड्यंत्रकारी भी ऐसे ही थे। इस प्रकार एक अकेली और अपरिहार्य गलती के जरिए उन्होंने इसे इस रूप में व्याख्यायित और सामान्यीकृत करते हुए अपनी लड़ाई का एक औजार समझ लिया कि आर्थिक सिद्धान्त के समानान्तर प्राकृतिक अधिकार के रूप में विकसित हो रहा समानतावाद पूंजीपति वर्ग के हाथ का औजार ही है जो विशेषाधिकारों वाले समाज को उदारवादी समाज में, विनिमय और नागरिक संहिता के समाज में तब्दील करने वाली अपनी मौजूदा हैसियत को कदम-दर-कदम हासिल करता जा रहा था।[5]

तत्काल निकाला गया यह निष्कर्ष, जो एक मामूली दिशाभ्रम भर था, कि प्रकृति में समान सभी मनुष्य अपने आमोद-प्रमोद में भी समान होने चाहिए, इस सोच की ओर ले गया कि इसके साथ जुड़ी तार्किकता की अपील प्रचार और प्रेरणा के सारे तत्व खुद ही लिये आयेगी, और यह कि राजनीतिक सत्ता के बाह्य साधनों पर तीव्र, तत्काल और हिंसक कब्जा ही उन लोगों को सही रास्ते पर लाने का एकमात्र जरिया है, जो इसका प्रतिरोध करते हैं।

लेकिन ये सारी असमानताएं, जो न्याय की इतनी सरल और मूलभूत अवधारणा की रोशनी में इतनी ज्यादा अतार्किक लगती हैं, आखिर पैदा कब हुईं, और यह चलती कैसे जा रही हैं? *घोषणापत्र* इतने नौसिखुए और हास्यास्पद ढंग से समझे गये समानता सिद्धान्त का स्पष्ट निषेध है। भविष्य में उत्पादन के सामूहिक रूप में वर्गों के खात्मे को अपरिहार्य बताते हुए यह इन वर्गों की उत्पत्ति और उनके विकास की आवश्यकता को एक ऐसे तथ्य के रूप में व्याख्यायित करता है, जो किसी अमूर्त सिद्धान्त का कोई अपवाद अथवा उसकी अवमानना न होकर इतिहास की मूलभूत प्रक्रिया है।

जिस तरह आधुनिक सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, उसी तरह पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व भी सर्वहारा वर्ग के बगैर सम्भव नहीं है। और ये दोनों ही वर्ग निर्माण की एक ऐसी प्रक्रिया के परिणाम हैं, जो पूरी तरह जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की नई प्रणाली पर, यानी पूरी तरह आर्थिक उत्पादन के तरीके पर टिकी हुई है। पूंजीवादी समाज संघीय और सामन्ती समाज से पैदा हुआ और यह इसके भीतर से संघर्ष और क्रान्ति के जरिए उभरा, ताकि यह उत्पादन के उन उपकरणों और साधनों पर कब्जा कर सके, जिनकी परिणति

पूंजी के निर्माण, विकास और उसके बहुगुणन में होती है। पूंजीपति वर्ग की उत्पत्ति और उसकी प्रगति का उसके विभिन्न दौरों में वर्णन, प्रौद्योगिकी के विराट विकास में और विश्व बाजार पर इसकी विजय सम्बन्धी इसकी कामयाबियों की व्याख्या करना, और इसके चलते होने वाले उन राजनीतिक रूपान्तरणों को चिन्हित करना, जो इन विजयों की अभिव्यक्ति, इनका बचाव और इनका परिणाम हैं, यह सब ठीक उसी समय सर्वहारा का इतिहास लेखन भी है।

अपनी मौजूदा स्थिति में यह इतिहास पूंजीवादी समाज के युग में अंतर्निहित है और इसके भी उतने ही दौर रहे हैं, हैं, और होंगे जितने दौरों से स्वयं यह सामाजिक रूप अपने विलोप से पहले गुजरेगा। गरीब और अमीर के बीच, दुखी और सुखी के बीच, उत्पीड़ित और उत्पीड़क के बीच मौजूद टकराव वैसे सांयोगिक किस्म के और आसानी से निपटा दिये जाने लायक नहीं हैं, जैसा कि उत्साही न्यायवादी माना करते थे। इससे भी बढ़कर यह तथ्य है कि यह एक अपरिहार्य किस्म का परस्पर सम्बन्ध है, बशर्ते उस निर्देशक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये, जो उजरती मजदूर को एक अनिवार्यता बना देता है। वह अनिवार्यता दोहरे किस्म की है। पूंजी उत्पादन पर स्वामित्व केवल मजदूरों को सर्वहारा में बदल कर ही हासिल कर सकती है और जिन लोगों को इसने सर्वहारा बना दिया है, उन्हें मजदूरी देने की शर्त पूरी किये बगैर न तो यह जीवित रह सकती है, न फलदायी हो सकती है, न आत्मसंचय कर सकती है और न ही अपना बहुगुणन कर सकती है। दूसरी तरफ सर्वहारा के जीवित रहने और अपनी किस्म का पुनरुत्पादन करने की अनिवार्य शर्त यह है कि वह स्वयं को श्रमशक्ति के रूप में बेचे और उसका उपयोग किसी और की मर्जी पर, यानी पूंजी के मालिकों के मौज पर छोड़ दे। पूंजी और श्रम के बीच की सुसंगति पूरी तरह इस तथ्य में निहित है कि श्रम ही वह जिंदा शक्ति है, जिसके जरिए सर्वहारा पूंजी में संचित श्रम को सतत गतिमान रखता है और इसमें कुछ और श्रम जोड़ कर इसका पुनरुत्पादन करता रहता है। यह सम्बन्ध एक ऐसे विकास का परिणाम है, जो आधुनिक इतिहास की समूची आंतरिक अंतवस्तु है। यही नये वर्गसंघर्ष के उस सच्चे तर्क को समझने की कुंजी देता है, जिसकी अभिव्यक्ति कम्युनिस्ट अवधारणा बन गई है। इसकी प्रकृति ही कुछ ऐसी है, कि कोई भी भावुकतापूर्ण प्रतिवाद, न्याय पर आधारित कोई भी तर्क न तो इसका समाधान कर सकता है, और न ही इसे सुलझा सकता है।

इन्हीं वजहों से, जिसकी मैंने यहां यथासम्भव सरल व्याख्या की है, समानतावादी कम्युनिज्म किनारे होता चला गया। इसकी व्यावहारिक शक्तिहीनता उन गलतियों और असमानताओं का हिसाब लगा पाने में इसकी सैद्धान्तिक असमर्थता के साथ घुलमिल गई, जिन्हें यह इतनी बहादुरी अथवा मूर्खता से एक झटके में ही नष्ट या विलुप्त कर देना चाहता था।

यही वजह है कि इतिहास को समझना कम्युनिज्म के सिद्धान्तों का मुख्य कार्यभार हो गया। एक वांछित आदर्श अब भी इतिहास के कठिन यथार्थ के विरुद्ध कैसे जा सकता था? कम्युनिज्म मानव जीवन के सभी युगों और सभी स्थानों के लिए स्वाभाविक और अनिवार्य अवस्था नहीं है और ऐतिहासिक संरचनाओं के समूचे दौरों को विचलन अथवा भटकन नहीं माना जा सकता। कोई स्पार्टकसवादी निषेध अथवा ईसाइयत-प्रेरित विलगाव के जरिए कम्युनिज्म तक नहीं पहुंच सकता। यह हमारी पूंजीवादी व्यवस्था के विघटन की परिणति के ही रूप में सामने आ सकता है, बल्कि इसे आना ही चाहिए और यह आकर रहेगा। लेकिन यह विघटन न तो इस पर कृत्रिम रूप में आरोपित किया जा सकता है और न ही इसे बाहर से आयातित किया जा सकता है। यदि मैकियावेली को कहना होता तो वह इसे इस रूप में कहता कि यह अपने भार से ही टूट जायेगा। उत्पादन के एक ऐसे रूप के बतौर यह अदृश्य हो जायेगा, जो अपने भीतर उत्पादन की परिस्थितियों (न्यायिक और राजनीतिक) के विरुद्ध लगातार अपनी उत्पादक शक्तियों के सतत और विकासमान विद्रोह को जन्म देता रहता है और अपने जीवन चक्र को केवल अपनी अपरिहार्य मृत्यु की अंतर्भुक्त परिस्थितियों को (संकट पैदा करने वाली होड़ और कार्यक्षेत्र के आश्चर्यजनक विस्तार के जरिए) शीर्ष पर ले जाते हुए ही जारी रखता है। इस किस्म के एक सामाजिक रूप की मृत्यु, जो विज्ञान की किसी भी शाखा में होने वाली मृत्यु के जैसी ही होती है, एक नियत शरीरसंरचनात्मक घटना भर रह जाती है।

घोषणापत्र ने न तो भविष्य के समाज का कोई नक्शा पेश किया, और न ही ऐसा करना इसी भूमिका में शामिल था। इसने बताया कि हमारा मौजूदा समाज अपनी ही शक्तियों के प्रगतिशील गतिविज्ञान के जरिए विघटित कैसे होगा। इसे समझाने के लिए पूंजीपति वर्ग के विकास की व्याख्या करना सबसे ज्यादा जरूरी था और यह काम तेजी से खींचे गये खाके की शक्ल में कर दिया गया। इतिहास का यह एक ऐसा आदर्श दर्शन है, जिसकी नोक-पलक संवारी जा सकती है, पूरा और विकसित किया जा सकता है, लेकिन जिसे सुधारा नहीं जा सकता।[6]

सेंट साइमन और फूरिए के विचारों और विकास की सामान्य प्रवृत्तियों को यद्यपि स्वीकार नहीं किया गया फिर भी उन्होंने अपना औचित्य पा लिया। इन दोनों ही आदर्शवादियों ने अपनी नायकत्वपूर्ण दृष्टि से उस 'उदार' युग को पार कर लिया था, जिसने उनकी दृष्टि में अपना सर्वोच्च शिखर फ्रांसीसी क्रान्ति के साथ ही छू लिया था। इनमें से पूर्ववर्ती ने आर्थिक नियम और राजनीति की जगह सामाजिक भौतिकी को ला बिठाया और कई सारी आदर्शवादी और निश्चयवादी अनिश्चितताओं के बावजूद वह तकरीबन तीसरी सत्ता की खोज की हद तक चला गया। जबकि उत्तरवर्ती उन ब्योरों की गैर जानकारी के बावजूद, जो उस समय तक अज्ञात या फिर उपेक्षित बने हुए थे, अपनी गैर अनुशासित आत्मा की उच्छलता में ऐसे ऐतिहासिक युगों की विशाल श्रृंखला की कल्पना तक पहुंच गया, जिनके बीच मोटा फर्क उत्पादन और वितरण के रूपों के निर्देशक सिद्धान्त के कुछ खास संकेतों के जरिए किया जा सकता था। यहां से शुरू करके उसने स्वयं को एक ऐसे समाज के निर्माण में लगा दिया, जिसमें मौजूदा टकराव विलुप्त हो जाएं। इन सारे टकरावों के क्रम में अपनी अद्भुत मेधा के जरिए उसने 'उत्पादन के दुष्चक्र' की खोज कर ली और किसी की तुलना में इसके विकास में ज्यादा योगदान किया; अचेतन ढंग से वह सीसमांदी की स्थिति तक पहुंच गया, जो ठीक उसी दौर में लेकिन भिन्न इरादों और भिन्न रास्तों से मंदियों का अध्ययन कर रहा था और बड़े पैमाने के उद्योग तथा बेरोकटोक होड़ से होने वाले नुकसानों की भर्त्सना कर रहा था। सीसमांदी इस क्रम में नव-स्थापित आर्थिक विज्ञान के ध्वंस की घोषणा भी कर चुका था। सुसंगत लोगों के भावी विश्व को लेकर पवित्र ध्यान की अपनी अवस्था से उसने सभ्यता की तकलीफ की ओर एक पवित्र घृणा के साथ देखा और बगैर किसी विचलन के, इतिहास का व्यंग्य लिखा। आदर्शवादी होने के चलते दोनों ही सर्वहारा के कटु संघर्ष के प्रति नावाकफियत के शिकार थे, जिसे शोषण और टकरावों के युग के अन्त के लिए उसे करना पड़ता है, इसीलिए अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं के चलते दोनों अलग-अलग निष्कर्षों तक पहुंचे, एक योजना-निर्माण तक और दूसरा काल्पनिकतावाद तक। लेकिन जैसे किसी दैवी

शक्ति के जरिए, दोनों ने ही टकरावहीन समाज के प्रत्यक्ष सिद्धान्त की पूर्व झलक देख ली। पहला समाज की एक ऐसी तकनीकी सरकार की स्पष्ट अवधारणा तक पहुंचा, जिसमें मनुष्य का मनुष्य पर प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा और दूसरे ने अपनी उर्वर कल्पना की महान ऊंचाइयों के जरिए उस भावी समाज को पूजा, उसे अपनी पूर्वदृष्टि से देखा और उसके मनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र के विषय में कई सारे सूत्रों की भविष्यवाणी की, जिसमें *घोषणापत्र* की अभिव्यक्ति के अनुसार 'हर एक का मुक्त विकास सभी के मुक्त विकास की अनिवार्य शर्त होगा।'

सेंट साइमनवाद तो *घोषणापत्र* के उदय के पहले ही अस्त हो चुका था। इसके विपरीत फूरिएवाद फ्रांस में फल-फूल रहा था, लेकिन अपनी प्रकृति के ही अनुरूप एक पार्टी के बतौर नहीं बल्कि एक बौद्धिक खेमे के बतौर।

इस खेमे ने जब कानूनी साधनों के जरिए अपने कल्पनालोक को धरती पर उतारने की कोशिश की, उस समय तक पेरिस के सर्वहारा जून के उन खूनी दिनों में उसी पूंजीपति द्वारा एकबारगी परास्त किये जा चुके थे, जो इस विजय के जरिए अपना एक नया मालिक तैयार कर रहा था। यह मालिक था एक फौजी जोखिमबाज, जिसकी सत्ता कुल बीस वर्षों तक चली। आलोचनात्मक कम्युनिज्म के एक नए मतवाद ने अपनी प्रस्तुति एक खेमे के बतौर नहीं बल्कि एक वायदे के बतौर, एक धमकी के बतौर, एक पार्टी की इच्छा के बतौर की। इसके लेखक और इसके मानने वाले खुद को एक भविष्य की काल्पनिक रचना के बल पर नहीं पाल-पोस रहे थे बल्कि उनके दिमाग वर्तमान के तजुर्बों और इसकी आवश्यकताओं की चेतना से भरे हुए थे। वे उन सर्वहाराओं के साथ एकताबद्ध हुए, जो ऐसी सहज प्रेरणा से, जिसकी किलेबंदी अभी ठोस अनुभव के जरिए नहीं हुई थी, बिना किसी सुविचारित कार्यनीति से निर्देशित अपने तेज-तर्रार आन्दोलनों के जरिए पेरिस और इंगलैण्ड में पूंजीपति वर्ग के शासन को उखाड़ फेंकने के लिए उठ खड़े हुए थे। इन कम्युनिस्टों ने अपने क्रान्तिकारी विचारों को जर्मनी में फैलाया : वहां वे जून के शहीदों की विरासत के रक्षक थे और उनके पास *न्यू राइनिश जाइटुंग* जैसा एक राजनीतिक मुखपत्र था, जिसके कुछ-कुछ अंश इतने समय बाद अब भी जब कभी-कभार पुनर्प्रकाशित होते हैं तो उनमें वैचारिक प्राधिकार की मुहर रहती है।[7] उन ऐतिहासिक परिस्थितियों के विलुप्त हो जाने के बाद, जिन्होंने 1848 में सर्वहारा वर्ग को राजनीतिक रंगमंच पर आने को बाध्य किया था, *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के मतवादों के पास अपने विसरण का कोई सुनिश्चित आधार या इलाका नहीं रह गया। इसका फिर से प्रसारण शुरू होने में कई साल लग गये और ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि सर्वहारा को कई एक दूसरे रास्तों और विधियों से एक राजनीतिक शक्ति के बतौर फिर से रंगमंच पर उपस्थित होने में और इस मतवाद को अपना बौद्धिक अंग मानने और इसके जरिए अपना रास्ता निर्धारित करने में कई वर्षों का समय लगा।

लेकिन अपने अस्तित्व में आने के पहले दिन से ही इस मतवाद ने पूर्वानुमान के अनुसार उस भोंड़े समाजवाद (सोशलिज्म वल्गारिस) की आलोचना शुरू कर दी, जो उन दिनों यूरोप में और सैन्य विद्रोह से लेकर इंटरनेशनल तक खास कर फ्रांस में फल-फूल रहा था। इंटरनेशनल को अपने छोटे जीवनकाल के चलते इसे परास्त कर इसका सफाया करने का समय ही नहीं मिला। इस भोंड़े समाजवाद को अपनी बौद्धिक खुराक (जब इससे कहीं ज्यादा असंगत और अराजक कोई और चीज मौजूद नहीं हुआ करती थी), प्रूधों के मतवाद और खासकर इसकी विसंगतियों से मिलती थी, जो सैद्धान्तिक तौर पर तो मार्क्स द्वारा परास्त किया जा चुका था[8] लेकिन जो पेरिस कम्यून के समय तक व्यावहारिक तौर पर परास्त नहीं हुआ था क्योंकि स्वयं उनके अनुयायी ही अकसर अपने मतवाद और उसके संस्थापकों के खिलाफ खड़े होने के लिए बाध्य हो जाते थे। जाहिर है, ये व्यावहारिक पाठ एक प्रक्रिया में ही सीखे जा सकते थे।

अपनी उत्पत्ति के समय से ही यह नया कम्युनिस्ट मतवाद लुई ब्लां से लेकर लासाल तक राज्य समाजवाद के सभी रूपों के खिलाफ था और इनकी आलोचना उसमें निहित रहा करती थी। इस राज्य समाजवाद का, जो अमूमन क्रान्तिकारी मतवादों के साथ घुला-मिला रहता था, बाद में सार-संक्षेप एक खोखले स्वप्न के रूप में किया गया और इसकी प्रस्तुति काम का अधिकार जैसे जंतर-मंतर के रूप में की गई। इसका तात्पर्य यदि एक क्रान्तिकारी पूंजीवाद सरकार से की गई मांग हो तो भी यह एक निरर्थक सूत्र है। यदि इसका मतलब उस बेरोजगारी को दबाने से है, जो वेतनों में मौजूद विविधता के चलते, या यूं कहें कि होड़ की परिस्थितियों के चलते पैदा होती है तो यह एक आर्थिक भदेसपन है। राजनेताओं के लिए यह एक औजार हो सकता है, बशर्ते इसे असंगठित सर्वहाराओं की निराकार भीड़ को शांत रखने के एक जरिए के रूप में इस्तेमाल किया जाये। ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए, जो एक विजयी सर्वहारा क्रान्ति के रास्ते की एक स्पष्ट समझ रखता है, यह बिलकुल स्पष्ट बात है कि यह उत्पादन साधनों पर कब्जे के बगैर उनके समाजीकरण की ओर नहीं बढ़ सकती, या यूं कहें कि इसके बगैर यह उस आर्थिक रूप तक नहीं पहुंच सकती, जिसमें न तो सौदागिरी होती है, न उजरती मजदूर होते हैं और जिसमें काम का अधिकार और काम करने का कर्तव्य एक और वही चीज हुआ करता है और यह सभी के लिए श्रम करने की साझा जरूरत के साथ घुला-मिला होता है। काम के अधिकार की मृग-मरीचिका का अंत जून की शोकांतिका के साथ हुआ। जिस संसदीय चर्चा का विषय इसे अनुवर्ती क्रम में बनना था, वह एक हास्यास्पद धंधा साबित हुई। सदा आंसुओं भरे भाषणबाज लामार्टिन ने, जो सभी उचित अवसरों पर ऊंचे पाए का आदमी साबित होता था, अपने भाषण के अंत में या अंत से ठीक पहले अपने बहुख्यात वाक्यों में से एक यही कहा, 'आपदाएं राष्ट्रों का अनुभव हुआ करती हैं', और इतिहास की उस वक्रोक्ति के लिए इतना ही काफी समझा गया।

घोषणापत्र की संक्षिप्तता और सरलता आस्था और पंथ की सम्मोहक लफ्फाजी के मद्देनजर बिलकुल अजनबी बातें थीं। कई सारे बिखरे विचारों को पहली बार एक प्रणाली में समाहित कर लेने के अपने गुण के चलते इसमें चरम समावेशीकरण मौजूद था और इसमें ऐसे बीजाणुओं की एक श्रृंखला मौजूद थी, जिनमें अथाह विकास की सम्भावना मौजूद थी। लेकिन समाजवाद की एक संहिता, आलोचनात्मक कम्युनिज्म की एक प्रश्नोत्तरी या सर्वहारा क्रान्ति की एक लघु-पुस्तिका न तो यह था और न ही इसने ऐसा कुछ होने का दिखावा किया था। इसकी 'प्रकट अंतर्वस्तु' की अभिव्यक्ति का काम हम शब्द-चित्रकार डा. शीफल के जिम्मे छोड़ देते हैं, जिनके जिम्मे हमने स्वेच्छा से यह वाक्यांश छोड़ दिया है कि 'सामाजिक सवाल पेट का सवाल है।'

डा. शीफल का यह 'मूलमंत्र' समाजवाद के कलाविलासियों के लिए काफी लाभप्रद किस्म की महीन कताई है और राजनीतिज्ञों के लिए यह बड़े आनन्द का कारण बना रहता है। आलोचनात्मक कम्युनिज्म की शुरुआत दरअसल बमुश्किल *घोषणापत्र* के साथ ही हुई है। इसे विकसित किये जाने की जरूरत थी और यह विकसित हुआ भी है।

आमफहम तौर पर 'मार्क्सवाद' के नाम से गढ़ी गई शिक्षाएं 1860-1870 के वर्षों से पहले प्रौढ़ता तक नहीं पहुंची थीं। *उजरती श्रम और पूंजी*[9] शीर्षक की छोटी सी पुस्तिका से यह

निश्चय ही काफी आगे बढ़ा हुआ कदम है, जिसमें पहली बार सटीक शब्दावली में यह देखा गया है कि कैसे श्रम नाम के माल की खरीद और इस्तेमाल के जरिए उत्पादन लागत की तुलना में एक श्रेष्ठतर उत्पाद प्राप्त किया जाता है, जो कि बेशी मूल्य के सवाल का एक महत्वपूर्ण सुराग है—'पूंजी' के जटिल और बहुआयामी विकास इससे काफी आगे के कदम हैं। यह पुस्तक पूंजीवादी युग की, इसके समूचे आन्तरिक ढांचे के मद्देनजर, उत्पत्ति में काफी विस्तार से जाती है, और बौद्धिक रूप से यह उस युग के पार चली जाती है क्योंकि यह इसके समूचे विकास क्रम की, इसके उन विशिष्ट नियमों की और टकरावों की व्याख्या करती है, जिन्हें यह जैविक रूप से पैदा करता है, और जो जैविक रूप से ही इसके विघटन का कारण बनते हैं।

यह उस सर्वहारा आन्दोलन से भी काफी आगे बढ़ा हुआ कदम है, जिसने मौजूदा सर्वहारा आन्दोलन के सामने घुटने टेक दिये थे, जो स्वयं राजनीतिक परिदृश्य पर अपनी वापसी के बाद भारी कठिनाइयों का सामना करते हुए एक बड़े फलक पर विकसित हुआ है। कुछ ही साल पहले सर्वहारा के अग्रगामी कूच की यह नियमितता सिर्फ जर्मनी में देखी जाती थी और वहीं इसकी कद्र भी होती थी। सामाजिक जनवाद वहां (1868 के न्यूरेम्बर्ग सम्मेलन से लेकर हमारे अपने समय तक) उसी मान्यता के साथ विकसित हुआ है, जैसे वह उसकी अपनी जमीन हो। लेकिन उसके बाद से इसी परिघटना ने अपनी दावेदारी विविध रूपों में अन्य देशों में भी पेश की है।

कुछ लोग दावे की शक्ल में यह सवाल करते हैं कि मार्क्सवाद के इस व्यापक विकास और राजनीतिक सक्रियता के सीमित रूपों में सर्वहारा आन्दोलन की इस वृद्धि के क्रम में क्या आलोचनात्मक कम्युनिज्म के जुझारू चरित्र वाले मूल रूप में बदलाव नहीं आया है? क्या इस क्रम में क्रान्ति से सरक कर सारा मामला अपने किस्म के उद्विकास तक नहीं आ गया है? क्या सुधार आंदोलनों की दिशा में हासिल किये गये बढ़ाव क्रान्तिकारी भावना में ह्रास के द्योतक नहीं हैं? ये मनोभाव और ये आपत्तियां सर्वाधिक उत्साही और सर्वाधिक आवेगमय समाजवादियों की ओर से और साथ ही उन समाजवाद विरोधियों की ओर से भी उठे हैं और उठते रहे हैं, जिनका हित इसी में है कि विशिष्ट पराजयों, रुकावटों और विलम्बों को वे एक समांग चरित्र प्रदान कर दें, ताकि इसके जरिए लोगों को यह भरोसा दिलाया जा सके कि कम्युनिज्म का कोई भविष्य नहीं है।

जो भी व्यक्ति मौजूदा सर्वहारा आन्दोलन और इसके विविधात्मक और जटिल विकास क्रम की तुलना *घोषणापत्र* से मुखरित होने वाली उस अभिव्यक्ति के साथ करता है जो अन्य स्रोतों से प्राप्त ज्ञान के बगैर इसे पढ़ने से बोध में उतरती है, वह आसानी से यह मान ले सकता है कि पचास साल पहले के उन कम्युनिस्टों की उस आत्मविश्वासपूर्ण साहसिकता में कोई अवयस्क और बचकाना पहलू जरूर है। उनमें युद्धनाद की एक अनुगूंज है और चार्टिज्म के वक्ताओं की कोई जिजीविषापूर्ण वक्तृता है; उसमें एक नए '93 का उद्घोष है लेकिन एक नये थर्मिडोर के लिए उनमें कोई जगह ही नहीं है।

और थर्मिडोर उसके बाद से कई बार, विविध रूपों में नजर आया है, जो कमोबेश परोक्ष या छद्मवेषी किस्म के रहे हैं, और उसके रचनाकार रहे हैं 1848 के फ्रांसीसी पूर्व रैडिकल, या इतालवी पूर्व देशभक्त, या जर्मन नौकरशाह, या राज्य देवता के उपासक, व्यवहारत: मैमन देवता के दास वे अंग्रेज सांसद, जो सरकार की कला की टूटी हुई कलाकृतियां हुआ करते हैं, या यहां तक कि अराजकतावादियों के वेष में मौजूद राजनीतिज्ञ। कई लोगों का यह मानना है कि थर्मिडोर नक्षत्र मंडल की नियति में ही यह नहीं है कि वह कभी इतिहास के आकाश से ओझल हो, या यदि इस बात को ज्यादा रूखे-सूखे ढंग से कहें तो यह कि उदारवाद यानी एक ऐसा समाज, जिसमें मनुष्य सिर्फ कानूनन बराबर होते हैं, मानवीय उद्विकास की उस चरम अवस्था को चिन्हित करता है, जिसके पार जाने पर पीछे की ओर वापसी होती है। यह राय उन सभी लोगों की है, जो समूचे विश्व में पूंजीवादी रूप के क्रमिक विस्तार को समूची प्रगति का तर्क और उसका अंत भी मानते हैं। चाहे वे आशावादी हों या फिर निराशावादी, उनके लिए मानव जाति के हरकुलिस के खंभे यहीं हैं। ऐसा अकसर होता है कि यह भावना अपने निराशावादी रूप में अचेतन ढंग से उन पर भी काम करती रहती है, जो अन्य अवर्गीकृत लोगों के साथ अराजकतावाद की कतारों में वृद्धि करते रहते हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो और भी आगे जाते हैं और जो आलोचनात्मक कम्युनिज्म की दावेदारियों की वस्तुगत असंभावितताओं के बारे में सैद्धान्तीकरण करते रहते हैं। *घोषणापत्र* का यह दावा कि सभी वर्ग संघर्षों के एक किस्म के वर्ग संघर्ष में सन्निहित हो जाना स्वयं में ही सर्वहारा क्रान्ति की आवश्यकता लिए हुए है, उन्हें अंतर्भुक्त रूप से गलत लगता है। उनके लिए यह सिद्धान्त आधारहीन होता है क्योंकि यह एक ऐसे तथ्य की बिना पर एक ऐसा सैद्धान्तिक निगमन और एक ऐसा व्यावहारिक नियम निरूपित करता है, जो इन विरोधियों के अनुसार स्वयं ही एक गलत सैद्धान्तिक बिन्दु हो सकता है और इस तरह सारा मामला अनन्त काल तक के लिए टाल दिया जा सकता है। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के रूप के बीच जिस अपरिहार्य टकराव को यहां मान कर चला गया है, वह कभी घटित ही नहीं होगा क्योंकि उनका दावा है कि यह घर्षण के खास-खास मामलों में अपघटित हो जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि इसे अपने बढ़ाव में रुकावटें और अड़चनें झेलनी पड़ती हैं, साथ ही सरकारी कला के हमलों का सामना भी करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, हमारा मौजूदा समाज टूट जाने और अपघटित हो जाने के बजाए सतत मुद्रा में अपने द्वारा पैदा की गई बुराइयों की मरम्मत करता जायेगा। हर ऐसा सर्वहारा आन्दोलन, जिसे हिंसा के जरिए कुचल नहीं दिया जाता, जैसाकि जून 1848 और मई 1871 में किया जा चुका है, वह चार्टिज्म की तरह धीरे-धीरे थक कर उसी ट्रेड यूनियनवाद में परिणत हो जायेगा, जो इस किस्म की तर्कप्रणाली का युद्ध अश्व है, जो अर्थशास्त्रियों और भोंडे समाजशास्त्रियों का सम्मान और गौरव है। इस तर्क के आधार पर हर सर्वहारा आन्दोलन को उल्कापात सदृश घटना माना जाता है, एक जैविक परिघटना नहीं, एक उथल-पुथल भर माना जाता है, एक प्रक्रिया नहीं, और इन आलोचकों की नजर में सब कुछ के बावजूद हम जैसे लोग काल्पनिकतावादी ही रहेंगे।

यह ऐतिहासिक भविष्यवाणी, जो *घोषणापत्र* के मतवाद में पाई जाती है, और जिसे आलोचनात्मक कम्युनिज्म ने वास्तविक विश्व के व्यापक और ब्योरेवार विश्लेषण के जरिए तब के बाद से अब तक विकसित किया है, निश्चय ही उन परिस्थितियों के तर्क से एक युद्ध जैसा काफी हमलावर किस्म का स्वरूप ले बैठी है, जिनमें इसकी उत्पत्ति हुई थी। लेकिन न तो अब और न ही तब इसका उस किस्म का, यानी कालक्रमानुसार तथ्यों के ब्योरे देने का और सामाजिक संगठन की वैसी कोई भविष्यवाणीनुमा तस्वीर खींचने का, कोई आशय था, जैसाकि प्रलय और नवनिर्माण की प्राचीन भविष्यवाणियों में होता रहा है।

नायकत्वपूर्ण फादर डोल्चिनो फिर कभी जोचिनो देल फिओरे के युद्धनाद के साथ प्रकट नहीं हुए, हमने नये सिरे से मुनस्टर पर यरुशलम के राज्य का पुनर्जीवन का जश्न नहीं मनाया। तबोरवादियों और सहस्राब्दीवादियों की कोई और पीढ़ी सामने नहीं आई। न ही हममें से कोई एक

और फूरिए था, साल दर साल एक निश्चित समय पर 'मानवता के उम्मीदवार' की प्रतीक्षा करता हुआ। और न ही कोई नये जीवन का प्रारम्भकर्ता था, जो कृत्रिम साधनों से एक ऐसे संघ के प्रथम नाभिक का निर्माण शुरू कर रहा हो, जो मनुष्य की पुनर्रचना करेगा, जैसाकि बेलर, ओवन और कैबे टेक्सास स्थित फूरिएवादियों के उद्यम के साथ था। इनमें से आखिर वाले को काल्पनिकतावाद की कब्र माना जा सकता है, जिस पर अंकित समाधिलेख मात्र वह मौन था, जो कॉन्सीडरेंट की आग उगलती वक्तृता के तुरन्त बाद छा गया था। न ही यहां ऐसा कोई पंथ है, जो कम्युनिज्म के सर्वांग-सम्पूर्ण विचार का उत्सव मनाने के लिए अमरीका की समाजवादी बस्तियों की तरह विनम्रता और भीरुता के साथ एक बंद दायरे में चला गया हो।

इसके विपरीत आलोचनात्मक कम्युनिज्म के मतवाद में यह सम्पूर्ण समाज ही है जो अपनी सामान्य प्रक्रिया के किसी क्षण में अपने नियतिबद्ध रास्ते की खोज करता है और एक निर्णायक बिन्दु पर इसकी गति के नियमों पर अपना दावा ठोंक देता है। *घोषणापत्र* में इंगित भविष्यदृष्टि कालक्रमानुसार नहीं है, न ही यह कोई भविष्यवाणी या वायदा है, बल्कि इसके बजाय यह संरचना वैज्ञानिक पूर्वदृष्टि है। उन भावावेगों के शोर की तह में, जिन पर हमारी रोजमर्रे की सारी बातचीत संचालित होती है, व्यक्तियों की उस दृश्यमान हलचल से परे, जो उस सामग्री का निर्माण करती है, जहां पहुंचकर इतिहासकार ठहर जाते हैं, हमारे समाज की समूची कानूनी और राजनीतिक पोशाक से परे, उन अर्थों से कहीं दूर, जो धर्म और कला द्वारा जीवन को दिये जाते हैं, समाज का वह बुनियादी ढांचा उगता और विकसित होता है, जो बाकी सभी को आधार देता है। इस अंतर्निहित ढांचे का अध्ययन ही अर्थशास्त्र है। और मानव समाज चूंकि अंशत: या पूर्णत: अपने सर्वाधिक प्रकट बाह्य रूप में, या अपनी विचारधारात्मक, धार्मिक और कलात्मक अभिव्यक्तियों में कई बार बदल चुका होता है, लिहाजा यह तय है कि सबसे पहले हमें इसके परिवर्तन के वही तर्क समझ में आते हैं, जो इतिहासकारों द्वारा दिये जाते हैं लेकिन इस दौरान होने वाले बुनियादी बदलाव कहीं ज्यादा पोशीदा किस्म के होते हैं, और शुरू में वे कम ही नजर आते हैं। ये बदलाव उसकी संरचना में जारी आर्थिक प्रक्रियाओं में आये होते हैं। जब हमारा साबका स्पष्टत: चिन्हित और उचित रूप में निर्धारित ऐतिहासिक युगों से हो तो हमें विविध उत्पादन रूपों में मौजूद अन्तरों के अध्ययनों पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। और जब हमें इन रूपों के अनुवर्ती क्रम की व्याख्या करनी हो, जिसके तहत एक रूप दूसरे रूप को प्रतिस्थापित कर रहा हो, तो हमें विनष्ट होने वाले सामाजिक रूप के क्षरण और विनाश के कारणों का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए; और अंतत: जब हम सुनिश्चित और ठोस ऐतिहासिक तथ्य को समझना चाहें तो हमें निश्चय ही उन घर्षणों और विरोधाभासों का अध्ययन करना चाहिए, जो विभिन्न धाराओं के बीच से उदित होते हैं, यानी उन वर्गों, उनके उपविभाजनों, और उनके परस्पर सम्पर्क बिन्दुओं का अध्ययन करना चाहिए, जो किसी प्रदत्त समाज का चरित्र-निर्धारण करते हैं।

घोषणापत्र ने जब यह घोषित किया कि मौजूदा युग तक का समूचा इतिहास और कुछ नहीं बल्कि वर्गसंघर्ष का इतिहास है, और यह भी कि ये सभी क्रान्तियों और प्रतिक्रियाओं की भी वजह हैं तो इसने दो काम एक साथ किये, इसने कम्युनिज्म को एक नये मतवाद के तत्व दिये, और साथ ही कम्युनिस्टों को राजनीतिक जीवन के उलझे हुए घटनाक्रम को समझने का एक दिशा निर्देशक सूत्र भी दिया और वह था, सतह के नीचे जारी आर्थिक गति की परिस्थितियां।

इन पिछले पचास वर्षों में एक नए ऐतिहासिक युग की विशिष्ट पूर्वदृष्टि ऐसे हर मामले में, जिसे समझना उनके लिए जरूरी होता है, समझदारी की एक संवेदनशील कला बनी हुई है, क्योंकि यह नया युग स्वयं में एक सतत संरचना है। कम्युनिज्म एक कला बन गया है, क्योंकि सर्वहारा वर्ग या तो एक राजनीतिक पक्ष बन गया है, या बनने के मुकाम पर पहुंच गया है। क्रान्तिकारी भावना सर्वहारा वर्ग में मूर्तिमान हो गई है। यहां से आगे कम्युनिस्टों और सर्वहाराओं की एकता एक स्थापित तथ्य बन गई है।[10] ये पिछले पचास साल उत्पादन रूपों के विरुद्ध उत्पादक शक्तियों के निरन्तर विकासमान विद्रोह के निरन्तर मजबूत होते प्रमाण बन गये हैं। हम 'काल्पनिकतावादियों' के पास उन लोगों के लिए, जो अब भी उल्कापातनुमा कुछ घटनाओं के बारे में बात करते हैं, घटनाओं से सीखे गये इस सबक के अलावा और कोई जवाब नहीं है कि उन्हें यह पता चलेगा कि धीरे-धीरे ये घटनाएं आपस में घुलमिल कर सभ्यता के अन्तिम युग का दावा पेश कर देंगी। और यह सबक पर्याप्त है।

घोषणापत्र के प्रकाशन के ग्यारह वर्ष बाद मार्क्स ने स्पष्ट और दो टूक शैली में एक पुस्तक की प्रस्तावना में, जो कि '*पूंजी*' की पूर्वपीठिका है, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के निर्देशक सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध किया।[11]

"जो संदेह मुझे जकड़े हुए थे, उनके समाधान के खयाल से मैंने जो पहला काम हाथ में लिया, वह था हीगेल की *फिलासफी आफ ला* का आलोचनात्मक पुनर्विवेचन। इस काम की प्रस्तावना 1844 में पेरिस में *जर्मन फ्रेंच इयर बुक्स* में प्रकाशित हुई।

मेरी यह जांच-पड़ताल इस मान्यता के साथ समाप्त हुई कि कानूनी सम्बन्धों और सरकार के रूपों की व्याख्या केवल उनके या तथाकथित मानव मस्तिष्क के सामान्य विकास के जरिए नहीं की जा सकती, बल्कि इसके विपरीत इनकी जड़ें मनुष्य के भौतिक अस्तित्व की परिस्थितियों में हैं, जिनकी सम्पूर्णता को अठारहवीं सदी के अंग्रेज और फ्रांसीसी लेखकों के ही नक्शेकदम पर चलते हुए हीगेल ने नागरिक समाज के शीर्षक के तहत समाहित कर दिया था; और यह कि नागरिक समाज की शरीररचना राजनीतिक अर्थशास्त्र में खोजी जानी चाहिए।

इस शास्त्र का अध्ययन मैंने पेरिस में शुरू किया था और यह ब्रसेल्स में जारी रहा, जहां मुझे फ्रांस से निष्कासित करने के आशय के गुइजो के आदेश के चलते जाना पड़ा था।

जिस सामान्य निष्कर्ष पर मैं पहुंचा, और जो एक बार हासिल हो जाने के बाद मेरे लिए निर्देशक का काम करता रहा, उसे संक्षेप में इस रूप में सूत्रबद्ध किय जा सकता है :

साथ-साथ अपनी आजीविका निर्मित करते हुए मनुष्य एक-दूसरे के साथ कुछ खास अनिवार्य और इच्छा से परे रहने वाले उद्यम-सम्बन्धों में चले जाते हैं, जो समाज की उस अवस्था के अनुरूप होते हैं, जहां तक समाज अपनी भौतिक उत्पादक शक्तियों के विकास की दृष्टि से पहुंच चुका होता है।

इन उद्यम सम्बन्धों की सम्पूर्णता समाज के आर्थिक ढांचे का निर्माण करती है, जो वह वास्तविक आधार होती है, जिस पर कानूनी और राजनीतिक अधिसंरचना निर्मित होती है और सामाजिक चेतना के सुनिश्चित रूप जिसके अनुरूप होते हैं।

भौतिक आजीविका को उत्पादित करने की विधि ही सामान्यत: सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन प्रक्रिया

को सुनिश्चित करती है।

यह मनुष्यों की चेतना नहीं है जो उनके जीवन को निर्धारित करती है, बल्कि यह उनका सामाजिक जीवन है, जो उनकी चेतना को निर्धारित करता है।

समाज के भौतिक उत्पादन की शक्तियां अपने विकास की एक खास अवस्था में उत्पादन की पुरानी परिस्थितियों के साथ टकराती हैं, या यदि एक कानूनी अभिव्यक्ति का इस्तेमाल करें तो उन पुराने सम्पत्ति सम्बन्धों के साथ टकराती हैं, जिनमें अभी तक इन्हें ठूंस कर रखा गया था। ये सम्बन्ध, उत्पादक शक्तियों के विकास के रूप की हैसियत से अब उनके बन्धनों की हैसियत में पहुंच चुके होते हैं। तब फिर सामाजिक क्रान्ति का दौर शुरू होता है। आर्थिक आधार में बदलाव के साथ समूची अधिरचना आगे या पीछे क्रान्ति से गुजरती है।

इन क्रान्तियों पर विचार करते हुए किसी को भी उद्यम सम्बन्धी उस क्रान्ति का, जो उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों में घटित होती है, वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए उन कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या धार्मिक, संक्षेप में कहें तो उन विचारधारात्मक रूपों के साथ एक अलग रवैया अपनाना चाहिए, जिनके जरिए मनुष्य इस टकराव के प्रति सचेत होते हैं, और संघर्ष के तरीके खोजते हैं। कोई व्यक्ति अपने बारे में क्या सोचता है, इस आधार पर हम उसके बारे में जितना कम जान सकते हैं, उतना ही कम किसी क्रान्तिकारी युग के बारे में हम स्वयं उस युग की अपनी चेतना के जरिए जान सकते हैं। इसके बजाय हमें इस चेतना की व्याख्या मनुष्यों के उद्यमी जीवन के टकरावों के जरिए, सामाजिक उत्पादन की शक्तियों और सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों के बीच के टकरावों के जरिए करनी चाहिए।

कोई सामाजिक रूप तब तक नहीं टूटता है, जबतक वे सारी उत्पादक शक्तियां पूरी तरह विकसित नहीं हो जातीं, जिनके विकास के लिए कुछ जगह अभी इसमें मौजूद है। नये और उच्चतर उत्पादन सम्बन्ध तबतक स्थापित नहीं होते, जब तक उन्हें सहारा देने वाली भौतिक जीवन स्थितियां स्वयं पुराने समाज के गर्भ में ही परिपक्व नहीं हो जातीं। लिहाजा मानवजाति हमेशा अपने सामने वे ही कार्यभार रखती है, जिन्हें पूरा कर पाने में यह सक्षम है; क्योंकि नजदीकी परीक्षण से हमेशा ही यह पता चलेगा कि यह कार्यभार हमेशा वहीं उपस्थित होता है, जहां इसके समाधान की भौतिक स्थितियां या तो पहले ही तैयार होती हैं, या फिर कम से कम वृद्धि की अवस्था में होती हैं।

मोटे तौर पर उत्पादन की एशियाई, प्राचीन, सामन्ती और पूंजीवादी विधियों को हम समाज के आर्थिक विकास के क्रमिक युगों के रूप में चिन्हित कर सकते हैं।

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के उद्यम सम्बन्ध सामाजिक उत्पादन के अन्तिम टकराव भरे रूप का निर्माण करते हैं; टकराव से यहां तात्पर्य व्यक्तिगत किस्म के टकराव से नहीं, बल्कि एक ऐसा टकराव है, जो व्यक्तियों की सामाजिक परिस्थिति से उपजा होता है।

लेकिन जो उत्पादक शक्तियां पूंजीवादी समाज के गर्भ में विकसित हुई होती हैं, वे ठीक अपने साथ ही इस टकराव के खात्मे के लिए जरूरी भौतिक स्थितियां भी निर्मित करती हैं। लिहाजा समाज का पूंजीवादी रूप अपने साथ मानव समाज के इतिहास की इस पूर्वपीठिका का समापन भी लिए हुए आता है।''

मार्क्स ने कुछ साल पहले राजनीतिक अखाड़े से हाथ खींच लिये थे और इसमें वे काफी बाद तक, यानी तब तक नहीं लौटे, जब इंटरनेशनल की स्थापना नहीं हो गयी। इटली, आस्ट्रिया, हंगरी और जर्मनी में देशभक्त, उदार अथवा लोकतांत्रिक क्रान्ति पर प्रतिक्रिया की विजय हो चुकी थी। दूसरी तरफ पूंजीपति वर्ग फ्रांस और इंगलैण्ड में सर्वहाराओं पर जीत हासिल कर चुका था। लोकतांत्रिक और सर्वहारा आन्दोलनों के अपरिहार्य विकास की परिस्थितियां अचानक विलुप्त हो गई थीं। *घोषणापत्र* वाले कम्युनिस्टों की संख्या के लिहाज से छोटी टुकड़ी, जो क्रान्ति में शरीक रही थी और जो प्रतिरोध और लोकप्रिय विद्रोह की सभी कार्रवाइयों में शामिल रही थी, कोलोन की स्मरणीय प्रक्रिया में अपनी गतिविधि कुचल दिये जाने की साक्षी बनी। आन्दोलन के बचे-खुचे लोगों ने एक नई शुरुआत करने की कोशिश की, लेकिन मार्क्स, एंगेल्स और अन्य ने स्वयं को क्रान्तिकारियों से अलग कर लिया और आन्दोलन से किनारे हो गये। संकट गुजर गया। ठहराव का एक लम्बा दौर आया। यह जाहिर हुआ चार्टिस्ट आन्दोलन के धीमे विलोप में, यानी एक ऐसे देश के सर्वहारा आन्दोलन के विलोप में, जो पूंजीवादी व्यवस्था की मेरुरज्जु था। इतिहास ने, वक्ती तौर पर, क्रान्तिकारियों के भ्रमों को खोखला करार दे दिया था।

स्वयं को लगभग पूरी तरह राजनीतिक अर्थशास्त्र के पहले ही खोजे जा चुके तत्वों पर लम्बे गहन चिन्तन के हवाले कर देने से पहले मार्क्स ने 1848 और 1850 के बीच की अवधि के इतिहास को लेकर लिखी गई कई पुस्तकों में और खासकर *फ्रांस में वर्गसंघर्ष* में यह दिखाया था कि क्रान्ति यदि उस समय तक अपने द्वारा ग्रहण किये गये रूपों में सफल नहीं हुई थी तो इसका मतलब यह नहीं था कि इससे इतिहास के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का खंडन हो गया है।[12] *घोषणापत्र* में दिये गये सुझाव यहां अपने पूर्ण विकास तक पहुंचे।

बाद में *'लुई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रुमेर'*[13] इतिहास की नई अवधारणा को समय की सुनिश्चित सीमाओं के भीतर निहित तथ्यों की एक श्रृंखला पर लागू करने का प्रयास था। इतिहास की आभासी गति से ऊपर उठकर इतिहास की वास्तविक गति तक पहुंचाना और उनके बीच के अंतरंग सम्पर्क की खोज करना अत्यन्त कठिन है। भावोद्वेग, भाषणबाजी, संसदों, चुनावों और ऐसी ही अन्य चीजों की परिघटना से ऊपर उठकर समाज की आन्तरिक धुरी तक पहुंचने और यहां पर बड़े और छोटे पूंजीपतियों, किसानों, दस्तकारों, मजदूरों, पादरियों, सैनिकों, बैंकरों, सूदखोरों और भीड़ के भिन्न-भिन्न हितों की खोज करने में सचमुच भारी मुश्किलें हैं। किसी सभ्य व्यक्ति के असंगत जीवन में ये हित सचेतन या अचेतन ढंग से काम करते हैं और एक-दूसरे से टकराते, एक-दूसरे को विनष्ट करते, परस्पर जुड़ते और घुलते-मिलते रहते हैं। यह संकट पार हो गया और विशेषत: यह बात उन देशों के लिए सही थी, जो उस ऐतिहासिक क्षेत्र का निर्माण करते थे, जहां से आलोचनात्मक कम्युनिज्म की शुरुआत हुई थी। आलोचनात्मक कम्युनिस्ट सिर्फ इतना ही कर सकते थे कि प्रतिक्रिया को इसके अंतर्निहित आर्थिक कारणों के रूप में पहचान लें, क्योंकि उस समय प्रतिक्रिया को समझना क्रान्तिकारी कार्य को जारी रखना था। यही बात बीस साल बाद भिन्न परिस्थितियों और भिन्न रूपों में एक बार फिर घटित हुई, जब मार्क्स ने अपनी पुस्तक '*फ्रांस में गृहयुद्ध*' में इंटरनेशनल के नाम पर कम्यून के लिए अपनी ओर से सफाई दी थी, जो ठीक उसी समय इसकी वस्तुगत आलोचना भी थी।

जिस नायकत्वपूर्ण वैराग्य के साथ मार्क्स ने 1850 के बाद राजनीतिक जीवन का परित्याग किया था, वही एक बार फिर प्रदर्शित हुआ, जब 1872 के हेग महाधिवेशन के बाद उन्होंने इंटरनेशनल से अवकाश ग्रहण किया। इन दोनों तथ्यों का उनके जीवन वृत्त की दृष्टि से एक खास मूल्य है, क्योंकि ये उनके व्यक्तिगत चरित्र की एक झांकी प्रस्तुत करते हैं। दरअसल उनके लिए विचार, स्वभाव, नीति और चिंतन सब कुछ एक ही था। लेकिन दूसरी तरफ इन तथ्यों का अपना एक अलग ही महत्व है। आलोचनात्मक कम्युनिज्म क्रान्तियों का निर्माण नहीं करता, यह विद्रोहों की तैयारी नहीं करता, यह बगावत के लिए हथियार नहीं बनता। यह स्वयं को सर्वहारा वर्ग के साथ ही घुलामिला देता है, लेकिन यह इस बात को सुनिश्चित करता है और इसे अपनी ओर से भरपूर बुद्धिमत्ता के साथ समर्थन देता है कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के सभी संघर्षों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में रहे। यह ऐसा कर सकता है और इसे ऐसा करना ही चाहिए। एक शब्द में कहें तो यह कोई ऐसा मठ नहीं है, जिसमें सर्वहारा क्रान्ति के श्रेष्ठ अधिकारी प्रशिक्षण पाते हैं, बल्कि यह इस क्रान्ति की और विशेषतया इसकी कठिनाइयों की चेतना है।

इन पिछले तीन वर्षों के दौरान सर्वहारा आन्दोलन विराट तरीके से उभरा है। असंख्य कठिनाइयों के बीच, लाभों और हानियों से होते हुए धीरे-धीरे इसने एक राजनीतिक शक्ल ली है। इसकी विधियों की व्याख्या हुई है और इनका अनुप्रयोग किया गया है। यह सब किसी मतवाद के लिखित और मौखिक प्रचार के जरिए फैलाव के चलते हुई किसी जादुई कार्रवाई का नतीजा नहीं है। अपनी बिल्कुल शुरुआत से ही कम्युनिस्टों के मन में यह भावना रही है कि वे हर सर्वहारा आंदोलन के चरम वामपक्ष हैं, लेकिन बाद में विकसित और विशिष्टीकृत होने के क्रम में यह उनकी जरूरत और कर्तव्य बनता गया कि वे (कार्यक्रमों की व्याख्या के जरिए और दलों की राजनीतिक कार्रवाई में भागीदारी के जरिए) आर्थिक विकास के विभिन्न संकटों और इनसे उपजी राजनीतिक स्थितियों में शामिल हों।

घोषणापत्र के प्रकाशन से अब तक के इन पचास वर्षों के दौरान सर्वहारा आन्दोलन का विशिष्टीकरण और जटिलता इस किस्म की होती गई है कि तब के बाद से ऐसा कोई दिमाग इतना सक्षम नहीं हुआ कि इसे इसकी सम्पूर्णता में, इसके समूचे ब्योरों पर पकड़ रखते हुए इसके वास्तविक कारणों और सटीक सम्बन्धों की समझ कायम कर सके। कोई भी व्यक्ति सर्वहारा के लिए अपरिहार्य साझा विचारों और सामान्य प्रवृत्तियों का इस किस्म का प्राथमिक समानीकरण अब कर ही नहीं सकता।

दो कारणों ने गौरतलब ढंग से सर्वहारा आंदोलन की ऐसी जटिलता और विशिष्टीकरण के ऐसे उच्च स्तर के निर्माण में योगदान किया है। कई देशों में पूंजीपति वर्ग ने ही अपने ही हितों की रक्षा में औद्योगिक प्रणाली के उदय के साथ आ गई कुछ बुराइयों को मिटाने का फैसला कर लिया। इसके चलते जो नये श्रम कानून आये, उन्हें काफी शोशेबाजी के साथ सामाजिक विधायन कहा गया। यही पूंजीपति वर्ग अपने हित में या परिस्थितियों के दबाव से कई देशों में मुक्ति की सामान्य परिस्थितियों को बढ़ावा भी देता रहा है, और इस क्रम में वह मताधिकार का विस्तार करने को बाध्य हुआ है। इन दो परिस्थितियों ने सर्वहारा वर्ग को रोजमर्रे के राजनीतिक जीवन में खींच लिया है। इसने इसकी कार्रवाई और परिपक्वता की सम्भावनाओं को काफी बढ़ा दिया है और इसके जरिए हासिल एक किस्म की बराबरी ने इसे चुनाव से निकली विधायिका के लिए पूंजीपति वर्ग के साथ संघर्ष में उतरने के लिए तैयार किया है। और चूंकि चीजों की प्रक्रिया विचारों की प्रक्रिया को निर्धारित करती है, इसलिए व्यवहारत: सर्वहारा का यह बहुरूपी विकास अपने साथ आलोचनात्मक कम्युनिज्म के मतवादों के क्रमिक विकास को और साथ ही इतिहास अथवा समकालीन जीवन के ब्योरों को अर्थशास्त्र के सर्वाधिक महीन अंगों के रूप में वर्णित करने की समझ को भी अपने साथ लेकर आया है। एक शब्द में कहें तो यह अब विज्ञान हो गया है।

कुछ लोग यह पूछते हैं कि इस क्रम में क्या *घोषणापत्र* के सरल और आदेशात्मक मतवाद से एक भटकाव भी हमें देखने को नहीं मिल रहा है? कुछ अन्य लोग कहते हैं कि सघनता और सटीकपन में जाकर क्या हमने उस चीज को खो नहीं दिया है, जो विस्तार और जटिलता में जाकर हासिल की गई थी?

मेरे खयाल से ये प्रश्न मौजूदा सर्वहारा आंदोलन की गलत अभिधारणा और पूर्ववर्ती आंदोलनों की ऊर्जा और क्रान्तिकारी पराक्रम के स्तर को लेकर दृष्टिभ्रम की उपज हैं।

पूंजीपति वर्ग मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में भले ही कितनी भी छूटें दे दे, भले ही यह काम के घंटों में कितनी भी कटौती कर दे, पर यह बात हमेशा सच रहेगी कि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के टिके रहने के लिए शोषण की आवश्यकता एक ऐसी सीमा आयद कर देती है, जिसके पार करने की स्थिति में उत्पादन के व्यक्तिगत साधन के रूप में पूंजी अपने अस्तित्व का तर्क ही खो देगी। आज दी गई कोई छूट यदि सर्वहारा के किसी खास असन्तोष का समाधान कर देती है तो यह नई और हमेशा बढ़ती जाने वाली छूटों का आधार बनने के अलावा और कोई भूमिका अदा नहीं करने जा रही है। श्रम विधायन की आवश्यकता इंगलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन के पहले ही पड़ गई थी और यह इस आन्दोलन के साथ-साथ ही विकसित होती चली गई। इसे अपनी प्रारम्भिक सफलताएं चार्टिस्ट आन्दोलन के पतन के तुरन्त बाद हासिल हुई थीं। इस आन्दोलन के सिद्धान्तों और तर्कों का अध्ययन मार्क्स के द्वारा अपने कारणों और प्रभावों के साथ आलोचनात्मक रूप में किया गया था और बाद में इन अध्ययनों को इंटरनेशनल के मार्फत विभिन्न समाजवादी पार्टियों के कार्यक्रमों में शामिल करा दिया गया था। अंतत: यह प्रक्रिया स्वयं को आठ घंटे काम की मांग में घनीभूत करती हुई पहली मई के साथ ही सर्वहारा वर्ग के अन्तरराष्ट्रीय योद्धाकरण और अपनी प्रगति के अनुमापन का पैमाना बन गई। दूसरी तरफ सर्वहारा वर्ग जिन राजनीतिक संघर्षों में भागीदारी करता है, वह उसकी आदतों का जनवादीकरण करता है; पहले से ज्यादा सच्चे लोकतंत्र का जन्म होता है, जो समय के साथ मौजूदा राजनीतिक रूप के मुताबिक स्वयं को ढाल नहीं पायेगा। शोषण पर आधारित समाज का ही एक अंग होने के कारण एक नौकरशाही उच्चताक्रम के रूप में, एक न्यायिक नौकरशाही के रूप में और पूंजीपतियों द्वारा अपने विशेषाधिकारों, यानी सार्वजनिक ऋण से होने वाली अक्षय आय, भू-राजस्व और पूंजी पर ब्याज के सभी रूपों की रक्षा के लिए गठित परस्पर सहायता समिति के रूप में ही इसका गठन होता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले दो तथ्य, जो असन्तुष्ट और अति-आलोचनात्मक लोगों के मुताबिक हमें कम्युनिज्म द्वारा निर्धारित दिशा-सूत्रों से अनन्त दूरी तक भटका ले जाते हैं, दरअसल इसके ठीक विपरीत, इन्हीं दिशा-सूत्रों को प्रमाणित करने वाले नये साधन और शर्तें हैं। क्रान्ति से यह आभासी भटकाव अपनी बुनियाद में ठीक वही चीज है जो इसे तीव्र गति प्रदान कर रही है।

यह भी है कि हमें पचास वर्ष पूर्व के कम्युनिस्टों की क्रान्तिकारी आस्था के महत्व को ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर नहीं आंकना चाहिए। यूरोप की राजनीतिक स्थितियों को देखते हुए यदि उनमें आस्था थी तो यह इसलिए था कि वे अग्रदूत थे, और यह तो वे थे ही। उन्हें उम्मीद थी कि इटली, आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी और

पोलैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियां आधुनिक रूपों के करीब पहुंचेंगी और बाद में यह हुआ भी लेकिन आंशिक तौर पर और अन्य साधनों से। उम्मीद उन्हें इस बात की भी थी कि फ्रांस और इंगलैण्ड का सर्वहारा आन्दोलन विकसित होना जारी रखेगा। वह प्रतिक्रिया, जिसके हस्तक्षेप ने कई चीजों में उलटफेर कर दिये और एकाधिक विकासों को रोक दिया, अभी शुरू ही हुई थी। इसने पुरानी क्रान्तिकारी कार्यनीति को भी नकारा बना दिया और इन पिछले कुछ वर्षों में एक नई कार्यनीति का उदय हुआ है। सारा बदलाव यहीं मौजूद है।[14]

घोषणापत्र का नियोजन किसी और चीज के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसे विज्ञान और एक ऐसे व्यवहार के दिशा-निर्धारक सूत्र के रूप में हुआ था, जिसे अनुभव और समय ही विकसित कर सकता था। यह सर्वहारा आन्दोलन के सामान्य बढ़ाव की योजना और इसकी लय भर मुहैया कराता है।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि कम्युनिस्टों पर दो आन्दोलनों के अनुभव का प्रभाव था, जो उनकी आंखों के सामने घटित हो रहे थे। ये थे, फ्रांस का आन्दोलन और विशेषतया इंगलैण्ड का चार्टिस्ट आन्दोलन, जिसे 10 अप्रैल वाली अभिव्यक्ति जल्द ही पक्षाघात का शिकार बना देने वाली थी। लेकिन यह योजना युद्धनीति की ऐसी कोई स्थायी प्रणाली निरूपित नहीं करती, जिसे पहले ही कई बार आजमाया जा चुका हो। क्रान्तिवादियों ने प्रश्नोत्तरी के रूप में कई बार इसकी व्याख्या की थी कि घटनाओं की सरल परिणति क्या होनी चाहिए। पूंजीवादी प्रणाली के विकास और विस्तार के साथ यह योजना और भी विस्तृत और जटिल होती गई। आन्दोलन की लय कहीं ज्यादा विविधात्मक और मद्धिम होती गई क्योंकि श्रमजीवी जनता राजनीतिक परिदृश्य पर एक अलग राजनीतिक पार्टी के रूप में प्रवेश ले चुकी थी, और यह तथ्य उसकी गतिविधि और इसकी परिणति के रूप में उसके आन्दोलन के तरीके और परिमाण में बदलाव ला ही देता है।

ठीक वैसे ही, जैसे आधुनिक हथियारों में आये सुधार ने सड़कों के संघर्ष को बेमौके की बात बना दिया है, और आधुनिक राज्य की जटिलता नगरपालिका सरकार पर कब्जा करके समूची जनता पर एक अल्पसंख्यक तबके की मर्जी और सोच थोप देने की असमर्थता को प्रदर्शित करती है, ठीक उसी तरह सर्वहारा जनसमुदाय के पक्ष में चाहे कितने भी साहसी और प्रगतिशील नेतागण क्यों न खड़े हों, पर यह ऐसे कुछेक नेताओं के आदेश पर चलने वाला नहीं है और न ही यह अपने आन्दोलनों को कुछ कप्तानों के निर्देश पर विनियमित करने वाला है, जो एक सरकार के खंडहरों पर दूसरी सरकार खड़ी करते रह सकते हैं। श्रमशील जनता जहां कहीं भी राजनीतिक रूप से विकसित हुई है, उसने अपने लिए अपनी अलग लोकतांत्रिक शिक्षा का निर्माण किया है, या कर रही है। यह अपने प्रतिनिधि चुन रही है और उनके क्रियाकलापों को अपनी आलोचना की कसौटी पर कस रही है। ये प्रतिनिधि जो विचार और प्रस्थापनाएं इसके समक्ष प्रस्तुत करते हैं, उनका यह परीक्षण करती है और फिर उन्हें अपना बना लेती है। अलग-अलग देशों की परिस्थितियों के अनुरूप उसे पहले से ही यह पता है, या उसने इसे समझना शुरू कर दिया है के उसके नाम पर किसी और को राजनीतिक सत्ता पर विजय नहीं हासिल होनी चाहिए और विशेषकर यह कि यह विजय एक झटके में हासिल भी नहीं हो सकती है। एक शब्द में कहें तो इसे यह पता है, या इसने यह समझना शुरू कर दिया है कि सर्वहारा की तानाशाही, जिसके ऊपर उत्पादन साधनों के समाजीकरण का कार्यभार आना है, कुछ लोगों के नेतृत्व में चलने वाली भीड़ का काम नहीं हो सकती, और इसे लम्बे व्यवहार के दौरान सर्वहारा वर्ग के एक राजनीतिक संगठन बन जाने की स्थिति में स्वयं सर्वहारा वर्ग द्वारा ही अमल में उतारा जाना चाहिए और उतारा जायेगा।

इन पिछले पचास वर्षों में पूंजीवादी प्रणाली का विस्तार और विकास तीव्र गति से और विराट पैमाने पर हुआ है। पवित्र और प्राचीन रूस पर यह पहले ही हमला बोल चुकी है और न सिर्फ अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत में, बल्कि जापान तक में यह आधुनिक उत्पादन के नये केन्द्रों का सृजन कर रही है और इस क्रम में विश्व बाजार की होड़ और घात-प्रतिघात की परिस्थितियों को और भी जटिल बना रही है। इसकी परिणति के रूप में राजनीतिक परिवर्तन या तो सामने आ चुके हैं या ज्यादा समय तक उनका इंतजार नहीं करना पड़ेगा। इतनी ही तीव्र और विराट प्रगति सर्वहारा वर्ग की भी हुई है। राजनीतिक सत्ता पर विजय हासिल करने की ओर लक्षित इसकी राजनीतिक शिक्षा का कोई न कोई नया मुकाम तय कर रही है। उत्पादन के रूप में विशुद्ध उत्पादक शक्तियों का विद्रोह, संचित श्रम के विरुद्ध जीवित श्रम का संघर्ष दिनोंदिन और भी मुखर होता जा रहा है। पूंजीवादी प्रणाली अब रक्षात्मक होती जा रही है और यह अपनी क्षयशीलता इस अकेले अन्तरविरोध के रूप में जाहिर कर रही है; उद्योग की शान्तिपूर्ण दुनिया एक ऐसा विराट खेमा बन गई है, जिसमें जंगखोरी विकसित हो रही है। उद्योग का शान्तिपूर्ण दौर वस्तुओं में निहित वक्रोक्ति के परिणामस्वरूप युद्ध के नये यंत्रों के सतत आविष्कार का दौर बन गया है।

इस परिस्थिति में समाजवाद ने अपने लिए जबर्दस्ती रास्ता बना लिया है। वे अर्द्ध समाजवादी, यहां तक कि वे ठगबैद भी जो अपनी उपस्थिति से प्रेस और यहां तक कि हमारी पार्टी की बैठकों के लिए भी मुसीबत बने रहते हें, एक किस्म का हरजाना है, जिसे हर किस्म के गुरूर और महत्वाकांक्षाएं अपने-अपने तरीके से क्षितिज पर उदित हो रही किसी भी नई सत्ता को दिया करती हैं। वैज्ञानिक समाजवाद के पूर्वघोषित जहरमोहरे के बावजूद, जिसकी सच्चाई को कई सारे लोग समझ नहीं सके हैं, सामाजिक प्रश्नों पर झोलाछाप डाक्टरों का समूचा समूह ही ऐसा है, जिसके पास किसी न किसी सामाजिक बीमारी का कोई न कोई खास इलाज मौजूद है : भूमि का राष्ट्रीयकरण, राज्य के हाथों में अनाज का एकाधिकार, लोकतांत्रिक कराधान, बंधकों का राजकीयकरण, आम हड़ताल वगैरह। लेकिन सामाजिक जनवाद इन सभी कपोल कल्पनाओं का अंत कर देता है, क्योंकि सर्वहारा वर्ग ज्यों ही राजनीतिक अखाड़े के दांव-पेंच से परिचित होता है, और उसे अपनी स्थिति की चेतना हो जाती है, वह समाजवाद को एक समेकित प्रणाली के रूप में समझने लगता है। वह यह समझने लगता है कि उसे सिर्फ एक चीज को हासिल करने में जुट जाना चाहिए और वह है उजरती श्रम का खात्मा; यह कि सिर्फ और सिर्फ एक समाज ऐसा है जो वर्गों के खात्मे को न सिर्फ सम्भव बल्कि जरूरी भी बना देता है—एक ऐसा संघ जो मालों का उत्पादन नहीं करता, और समाज का यह रूप अब राज्य न रह कर इसका विलोम हो चुका है, यानी मानवीय समाज का तकनीकी और शैक्षिक प्रशासन, श्रम की अपनी सरकार। जैकोबिनों के पीछे 1793 के विराट नायक हैं, 1848 के उनके व्यंग्यचित्र भी हैं।

सामाजिक जनवाद! लेकिन कुछ लोग कह उठते हैं कि क्या यह *घोषणापत्र* में सूत्रबद्ध कम्युनिस्ट मतवाद का ही इतने झनझनाते हुए और निर्णायक पदों में एक प्रकट दोहराव नहीं है।

यह क्षण इस बात को याद करने का नहीं है कि सामाजिक जनवाद की पदावली फ्रांस में कई सारे अर्थों को प्रतीकित करती रही है, जिनमें से सभी एक धुंधले भावुकतावाद पर आधारित थे। न ही इस बात की व्याख्या जरूरी है कि जर्मन लोग इस नामकरण संरचना में लासाल वाले गुजर चुके और रूपान्तरित मामले

से लेकर हमारे अपने दिनों तक अपने समाजवाद के समृद्ध और व्यापक विकास को समेट पाने में कामयाब कैसे हुए हैं। यह तय है कि सामाजिक जनवाद कई ऐसी चीजों को प्रतीकित कर सकता है, किया है और कर रहा है, जो आलोचनात्मक कम्युनिज्म अथवा सर्वहारा क्रान्ति की ओर सचेत बढ़ाव न तो रहे हैं, न हैं और न होंगे। यह भी तय है कि समकालीन समाजवाद उन देशों में भी, जहां इसका विकास सर्वाधिक अग्रगति की स्थिति में है, अपने साथ काफी सारा कूड़ा-कचरा लिये चल रहा है, जिसे यह थोड़ा-थोड़ा करके रास्ते के किनारे फेंकता जाता है। यह भी तय है कि सामाजिक जनवाद का यह व्यापक श्रेणीकरण कई सारे घुसपैठियों के लिए सेंध और जाली का भी काम करता है। लेकिन यहां अपना ध्यान हमें निर्णायक महत्व के कुछ खास बिन्दुओं पर ही केन्द्रित रखना है।

किसी भी किस्म की द्वयर्थकता से बचने के लिए हमें इस अभिव्यक्ति के दूसरे पद पर जोर देना चाहिए। लोकतांत्रिक था कम्युनिस्ट लीग का संविधान, लोकतांत्रिक थी इसकी हर नई सीख का स्वागत करने और उस पर चर्चा करने की शैली, लोकतांत्रिक था 1848 की क्रान्ति में इसका हस्तक्षेप और प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा किये गये हमले के विरुद्ध विद्रोही प्रतिरोध में इसकी भागीदारी; अन्तिम तौर पर कहें तो लोकतांत्रिक था इसका स्वयं को भंग करने का तरीका। हमारी मौजूदा पार्टियों के इस प्रथम प्रकार में, या यूं कहें कि लचीली और उच्च विकास वाली जटिल जैविक संरचनाओं की इस प्रथम कोशिका में, न सिर्फ एक प्रारम्भकर्ता के रूप में हासिल किये जाने वाले लक्ष्य की पूरी चेतना विद्यमान थी, बल्कि संगठन का वह रूप और विधि भी मौजूद थी, जो और सिर्फ जो ही सर्वहारा क्रान्ति के प्रथम प्रारम्भकर्ताओं के लिए सर्वथा उपयुक्त होती। अब यह कोई पंथ नहीं रह गया था; संगठन का वह रूप तो दरअसल कब का कालातीत हो चुका था। किसी अकेले व्यक्ति का प्रत्यक्ष और करिश्माई प्रभुत्व समाप्त हो चुका था, जिस चीज का प्रभुत्व अब था, वह था एक अनुशासन, जिसका स्रोत आवश्यकता के अनुभव में और उस सटीक मतवाद में मौजूद था, जो इस आवश्यकता की स्वत:स्फूर्त चेतना से अपने आप उपजता है। ठीक यही बात इंटरनेशनल पर लागू होती है, जो सिर्फ उन लोगों को सर्वसत्तावादी महसूस होता था, जो स्वयं अपना प्राधिकार इस पर नहीं थोप पाते थे। मजदूर वर्ग की पार्टियों के साथ भी ऐसा ही है और होना चाहिए और जहां भी यह चरित्र नहीं है, या अभी चिन्हित नहीं किया जा सका है, वहां सर्वहारा विक्षोभ अभी प्राथमिक और दिग्भ्रमित अवस्था में है। इससे कई किस्म के भ्रम उत्पन्न होते हैं, और यह षड्यंत्रों का पूर्वाधार बनता है, और जब ऐसा नहीं होता, तब हमें एक ऐसा संक्रमण मिलता है, जिसमें समझदार लोग पागलों और जासूसों के साथ कुहनियां टकराते फिरते हैं; मसलन दि इंटरनेशनल ब्रदर्स नाम की सोसाइटी, जो किसी परजीवी की तरह इंटरनेशनल के साथ चिपट गई और इसे बदनाम किया; या फिर कोई ऐसा को-आपरेटिव जो व्यापार में पतित हो जाता है और खुद को पूंजीपतियों के हाथों बेचता है; या फिर तलछट किस्म के लोगों का कोई गुट, जिसमें ज्यादातर समाज से बहिष्कृत लोग और निम्नपूंजीपति आते हैं, और जो स्वयं को समाजवाद की सट्टेबाजी में लगा देते हैं, जो कि राजनीतिक फैशन के दौरों में से एक है। सामाजिक जनवाद को अपने रास्ते में इन सारी बाधाओं का सामना करना पड़ा है और इनसे मुक्ति हासिल करना इसकी मजबूरी पहले भी रही है, आगे भी रहेगी। समझाने-बुझाने का तरीका ही हमेशा काफी नहीं होता। अकसरहां यह जरूरी होता रहा है कि हम तब तक निरपेक्ष भाव से सब कुछ देखते रहें, जब तक मोहभंग के कड़े झटके वाला विद्यालय अपनी शिक्षाएं पूरी नहीं कर लेता, क्योंकि यह विद्यालय सभी तर्कों से कहीं ज्यादा कारगर साबित होता है।

सर्वहारा आन्दोलन की ये सारी आभ्यंतरिक समस्याएं, जिन्हें अकसर षड्यंत्रकारी पूंजीपति वर्ग स्वयं अपनी पहल से पैदा करता है, और इसका सर्वाधिक लाभ भी लेता है, इन पिछले वर्षों में समाजवाद के आन्तरिक इतिहास का एक विचारणीय अंग बनी रही हैं।

समाजवाद को सिर्फ आर्थिक होड़ की सामान्य परिस्थितियों के रूप में, या राजनीतिक सत्ता के प्रतिरोध के बतौर ही रुकावटों का सामना नहीं करना पड़ा है, बल्कि सर्वहारा जनता की विशिष्ट परिस्थितियों की ओर से और कभी-कभी कुछ धुंधली सी उसकी उस विशिष्ट कार्यप्रणाली की ओर से भी उसके सामने रुकावटें पेश आई हैं, जो इसे धीमी, वैविध्यपूर्ण, जटिल और प्राय: परस्पर शत्रुतापूर्ण और अन्तरविरोधी गति प्रदान करती है। इसके चलते कई लोग अकसर सभी वर्गसंघर्षों को एक अकेले संघर्ष, पूंजीपतियों और सर्वहाराकृत मजदूरों के बीच के संघर्ष में समाहित होते नहीं देख पाते।

घोषणापत्र ने युटोपियाइयों की तरह भविष्य के समाज के नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान के बारे में नहीं लिखा और ठीक उसी तरह उसने उस सामाजिक संरचना की कार्यप्रणाली और विकास के बारे में भी कुछ नहीं लिखा, जिसमें हम आज खुद को पा रहे हैं। निश्चित ही यह कहना पर्याप्त है कि इन कुछ हिरावलों ने रास्ता खोल दिया। हमें इस पर चलकर समझदारी और तजुर्बे हासिल करना चाहिए। यह भी है कि मनुष्य अपनी प्रकृति से ही प्रायोगिक चरित्र का प्राणी है; यही वजह है कि उसका एक इतिहास है, या यूं कहें कि इसी वजह से वह स्वयं अपना इतिहास बनाता है।

समाजवाद के इस रास्ते पर, जो स्वयं इसका विकास है, क्योंकि यह इसका अनुभव है, हमारी मुलाकात किसान आबादी से हुई।

समाजवाद, जिसने शुरुआत में खुद को व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही दृष्टियों से, ठीक-ठीक कहें तो, औद्योगिक उत्पादन के दायरे में आने वाले पूंजीपतियों और सर्वहाराओं के बीच के टकराव के अध्ययन और अनुभव तक ही सीमित कर रखा था, अब अपनी गतिविधियां आबादी के उस हिस्से की ओर मोड़ रहा है, जिसमें *किसान मूढ़ता* फलती-फूलती है। किसानों को अपने साथ लाना आज एक प्रमुख सवाल बन गया है, यद्यपि काफी पहले अस्थिर प्रवृत्ति के व्यक्ति शीफल ने किसानों के सामूहिकता विरोधी दिमागों का इस्तेमाल उन्हें मौजूदा सामाजिक ढांचे के पक्ष में गोलबन्द करने के लिए किया था। पूंजी द्वारा घरेलू उद्योग पर कब्जा और उसका विनाश, कृषि आधारित उद्योग का अधिकाधिक तेजी के साथ पूंजीवादी रूप ग्रहण करते जाना, छोटी सम्पत्ति का विलोप, या बंधकों के जरिए इसका छोटा पड़ता जाना, सामूहिक दायरों का विलोप, सूदखोरी, कर और सैन्यवाद, यह सभी कुछ उन दिमागों के साथ चमत्कार घटित कर रहा है, जिन्हें मौजूदा व्यवस्था के समर्थक ही मान कर चला जाता था।

इस क्षेत्र में जर्मन हिरावल साबित हुए हैं। इस स्थिति तक वे अपने विराट विस्तार के विशिष्ट तथ्य के जरिए पहुंचे; शहरों से वे छोटे से छोटे केन्द्रों तक गये हैं और इस क्रम में अनिवार्यत: देश की सीमाओं तक निकल आये हैं। उनके प्रयास लम्बे और कठिन रहे हैं; यह तथ्य उनकी उन गलतियों की भी जिन्हें वे कर चुके हैं और उनकी भी, जो वे आगे करेंगे, व्याख्या करता है, सफाई देता है, और देता रहेगा।[15] जब तक किसानों को हम अपने पक्ष में नहीं कर पाते, तब तक वह किसान मूढ़ता हमारा पीछा करती ही रहेगी, जो अचेतन रूप से अपने मूढ़पने की वजह से ही अठारहवीं ब्रुमेर

और दूसरे दिसम्बर को दुहराती रहती है। रूस में आधुनिक समाज का विकास सम्भवत: देहाती जिलों पर विजय के समानान्तर ही आगे बढ़ेगा। वह देश जब अपनी सारी अपूर्णताओं और हानिकर स्थितियों के साथ, शोषण और सर्वहाराकरण के अपने सारे शुद्ध आधुनिक रूपों के साथ लेकिन सर्वहारा के राजनीतिक विकास सम्बन्धी अपने समूचे लाभों के साथ भी उदार युग में प्रवेश करेगा तो सामाजिक जनवाद के पास बाहर से आने वाले किसी अदृश्य संकट का खतरा नहीं झेलना होगा, और यह ठीक इसी समय यह किसानों को अपने प्रभाव में करके आन्तरिक संकट पर भी विजय प्राप्त कर चुका होगा।

इटली का उदाहरण शिक्षाप्रद है। यह देश पूंजीवादी युग की शुरुआत करने के बाद मौजूदा इतिहास से बहुत कुछ सदियों के लिए बाहर ही चला गया। पतन का यह खासमखास नमूना है, जिसका ठोस अध्ययन इसके सभी दौरों पर उपलब्ध दस्तावेजों के जरिए ही किया जा सकता है। इतिहास में इसकी आंशिक वापसी नेपोलियनीय प्रभुत्व के जमाने में हुई। प्रतिक्रिया और षड्यंत्रों के एक दौर के बाद और उन परिस्थितियों में, जिनके बारे में सभी जानते हैं, इसने अपनी एकता फिर से हासिल की और एक आधुनिक राज्य बन गया। और इस समूची प्रक्रिया के अन्त में इटली ने संसदवाद, सैन्यवाद और वित्त के सारे दुर्गुण हासिल किये, लेकिन ठीक उसी समय जो चीज इसने नहीं हासिल की, वह है उत्पादन के आधुनिक रूप और उनसे उपजने वाली बराबरी के आधार पर होड़ में उतर पाने की क्षमता। जिन देशों में उद्योग आगे बढ़ चुका है, उनके साथ यह होड़ में उतर ही नहीं सकता, वजह है, कोयले का पूर्ण अभाव, लोहे की विपन्नता और प्रौद्योगिक दक्षता में कमी—और इसे इंतजार, या यूं कहें कि उम्मीद है बिजली से, जिसके बारे में इसे लगता है कि उसके जरिए यह अपने द्वारा खो दिये गये समय की भरपाई कर सकता है। यही वह चीज है, जिसने बिएला से लेकर शियो तक विभिन्न किस्म के प्रयासों को जन्म दिया। एक लगभग पूर्णतया कृषि आधारित देश में, जहां कृषि भी ज्यादातर हिस्सों में पिछड़ी हुई है, एक आधुनिक राज्य की मौजूदगी ही वह चीज है, जो इस सर्वव्यापी असंतोष को जन्म देती है।

इसी से उपजती है पार्टियों की विसंगति और उनका बिखरा-बिखरापन, लफ्फाजी से लेकर तानाशाही तक की तेज आवाजाही, राजनीति के परजीवियों की अंतहीन फौज, अजीबोगरीब परियोजनाओं के निर्माता। बाधित, अवरुद्ध, कुंठित और इस प्रकार अनिश्चित किस्म के विकास के इस अनोखे सामाजिक दृश्य में एक भेदक भावना साहसपूर्ण राहत सी लेकर आती है, और यह भावना यदि हमेशा आधुनिक, व्यापक और वास्तविक संस्कृति की अभिव्यक्ति नहीं होती, तो भी स्वयं पर एक उत्कृष्ट सभ्यता की छाप और महान मानसिक परिशुद्धता के चिन्ह लिये रहती है। कुछ ऐसे कारणों से, जिनके बारे में कोई अनुमान लगाना सरल नहीं है, इटली समाजवादी विचारों और इस किस्म के रुझानों के देसी निर्माण के लिए एक उपयुक्त क्षेत्र रहा है। इतालवी फिलिप बुओनारोती, जो शुरू में युवा राब्सपियर का दोस्त हुआ करता था, बाबियोफ का सहकर्मी बना और 1830 के बाद उसने फ्रांस में बाबियोफवाद की पुनर्स्थापना के प्रयास किये। समाजवादियों ने इटली में अपनी प्रथम उपस्थिति इंटरनेशनल के युग में दरशाई और यह बाकुनिनवाद के एक असंगत और दिग्भ्रमित स्वरूप की शक्ल में थी। यह भी कि यह कोई मजदूर आंदोलन नहीं बल्कि निम्न पूंजीपति वर्ग और झोंक में काम करने वाले कुछ क्रान्तिवादियों की कारगुजारी थी।[16] पिछले इन कुछ वर्षों में समाजवाद ने यहां स्वयं को एक ऐसे रूप में सुदृढ़ बना लिया है, जो *सामाजिक जनवाद* की एक लगभग सामान्य किस्म का पुनरुत्पादन करता है।[17] इटली में जीवन के जो प्रथम चिन्ह सर्वहाराओं ने प्रदर्शित किये, सिसिली के किसानों के विद्रोह के रूप में थे, इसके बाद पूरे महाद्वीप में इस महाद्वीप में इस किस्म के कई विद्रोह हुए और सम्भवत: भविष्य में इसी नक्शेकदम पर काफी कुछ होगा। क्या यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण नहीं है?

समकालीन समाजवाद के इतिहास इस प्रवेश के बाद हम प्रसन्नतापूर्वक पचास वर्ष पूर्व के अपने पूर्ववर्तियों की ओर लौटते हैं, जिन्होंने *घोषणापत्र* में इस बात को दर्ज किया है कि प्रगति के रास्ते पर एक अग्रिम चौकी पर उन्होंने कब्जा कैसे किया। और यह बात केवल सिद्धान्त निर्माताओं, मार्क्स और एंगेल्स के लिए ही सही नहीं है। इन दोनों ही व्यक्तियों के मस्तिष्कों की शक्ति और मौलिकता, और उनके ज्ञान का दायरा इतना बड़ा था कि यदि अपने रास्ते में उनकी मुलाकात *कम्युनिस्ट लीग* से कभी हुई ही न होती तो भी अपनी जुबान से या अपनी कलम से वे राजनीति और विज्ञान पर एक विचारणीय प्रभाव अवश्य डालते। लेकिन मैं यहां उन सभी लोगों की बात कर रहा हूं, जो पूंजीवादी साहित्य के व्यर्थ नामकरण के अनुसार 'अज्ञात' हैं—यानी बावेर जैसे मोची की, लेस्नर और इकैरिअस जैसे दर्जियों की, फैंटर जैसे लघुचित्रकार की, मोल[18] जैसे घड़ीसाज की, और कई ऐसे अन्य लोगों की जो हमारे आन्दोलनों के प्रथम सचेत प्रारम्भकर्ता थे। 'दुनिया के मजदूरो, एक हो' जैसा सूत्रवाक्य उनके स्मारक के बतौर मौजूद है। समाजवाद का युटोपिया से विज्ञान में रूपान्तरण उन्हीं के काम के परिणाम को चिन्हित करता है। आज के युटोपिया से विज्ञान में रूपान्तरण उन्हीं के काम के परिणाम को चिन्हित करता है। आज के कामकाज में उनकी सहजवृत्ति और प्रथम आवेग का जीवित रह जाना इन पूर्वजों के लिए एक ऐसी अहरणीय उपाधि है, जिसे उन्होंने अपने प्रति सारे समाजवादियों के आभार के जरिए अर्जित किया है।

एक इतालवी के बतौर मैं काफी इच्छापूर्वक आधुनिक समाजवाद की इन शुरुआती हलचलों की ओर वापस लौटता हूं, क्योंकि कम से कम मेरे लिए एंगेल्स की हाल की यह चेतावनी महत्वहीन नहीं है। ''इस प्रकार यह खोज कि हर जगह और हमेशा राजनीतिक परिस्थितियां और घटनाएं अपनी व्यवस्था आर्थिक परिस्थितियों में ही पाती हैं, 1845 में मार्क्स द्वारा नहीं बल्कि 1886 में लोरिया द्वारा की गई होती। कम से कम अपने देशवासियों पर वह इस विश्वास की छाप छोड़ने में सफल रहा, और जब से उसकी किताब का प्रकाशन फ्रांसीसी भाषा में हुआ है, तब से कुछ फ्रांसीसियों पर भी। और अब वह गर्व और गुरूर से यूं इतराता फिर सकता है, गोया इस युग निर्माता ऐतिहासिक सिद्धान्त की खोज उसी ने की हो, लेकिन तभी तक, जब तक कोई इतालवी समाजवादी दिखावेबाज श्री लोरिया द्वारा अपने ऊपर चिपकाये गये उन मोर के परों का भंडाफोड़ करने का समय नहीं निकाल लेता, जिन्हें उन्होंने कहीं और से चुरा रखा है।''[19]

स्वेच्छया भौतिकवाद के विरुद्ध सभी पक्षों से और सभी खेमों की ओर से विरोध के स्वर उठते रहे हैं और आक्षेप किये जाते रहे हैं। और कभी-कभार इन आवाजों में नव धर्मांतरित समाजवादियों की आवाजें भी शामिल हो जाती रही हैं, ऐसे समाजवादियों की आवाजें जो मिजाज से दार्शनिक हैं, या उनकी जो मिजाज से भावुक हैं, और यहां तक कि कभी-कभी उनकी भी जो उन्माद की बीमारी से ग्रस्त हैं। इसके बाद किसी चेतावनी की तरह आता है 'पेट का सवाल'। कुछ अन्य लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने स्वयं को अहंवाद और सर्वसत्यवाद जैसी अर्मूत श्रेणियों के साथ की जाने वाली तार्किक कसरतों के लिए ही समर्पित कर रखा है; कुछ अन्य लोग ऐसे भी हैं जिनके लिए अस्तित्व का अपरिहार्य संघर्ष हमेशा सही वक्त

पर उभर आता है।

नैतिकता! लेकिन यही उचित समय है कि हम पूंजीवादी युग की इस नैतिकता का पाठ मांडेविले की मधुमक्खियों वाली नीतिकथा के जरिए समझ लें, जो शास्त्रीय (क्लासिक) अर्थशास्त्र के प्रथम उभार का ही समकालीन है।

और क्या इस नैतिकता की राजनीति की व्यवस्था पूंजीवादी युग के उस पहले महान राजनीति लेखक मैकियावेली द्वारा कभी न भुलायी जा सकने वाली शब्दावली में नहीं की गई है, जिसने मैकियावेलीवाद का आविष्कार नहीं किया था, बल्कि जो इसका सचिव और विश्वस्त तथा कर्मठ सम्पादक भर था। और जहां तक अहंवाद और सर्वसत्यवाद के बीच के तार्किक खेल का सवाल है, क्या यही रेवरेंड माल्थस से लेकर उस खोखले, बकवासी और थकाऊ तर्कवादी, अपरिहार्य स्पेंसर तक व्याप्त नहीं है? अस्तित्व के लिए संघर्ष! लेकिन क्या आप हमारे लिए उस संघर्ष से ज्यादा महत्वपूर्ण किसी और संघर्ष के प्रेक्षण, अध्ययन और समझ की इच्छा रखते हैं, जो सर्वहारा आन्दोलन में ही जन्मा है और जो इसके दौरान ही विराट आकार ग्रहण करता जा रहा है? शायद इस संघर्ष की व्याख्या को, जो समाज के पराभौतिक दायरे में विकसित और कार्यरत हो रहा है, जिसे इतिहास के विकास-क्रम में मनुष्य ने ही अपने श्रम के जरिए, सुधरी हुई प्रक्रिया के जरिए और सामाजिक संस्थाओं के जरिए सृजित किया है, और जिसे स्वयं वही श्रम के अन्य रूपों, प्रक्रियाओं और संस्थाओं के जरिए बदल सकता है—आप घटा देंगे। घटा देंगे आप इसे शायद एक अधिक सामान्य संघर्ष की सरल व्याख्या में, जिसमें कोई पौधा, या पशु या मनुष्य भी, जिस हद तक वह पशु है, प्रकृति के गर्भ में संघर्षरत रहता है।

लेकिन हम अपने विषय पर वापस लौटें।

आलोचनात्मक कम्युनिज्म ने कभी भी विचारधारात्मक, नीतिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्रीय पहलुओं से दिये जाने वाले ऐसे बहुमुखी और मूल्यवान सुझावों का स्वागत करने से न तो इनकार किया है, और न आज करता है, जो कैल्केडॉन के फेल्स से लेकर कैबे तक साम्यवाद के सभी रूपों के अध्ययन से निकल कर आते हैं।[20] इससे भी बढ़कर यह कि इन्हीं रूपों के अध्ययन और ज्ञान के जरिए वैज्ञानिक समाजवाद के बाकी सभी रूपों से अलग होने की चेतना विकसित और सुदृढ़ हुई है। और इस अध्ययन के क्रम में कौन है, जो यह नहीं मानेगा कि टॉमस मोर समाजवाद को लेकर एक नायकत्वपूर्ण आत्मा और महान लेखक थे? कौन है जो अपने हृदय में रॉबर्ट ओवन के प्रति सराहना भरी श्रद्धांजलि से ओतप्रोत नहीं हो जायेगा, जिन्होंने सबसे पहले कम्युनिज्म के नीतिशास्त्र को यह निर्विवाद सिद्धान्त दिया कि मनुष्यों के चरित्र और नैतिक मूल्य अनिवार्यत: उन परिस्थितियों के परिणाम होते हैं, जिनमें वे जीते हैं और साथ ही उस माहौल के, जो उन्हें घेरे रहता है? और आलोचनात्मक कम्युनिज्म के पैरोकार ऐसा मानते हैं कि यह उनका कर्तव्य है कि वे चिन्तन के भीतर इतिहास की यात्रा करें और सभी उत्पीड़ितों के साथ सहभागिता का दावा करें, भले ही उनकी नियति कुछ भी क्यों न रही हो। वैसे सामान्यत: यह उत्पीड़ित बने रहने और बीच-बीच में आभासी सफलता के बाद नये उत्पीड़कों के शासन का रास्ता साफ करने की ही होती रही है।

लेकिन आलोचनात्मक कम्युनिज्म के पैरोकार कम्युनिज्म अथवा समाजवाद के सभी प्राचीन, आधुनिक अथवा समकालीन रूपों और प्रणालियों से एक बिन्दु पर स्वयं को स्पष्टतया अलग करते हैं, और यह बिन्दु निर्णायक महत्व का है।

वे यह नहीं मान सकते कि अतीत की विचारधाराएं शुद्ध रूप से दुर्घटनावश, या परिस्थितियों के करवट बदल लेने के चलते निष्प्रभावी रहीं, या पराजित हुईं। तथ्यत: इन सभी विचारधाराओं के सामाजिक प्रतिपक्षों, यानी वास्तविक वर्गसंघर्षों से उपजी भावनाओं का प्रतिबिम्बन होने के बावजूद, और इनके भीतर मौजूद न्याय की भव्य भावना और एक आदर्श के प्रति दृढ़ आस्था के बावजूद ये सभी दरअसल अपने प्रतिपक्ष की सही समझ नहीं रखते थे, जिसके विरुद्ध इन्होंने स्वयं को विद्रोह की एक स्वत:स्फूर्त और प्राय: नायकत्वपूर्ण कार्रवाई में झोंक दिया था। इससे भी आगे बढ़ते हुए हम इस बात की व्याख्या कर सकते हैं कि अन्य युगों की उत्पीड़ित परिस्थितियां अब की तुलना में अधिक बर्बर और क्रूर होने के बावजूद क्यों ऐसे ऊर्जा संचय को, ऐसे शक्ति केन्द्रीकरण को, या प्रतिरोध की ऐसी निरन्तरता को जन्म नहीं दे सकीं, जैसे हमारे अपने समय में सर्वहारा के भीतर अस्तित्वमान और विकसित होती दिखाई दे रही हैं। इसका कारण है विशाल उद्योगों और आधुनिक राज्य के गर्भ में सर्वहारा का निर्माण। यह राजनीतिक दृश्यपटल पर सर्वहारा का उदय ही है, यह एक परिष्कृत नई चीज ही है, जिसने नये विचारों की आवश्यकता उत्पन्न की है। इस प्रकार आलोचनात्मक कम्युनिज्म न तो कोई नैतिकतानिर्माता है, न उपदेशक है, न अग्रदूत और न ही युटोपियावादी—यह पहले से ही चीजों को अपने हाथों में संभाले हुए है और चीजों के भीतर ही इसने अपने नीतिशास्त्र और अपने आदर्शवाद को समाहित कर रखा है।

भावुकतावादियों को यह नजरिया कुछ ज्यादा ही कड़ा लगता है क्योंकि यह कुछ ज्यादा ही सही, यथार्थवादी और यथार्थ किस्म का है, इसके बावजूद यह हमें सर्वहारा और इससे पूर्व आने वाले अन्य उत्पीड़ित वर्गों के इतिहास की तह में जाने की इजाजत देता है, हम उनके विभिन्न दौर देखते हैं; हम चार्टिज्म और समानों के षड्यंत्र (कांस्पिरेसी आफ इक्वल्स) की विफलता के ब्योरे लेते हैं, और पीछे जाते हुए हम राहत पहुंचाने के प्रयासों, प्रतिरोध की कार्रवाइयों, और युद्धों—जर्मनी के सुप्रसिद्ध किसान युद्ध से लेकर जाकारी और फादर डोल्चिनो तक पहुंचते हैं। इन सभी तथ्यों और घटनाओं में हम पूंजीपतियों द्वारा सामन्तवाद के टुकड़े-टुकड़े किये जाने, तख्तापलट करने और इस क्रम में उसी के गर्भ से अपना आकार ग्रहण करने की प्रक्रिया और इसके भविष्य से सम्बन्धित रूपों और परिघटनाओं की खोज करते हैं। यही काम हम प्राचीन विश्व के वर्गसंघर्षों के साथ भी कर सकते हैं, लेकिन कम स्पष्टता के साथ। सर्वहारा और अन्य उत्पीड़ित वर्गों का यह इतिहास उनके संघर्षों और विद्रोहों के दारुण स्वरूप का इतिहास पहले से ही हमारे लिए इस समझ तक पहुंचने के लिए पर्याप्त निर्देशन करता रहा है कि अन्य युगों के कम्युनिज्म की विचारधाराएं असामयिक क्यों थीं।

पूंजीपति वर्ग यदि हर जगह अपने उद्विकास की अन्तिम अवस्था में नहीं पहुंचा है तो कुछ खास देशों में यह निश्चय ही ऐसी अवस्था को प्राप्त कर चुका है। दरअसल सर्वाधिक विकसित देशों में उत्पादन के विभिन्न अपेक्षाकृत पुराने रूपों को यह प्रत्यक्षत: या परोक्षत: सक्रिय करने और उन्हें पूंजी के नियम के अधीन लाने में जुटा हुआ है। और इस प्रकार यह अतीत के समयों के उन विभिन्न वर्गसंघर्षों को, जो उस समय एक-दूसरे को अपनी बहुलता के जरिए धुंधला बना दिया करते थे, एक अकेले संघर्ष के रूप में या तो सरल बना देता है, या सरल बना देने का रुझान रखता है। यह अकेला संघर्ष है, पूंजी—जो मानवीय श्रम के सभी ऐसे उत्पादों को, जो जीवन के लिए अपरिहार्य हैं, व्यापारिक माल में बदल देती है—और सर्वहाराओं की विशाल आबादी के बीच, जो अपनी श्रमशक्ति बेचती है—और जो स्वयं एक सरल व्यापारिक माल में तब्दील हो चुकी होती है। इतिहास का रहस्य सरलीकृत हो चुका है। यह पूर्णतया गद्यात्मक या यूं कहें कि

नीरस है। और जिस तरह मौजूदा वर्गसंघर्ष बाकी सभी वर्गसंघर्षों का सरलीकृत रूप है, ठीक उसी तरह *घोषणापत्र* कम्युनिज्म के अन्य रूपों के विचारधारात्मक, नीतिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्रीय सुझावों को नकार कर नहीं, बल्कि उन्हें और विकसित करते हुए उन्हें दृढ़ और सामान्य सूत्रों में बदल देता है। सब कुछ गद्यात्मक है और स्वयं कम्युनिज्म भी यही चरित्र धारण कर चुका है, यह अब एक विज्ञान है। इसीलिए *घोषणापत्र* में न तो अलंकार है, और न ही किसी और किस्म का दिखावटीपन। फटेहाली के खात्मे के लिए यह उसका रोना नहीं रोता। यह किसी भी चीज पर आंसू नहीं बहाता। आंसू यहां स्वयमेव और स्वत:स्फूर्त रूप में एक क्रान्तिकारी शक्ति में बदल चुके हैं। नीतिशास्त्र और आदर्शवाद अब के बाद से सिर्फ एक काम में समाहित हो जाते हैं, और वह है वैज्ञानिक सोच को सर्वहारा की सेवा में लगाना। यह नीतिशास्त्र यदि भावुकतावादियों को, जो सामान्यत: उन्मादी और मूर्ख हुआ करते हैं, पर्याप्त नैतिक नहीं लगता तो हम उन्हें अपने रास्ते जाने दे सकते हैं, जहां वे सर्वसत्यवाद के महापुजारी स्पेंसर से यही चीज उधार ले सकते हैं, जो उन्हें इस चीज की एक धुंधली और नीरस परिभाषा मुहैया करा देंगे, और जिससे वे संतुष्ट हो जायेंगे।

लेकिन, फिर क्या समूचे इतिहास की व्याख्या अकेले आर्थिक कारक के ही आधार पर की जा सकती है! ऐतिहासिक कारक! लेकिन यह अभिव्यक्ति तो अनुभववादियों या विचारधारावादियों की है, जो हर्डर को दोहराते रहते हैं। कुछ लोगों की अभिव्यक्ति के अनुसार, समाज एक जटिल सम्पूर्ण या एक जैविक रूप है। ये लोग वही हैं, जो इस अभिव्यक्ति के मूल्य और इसके समानार्थक उपयोग को लेकर जारी बहस-मुबाहिसों में अपना वक्त जाया किया करते हैं। इस जटिल सम्पूर्ण (कंप्लेक्सस) ने अपनी रचना स्वयं की है और कई बार परिवर्तित भी हुआ है। इस परिवर्तन की व्याख्या क्या है?

फायरबाख द्वारा इतिहास की धर्मशास्त्रीय व्याख्या पर आखिरी चोट किये जाने (मनुष्य धर्म का निर्माण करते हैं, धर्म मनुष्य का निर्माण नहीं करता) से काफी पहले बुजुर्ग बाल्जाक[21] ने मनुष्यों को ईश्वर की कठपुतलियों के रूप में प्रस्तुत करते हुए इस चीज पर करारा व्यंग्य किया था। और क्या वीको ने पहले ही इस चीज की पहचान इस रूप में नहीं कर ली थी कि ईश्वरीय शक्ति इतिहास में इतिहास के बाहर से सक्रिय नहीं होती? और इसी वीको ने मोर्गन से एक सदी पहले क्या इतिहास को एक ऐसी प्रक्रिया में घटा नहीं दिया था जिसे भाषा, धर्म, परम्परा, कानूनों आदि की खोज जैसे क्रमिक प्रयोगों के जरिए मनुष्य स्वयं निर्मित करता है? क्या लेसिंग ने यह नहीं कहा था कि इतिहास मानव जाति की एक शिक्षा है? क्या रूसो ने इसे देख नहीं लिया था कि विचार आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं? क्या सेंट साइमन उस वक्त ठीक इसी अनुमान तक नहीं पहुंच गये थे, जब उन्होंने जैविक और अजैविक युगों के बीच फर्क करने के दौरान अपनी दृष्टि नहीं खोई, जो कि थर्ड एस्टेट की उत्पत्ति का मूलाधार है? और क्या उनके ही विचारों को गद्य में अनूदित करके आगस्तिन थिएरी ने ऐतिहासिक शोध की पुनर्रचना नहीं की? इस सदी के प्रथम पचास वर्षों में और खासकर 1830 से 1850 की अवधि में वे वर्गसंघर्ष निरन्तर विकसित हुए हैं और (इंगलिश) चैनल के दोनों तरफ भारी पैमाने पर खड़े होकर अधिकाधिक अकाट्य साक्ष्यों में बदलते गये हैं, जिनका स्पष्ट ब्योरा प्राचीन इतिहासकारों द्वारा और नवजागरणकालीन इतालवी इतिहासकारों द्वारा भी दिया गया है, जो अपने शहरी गणराज्य के संकीर्ण दायरे के भीतर ही इन संघर्षों के अनुभव द्वारा शिक्षित किये गये थे। जबर्दस्त औद्योगिक उभार के बीच जन्मे, अपनी स्मृतियों और फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रकाशित ये संघर्ष अपनी सहज अनुभूति में शिक्षात्मक हो गये, क्योंकि उन्होंने कमोबेश स्पष्टता और सचेतना के साथ राजनीतिक पार्टियों के कार्यक्रमों में अपनी वास्तविक और प्रस्तावित अभिव्यक्ति पा ली थी : यानी मुक्त व्यापार अथवा इंगलैण्ड में अनाज की आवक पर चुंगी वगैरह। फ्रांस के प्रेक्षक के लिए इतिहास की अवधारणा ही बदल गई, और ऐसा साहित्यिक दलों में वामपंथ से लेकर दक्षिणपंथ तक तथा गुइजो से लेकर लुई ब्लां तक और विनम्र कैबे तक हुआ। समाजशास्त्र समय की मांग थी लेकिन इसने अपनी सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति बेकार ही आगस्त कोम्ते में खोजी, जो कि देर से पैदा हुए एक स्कॉलैस्टिक (पांडित्यवादी) भर थे। इसने अपना कलाकार बाल्जाक में पाया, जो वर्ग-मनोविज्ञान के वास्तविक आविष्कर्ता थे। इतिहास के वास्तविक विषय को वर्गों के बीच के टकरावों, और इसकी गति को उनकी गति के बीच अवस्थित करना—यही वह चीज थी, जो उन दिनों ठीक अध्ययन और खोज के बिन्दु पर पहुंच रही थी, और इसके लिए सटीक शब्दावली में एक सिद्धान्त सुनिश्चित किया जाना अनिवार्य हो गया था।

मनुष्य ने अपना इतिहास किसी रूपकात्मक उद्‌विकास के क्रम में या किसी पूर्वनिर्धारित प्रगति-पथ पर चलते जाने के नजरिए के साथ नहीं बनाया है। इसे उसने स्वयं अपनी परिस्थितियों को निर्मित करते हुए बनाया है, यानी यूं कहें कि अपने श्रम के जरिए एक कृत्रिम परिवेश रचते हुए, अपनी प्रौद्योगिक क्षमता को क्रमश: विकसित करते हुए और अपनी गतिविधि के इन उत्पादों को संचित करते हुए तथा उन्हें इस नये परिवेश में रूपान्तरित करते हुए। हमारे पास सिर्फ एक अकेला इतिहास है और वास्तविक इतिहास में कोई तुलना हम नहीं कर सकते। वस्तुत: यह तुलना किसी और इतिहास के साथ की जाती है, जो सामान्यत: सम्भव है। इस रचना और इस विकास के नियम हमें कहां मिलेंगे? बहुत प्राचीन संरचनाएं प्रथमद्रष्ट्या उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन पूंजीवादी समाज चूंकि अभी हाल ही में पैदा हुआ है और अभी तक यूरोप के सभी हिस्सों में भी अपने पूर्ण विकास तक नहीं पहुंचा है, इसलिए इसमें अपनी उत्पत्ति और अपनी प्रक्रिया (प्रोसेस) के भ्रूणरूप अभी तक मौजूद हैं, और उन देशों में भी, मसलन जापान में, जहां यह हमारी आंखों के सामने अभी अपने जन्म की अवस्था में ही है, अपने इन लक्षणों को यह पूर्णत: प्रकट स्थिति में रखे हुए है। एक ऐसे समाज के रूप में जो मानवीय श्रम के सभी उत्पादों को पूंजी के माध्यम से मालों में बदल देता है, एक ऐसे समाज के रूप में जो सर्वहारा वर्ग को पहले से ही मानकर चलता है, या उसकी रचना करता है और जो अपने भीतर सतत नवीकरण की चिन्ता, तकलीफ और अनिश्चय को धारण करता है, इसका जन्म निर्धारित युगों में ऐसी स्पष्ट विधियों के जरिए हुआ है जिन्हें साफ-साफ चिन्हित किया जा सता है, यद्यपि स्वयं ये विधियां भिन्न-भिन्न किस्म की हो सकती हैं। मसलन इटली में इसकी शुरुआत अन्य किसी भी देश से पहले हुई, लेकिन फिर यह ठहर गया। इंगलैण्ड में यह उत्पादन के पुराने रूपों के आर्थिक विनाश की तीन सदियों की उपज है, या विधिशास्त्रियों की भाषा में इसे यूं कहें कि, पुराने किस्म के स्वामित्व के विनाश की तीन सदियों की उपज है। एक देश में यह अपना विस्तार क्रमिक रूप से, थोड़ा-थोड़ा करके पहले से मौजूद शक्तियों के साथ तालमेल बिठाते हुए करता है, इस तालमेल के क्रम में उनका प्रभाव भी ग्रहण करता है, जैसे जर्मनी में; जबकि दूसरे देश में यह अपना लिफाफा फाड़ डालता है और अपने विरोध को हिंसक ढंग से कुचल देता है, जैसा फ्रांस में हुआ, जहां की महान क्रान्ति हमें अभी तक ज्ञात ऐतिहासिक सक्रियता का सर्वाधिक सघन और सर्वाधिक चकरा देने वाला उदाहरण

उपलब्ध कराती है, और इस प्रकार समाजवाद के महानतम विद्यालय का निर्माण करती है।

जैसा कि मैं पहले ही संकेत दे चुका हूं, आधुनिक अथवा पूंजीवादी इतिहास की रचना का सार-संक्षेप *घोषणापत्र* में काफी तेज और महारत भरी उक्तियों के जरिए पेश करता है और इसके क्रमिक पहलुओं, यानी पेशागत समूह (गिल्ड), वाणिज्य, विनिर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) और बड़े उद्योग के विश्लेषण के जरिए इसका एक सामान्य शरीर-संरचनात्मक परिचय भी दे देता है। यहां इस ढांचे से निकले जटिल चरित्र के कुछ अंगों और अनुप्रयुक्त पहलुओं की ओर भी कुछ संकेत किया गया, जैसे कानून, राजनीतिक रूप इत्यादि। उस सिद्धान्त के तत्व इसमें पहले ही से परोक्ष रूप में मौजूद हैं, जिसे बाद में वर्गसंघर्ष के उसूलों पर इतिहास की व्याख्या करनी थी।

इसी पूंजीवादी समाज ने, जिसने कि उत्पादन के ठीक पहले वाले रूप का क्रान्तिकारीकरण किया था, अपने ढांचे, यानी अर्थशास्त्र के मतवाद की रचना के जरिए अपनी विकास-प्रक्रिया पर रोशनी भी डाली थी। दरअसल इस शास्त्र का विकास आदिम समाजों की पहचान समझी जाने वाली अचेतनता में नहीं बल्कि नवजागरण के साथ शुरू होने वाली आधुनिक दुनिया के पूर्ण प्रकाश में हुआ था।

अर्थशास्त्र को हम जिस रूप में जानते हैं, उसका जन्म टुकड़ों-टुकड़ों में हुआ था, और इसकी उत्पत्ति उस प्रथम पूंजीपति वर्ग के साथ हुई थी, जो व्यापार और महान भौगोलिक खोजों की उत्पत्ति था, कहने का मतलब यह कि यह वाणिज्यवाद के प्रथम और द्वितीय दौरों का समकालीन था। और इसकी पैदाइश विशेष प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हुई थी : मसलय यह कि ब्याज लेना जायज है या नहीं? मुद्रा इकट्ठा करते जाना राष्ट्रों के लिए लाभप्रद है या नहीं? इसका बढ़ना जारी रहा, इसने स्वयं को धन सम्बन्धी समस्या के सर्वाधिक जटिल पहलुओं को सुलझाने में व्यक्त कर लिया; इसका विकास वाणिज्यवाद से विनिर्माण के दौर में संक्रमण के दौरान हुआ और इससे कहीं ज्यादा तेजी से और कहीं ज्यादा दृढ़ता के साथ विनिर्माण से भारी उद्योगों की तरफ होने वाले संक्रमण के दौरान। यह पूंजीपति वर्ग की बौद्धिक आत्मा थी, जो कि इस समय दुनिया पर विजय हासिल कर रहा था। फ्रांसीसी क्रान्ति की पूर्व संन्ध्या पर एक शास्त्र के रूप में इसकी सामान्य रूपरेखाएं लगभग परिभाषित हो चुकी थीं; सामन्तवाद, गिल्ड, विशेषाधिकार, श्रम का सुनिश्चित दायरों में सिमट कर रहना, आदि से विद्रोह के संकेत इसमें निहित थे, या यूं कहें कि मुक्ति (लिबर्टी) के संकेत। 'प्राकृतिक अधिकार' का सिद्धान्त, जिसका विकास ग्रोटियस के पूर्ववर्तियों से लेकर रूसो, कांट और 93 के संविधान तक हुआ, अर्थशास्त्र की ही नकल और उसक विचारधारात्मक अनुपूरक के अलावा कुछ और नहीं था। यह बात इस हद तक सही है कि अकसर मूल चीज और इसका अनुपूरक एक दिमाग में और लेखकों की प्रस्थापनाओं में संस्थापित रहते हैं; इसका लाक्षणिक उदाहरण प्रकृतिवादियों (फिजियोक्रेट्स) के रूप में देखा जा सकता है। जिस हद तक यह एक मतवाद था, उस हद तक यह उत्पादन, संचरण और वितरण की प्रक्रिया के तत्वों और रूपों को अलगाता था, उनकी अलग-अलग पहचान करता था और उनका विश्लेषण करता था, साथ ही यह उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में घटाता जाता था, जैसे मुद्रा, मुद्रा पूंजी, ब्याज, लाभ, भूमि-लगान, वेतन, इत्यादि। पेट्टी से लेकर रिकार्डो तक अपने विश्लेषणों को संचित करते हुए यह काफी आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ता रहा। अपने क्षेत्र की एकमात्र स्वामिनी के रूप में इसे टोकाटाकी का सामना विरले ही करना पड़ता था। इसकी शुरुआत दो परिकल्पनाओं के साथ हुई थी, जिनके औचित्य को प्रमाणित करने की तकलीफ इसने कभी नहीं उठाई थी, क्योंकि ये उसे स्वत:सिद्ध लगती थीं; इनका नाम था, सामाजिक व्यवस्था, जिसे यह प्राकृतिक व्यवस्था के रूप में चित्रित कर चुका था, और उत्पादन साधनों के मायने में व्यक्तिगत सम्पत्ति, जो उसके लिए मानवीय मुक्ति की समानार्थी और उसके साथ एकमेक थी; ये दो की दोनों चीजें उजरती श्रम का निर्माण करती थीं और उजरती मजदूरों की हीनता को एक अनिवार्य शर्त मानकर चलती थीं। दूसरे शब्दों में, इसे उन रूपों के ऐतिहासिक चरित्र की कोई पहचान नहीं थी, जिनका यह अध्ययन कर रहा था। अपने प्रतिपक्ष से इसकी मुलाकात प्रणाली-निर्माण के दौरान हुई। कई बेकार कोशिशों के बाद इसने तार्किक रूप से इसके निवारण का प्रयास किया, जैसा कि रिकार्डो ने भूमि-लगान से होने वाली आय के विरुद्ध अपने संघर्ष के दौरान किया था।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत हिंसक संकटों और तालाबन्दियों के शिकार मजदूरों द्वारा तात्कालिक प्रक्रिया के बतौर किये गये मजदूर आन्दोलनों के साथ हुई। 'प्राकृतिक व्यवस्था' का आदर्श उखाड़ फेंका गया है। सम्पत्ति ने भुखमरी को जन्म दिया है। सभी सामाजिक सम्बन्धों को बदलने के क्रम में बड़े उद्योगों ने दुर्गुणों, बुराइयों और दासता को बढ़ावा दिया है। एक शब्द में कहें तो इसने क्षरण को जन्म दिया है। प्रगति ने अधोगति का खतरा उत्पन्न कर दिया है। इसके लिए क्या किया जाये कि प्रगति किसी और चीज को नहीं बल्कि सिर्फ प्रगति को ही जन्म दे, यानी सम्पन्नता, स्वास्थ्य, सुरक्षा, शिक्षा, और सभी के लिए समान बौद्धिक विकास को? ओवन की चिन्ता पूर्णतया इसी प्रश्न के इर्द-गिर्द केन्द्रित है और फूरिए तथा सेंट साइमन के साथ इस एक लाक्षणिक बात को लेकर उनकी सहमति है कि वे भी आत्मत्याग और धर्म का आह्वान नहीं करते, और उनकी इच्छा साामजिक टकरावों का समाधान मनुष्य की प्रौद्योगिक और औद्योगिक ऊर्जा को घटाये बगैर, बल्कि उसे और बढ़ाते हुए करने की है। वे इन टकरावों को पार कर जाना चाहते हैं। यही वह रास्ता है, जिस पर चलते हुए ओवन कम्युनिस्ट हो गये, और वे ही पहले व्यक्ति हैं, जो आधुनिक उद्योग द्वारा निर्मित परिवेश में कम्युनिस्ट बने। यह टकराव पूर्णतया उत्पादन पद्धति और वितरण पद्धति के बीच के अन्तरविरोध पर टिका हुआ है। लिहाजा एक ऐसे समाज में, जो उत्पादन सामूहिक रूप से करता हो, इस टकराव को समाप्त ही हो जाना चाहिए। ओवन काल्पनिकतावादी (यूटोपियन) हो जाते हैं। इस सम्पूर्ण समाज को प्रायोगिक आधार पर निर्मित किये जाने की जरूरत है, और इसी के प्रति एक नायकत्वपूर्ण स्थिरता और अद्वितीय आत्मत्याग के साथ वे अपनी सारी जिन्दगी समर्पित कर देते हैं, साथ ही इस क्रम में वे अपने चिन्तन के ब्योरों को लेकर एक गणितीय परिशुद्धता भी हासिल करते हैं।

एक बार उत्पादन और वितरण के बीच के टकराव की खोज हो जाने के बाद इंगलैण्ड में टॉमसन से लेकर ब्रे तक समाजवाद पर लिखने वालों की एक ऐसी श्रृंखला ही पैदा हो गई, जो ठीक-ठीक काल्पनिकतावादी भी नहीं थी, बल्कि जिसे कुछ एकतरफा सोच के रूप में ही चिन्हित किया जा सकता है क्योंकि इसका उद्देश्य सभी उचित उपायों के जरिए समाज के प्रकट दुर्गुणों को सुधारना है।[22]

दरअसल उन सभी लोगों के लिए, जो समाजवाद की डगर पर चल रहे होते हैं, पहली अवस्था उत्पादन और वितरण के बीच के अन्तरविरोध की खोज की होती है। उसके तत्काल बाद उभरते हैं ये असाध्य प्रश्न। भुखमरी का खात्मा क्यों न हो? तालाबंदियों का खात्मा क्यों न हो? मालों में निहित श्रम को ध्यान में रखते हुए उनके प्रत्यक्ष विनिमय का ही पक्ष क्यों न लिया जाये? मजदूर को उसके श्रम का समूचा उत्पाद ही क्यों न दे दिया जाये, वगैरह। ये मांगें जीवन की पक्की-पोढ़ी और

प्रतिरोधपूर्ण चीजों को तर्कों में ढाल देती हैं और इन तर्कों का उद्देश्य हो जाता है पूंजीवादी प्रणाली के साथ संघर्ष में जाना, जो एक ऐसी मशीन की शक्ल ले लेती है, जिसमें से कुछ टुकड़े, पहिए और गीयर वगैरह या तो निकाले जा सकते हैं या इसमें जोड़े जा सकते हैं।

आलोचनात्मक कम्युनिज्म के पक्षधर निश्चय ही इन प्रवृत्तियों से स्वयं को अलग कर चुके हैं। वे शास्त्रीय अर्थशास्त्र के उत्तराधिकारी और उसे जारी रखने वाले रहे हैं।[23] मौजूदा समाज की संरचना का सिद्धान्त क्या है? इसके तत्वों और इसके अन्तरसम्बन्धों का ठीक-ठीक हिसाब लगाये बगैर और इसकी व्याख्या करने वाले सिद्धान्त का मूलभूत अध्ययन किये बगैर कोई व्यक्ति इससे व्यवहार में, राजनीति में और क्रान्ति में नहीं लड़ सकता। ये रूप, ये तत्व और ये अंतरसम्बन्ध कुछ खास ऐतिहासिक परिस्थितियों में उपजते हैं लेकिन ये एक प्रणाली और आवश्यकता का निर्माण करते हैं। ऐसी प्रणाली के विनाश की उम्मीद तार्किक निषेध के जरिए कैसे की जा सकती है और शुद्ध तर्क के जरिए इसका निवारण कैसे किया जा सकता है? और भुखमरी का विनाश? लेकिन यह पूंजीवाद की अनिवार्य शर्त है। श्रम का समूचा उत्पाद मजदूर को सौंप दिया जाये? लेकिन पूंजी के मुनाफे का क्या होगा, और मालों की खरीद में खर्च की गई मुद्रा बढ़ेगी कैसे, यदि उन सभी मालों के बीच, जिनसे इसकी मुलाकात होती है और जिनके जरिए यह विनिमय को सम्पन्न करती है, एक ऐसा खास माल न हो, जो खरीदने वाले को उसकी लागत के बदले में ज्यादा न देता हो; और क्या यह खास माल, संक्षेप में, एक उजरती मजूदर की श्रमशक्ति ही नहीं है? आर्थिक प्रणाली कोई तर्क से बनी हुई पेशी नहीं बल्कि यह तथ्यों का योग और उनका एक जटिल समुच्चय है, जो सम्बन्धों की एक जटिल पेशी को जन्म देता है। यह मान कर चलना एक मूर्खतापूर्ण बात होगी कि तथ्यों की यह प्रणाली, जिसकी स्थापना शासकवर्ग ने सदियों में हिंसा, संतत्व प्रतिभा और विज्ञान के जरिए की है, उसे वह स्वयं इसके विनाश की स्वीकारोक्ति कर लेगा और गरीबों की मांगों तथा उनके वकीलों के तर्कों से प्रभावित होकर उनके सामने घुटने टेकते हुए इसे खुद-ब-खुद नष्ट कर देगा। बाकी सारी चीजों को उखाड़ फेंकने की मांग किये बगैर आप भुखमरी को दबाने की मांग कैसे कर सकते हैं? इस समाज से यह मांग करना कि यह अपने उस कानून को बदल दे, जो इसकी सुरक्षा पंक्ति का निर्माण करता है, एक अटपटी बात होगी। इस राज्य से यह मांग करना कि यह इस समाज और इस कानून का लठैत होना और इसकी रक्षापंक्ति बनना बंद कर दे, अटपटेपन के गर्त में ही छलांग लगाना होगा।[24] वह एकतरफा समाजवाद, जो स्पष्टतः काल्पनिकवादी हुए बगैर इस परिकल्पना से अपनी शुरुआत करता है कि समाज क्रान्ति के बगैर, या यूं कहें कि स्वयं समाज के सामान्य बुनियादी ढांचे में कोई मौलिक बदलाव लाये बगैर भी अपने अंदर कुछ भूल सुधार की इजाजत दे देता है, महज निर्बुद्धिपने का एक नमूना भर है। यह अन्तरविरोध चीजों में निहित प्रक्रिया के सारे कड़े कानूनों के साथ अपना साक्ष्य प्रूधों में प्रस्तुत कर चुका है, जो कुछ एकतरफा अंग्रेज समाजवादियों के काम को अनजाने में ही पुनरुत्पादित करते हुए या सीधे उनकी नकल करते हुए इतिहास को एक परिभाषा और एक न्याय-वाक्य से हथियारबन्द होकर रोकने, या बदलने की ख्वाहिश पाले हुए थे।

आलोचनात्मक कम्युनिज्म के प्रारम्भकर्ताओं ने इस तथ्य को मान्यता दी कि इतिहास को अपनी राह चलने का अधिकार है। पूंजीवादी युग एक दिन अपनी उम्र पूरी कर सकता है और करेगा ही। लेकिन जब तक यह जिन्दा है, इसके कुछ अपने नियम हैं। इनकी सापेक्षता इस तथ्य में निहित है कि वे कुछ सुनिश्चित परिस्थितियों में उदित और विकसित होते हैं, लेकिन उनकी सापेक्षता सीधे-सीधे अनिवार्यता का विलोम अथवा साबुन के बुलबुले की तरह की आभासी चीज नहीं है। ये नियम सामाजिक परिवर्तन के तथ्य के चलते ही अदृश्य हो सकते हैं और होंगे, लेकिन वे ऐसे ऐच्छिक सुझावों के सामने घुटने टेकने वाले नहीं हैं, जो एक बदलाव की मांग करते हैं, एक सुधार की घोषणा करते हैं, या एक कार्यक्रम सूत्रबद्ध करते हैं। कम्युनिज्म की सर्वहारा वर्ग के साथ लक्ष्य की साझीदारी इसलिए बनती है क्योंकि इसी में वह क्रान्तिकारी शक्ति मौजूद है, जो मौजूद सामाजिक रूप में प्रस्फुटित होती है, इसे तोड़ती है, हिलाती है और मौजूदा सामाजिक रूप को विघटित करती हुई धीरे-धीरे करके इसमें नई परिस्थितियों का सृजन करती है, या ज्यादा ठोस तौर पर यूं कहें कि इस वर्ग का आन्दोलन ही हमें यह दिखाता है कि नई परिस्थितियां तो पहले से ही पैदा हो चुकी हैं।

वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त की खोज की गई। इसे पूंजीपति वर्ग की उत्पत्ति (जिसकी अंतर्निहित प्रक्रिया अर्थशास्त्र के विज्ञान द्वारा प्रदर्शित की जा चुकी थी) और सर्वहारा वर्ग की इस नई छवि, दोनों ही में प्रतिबिम्बित होते देखा गया। आर्थिक नियमों की सापेक्षता की खोज की गई, लेकिन ठीक इसके साथ ही आपेक्षिक अनिवार्यता की समझ भी हासिल की गई। यहीं मौजूद है इतिहास की नई भौतिकवादी अवधारणा की समूची विधि और उसका औचित्य। जो लोग इसे इतिहास की आर्थिक व्याख्या बताते हुए ऐसा मानते हैं कि उन्होंने इसे पूरी तरह समझ लिया है, वे लोग खुद को धोखा देते हैं। ऐसा श्रेणीकरण ऐसे कुछ विश्लेषणात्मक प्रयासों[25] के लिए और सिर्फ उन्हीं के लिए उचित है, जो एक तरफ सर्वथा अलग-अलग रूप में, और आर्थिक रूपों और श्रेणियों को रखते हैं और दूसरी तरफ कानून, कानून-निर्माण, राजनीति और परम्पराओं को— और फिर एक अमूर्त तरीके से जीवन के विविध पक्षों पर पड़ने वाले इनके पारस्परिक प्रभावों का अध्ययन करने निकलते हैं। हमारी स्थिति सर्वथा भिन्न है। इतिहास की हमारी अवधारणा जैविक किस्म की है। सामाजिक जीवन की एकता अपनी सम्पूर्णता में हमारे मस्तिष्कों के सामने मौजूद विषय-वस्तु है। यह अर्थशास्त्र ही है जो विघटित होकर विभिन्न संरचनात्मक अवस्थाओं में परिलक्षित होता है और हर एक में बाकी सभी के लिए एक उपसंरचना की भूमिका अदा करता है। अंततः यह हमारा तरीका नहीं है कि हम एक अमूर्त शैली में तथाकथित आर्थिक कारक को अलग-थलग कर लें और उसे बाकी सभी कारकों पर विस्तारित कर दें, जैसा कि हमारे विरोधी कल्पना करते हैं, बल्कि दरअसल यह तरीका यह है कि हम बाकी सभी चीजों से पहले अर्थशास्त्र की एक ऐतिहासिक अवधारणा निर्मित करते हैं, और फिर इसके जरिए अन्य परिवर्तनों की व्याख्या करते हैं। यहीं मौजूद है पढ़ी-लिखी अज्ञानताओं के सभी खेमों से आने वाली आलोचनाओं का हमारा जवाब, और इसका अपवाद वे समाजवादी भी नहीं हैं, जिनकी जमीन पर्याप्त रूप से पोढ़ी नहीं है और जो भावुकतावादी या उन्मादी किस्म के इंसान हैं। और अपनी स्थिति की व्याख्या हम उसी तरह करते हैं, जैसे मार्क्स ने *'पूंजी'* में की थी, जो कि आलोचनात्मक कम्युनिज्म का प्रथम ग्रंथ नहीं बल्कि पूंजीवादी अर्थशास्त्र का अंतिम महाग्रंथ है।

घोषणापत्र जिस समय लिखा गया था, उस समय तक ऐतिहासिक क्षितिज शास्त्रीय दुनिया, मामूली तौर पर ही किये गये प्राचीन जर्मनी के अध्ययन और बाइबिलीय परम्परा से परे नहीं जाता था, और स्वयं बाइबिलीय परम्परा भी अभी हाल ही में इहलौकिक इतिहास की गद्यात्मक शर्तों पर ढाली गई थी। हमारा ऐतिहासिक क्षितिज उसकी तुलना में एक अलग पैमाने पर पहुंच चुका है क्योंकि इसका विस्तार

आर्य प्राचीनताओं और मिस्र और मेसापोटामिया के प्राचीन भंडारों तक हो चुका है, जो सेमिटिक परम्पराओं से भी कहीं पीछे तक जाते हैं। और यह और भी पीछे जाते हुए प्रागैतिहास, या यूं कहें कि अलिखित इतिहास तक पहुंच चुका है। मोर्गन ने हमें प्राचीन समाज का, यानी राजनीति-पूर्व समाज का एक ज्ञान दिया था, और इस तरह यह समझने की कुंजी भी मुहैया कराई थी कि इससे बाद के सभी रूपों, यानी एकात्मक विवाह, पितृसत्तात्मक परिवार का विकास, सम्पत्ति का उदय, पहले जेनों, फिर परिवार, अंत में व्यक्ति और फिर जेंटों के गठबंधन के क्रम में क्रमशः उस चीज की स्थापना कैसे होती है, जिसे राज्य का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। इन सभी चरणों की व्याख्या श्रम के साधनों और उपकरणों की खोज और उनके उपयोग में प्रौद्योगिक प्रक्रिया के ज्ञान के जरिए की गई है और साथ ही सामाजिक जटिल समुच्चय पर इस प्रक्रिया के प्रभावों की समझ के जरिए भी, जो कि इसे कुछ खास दिशाओं में आगे बढ़ने और कुछ खास अवस्थाओं को पार कर जाने के लिए बाध्य करते हैं। इन खोजों को, खासकर उन विशिष्ट शैलियों के अध्ययन के जरिए, जिनके अनुसार संसार के विभिन्न भागों के बर्बर युग से लेकर सभ्यता तक की यात्रा पूरी की गई है, अभी भी कई बिन्दुओं पर सुधारा जा सकता है। लेकिन अब के बाद से एक तथ्य निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है, और वह है यह कि हमारे पास आदिम साम्यवाद से लेकर रोम और एथेंस की जटिल संरचनाओं तक के मानवीय विकासों का सामान्य भ्रूणरूपी दस्तावेज मौजूद है। जनगणना दस्तावेजों के अनुसार रोम और एथेंस में वर्गों में व्यवस्थित नागरिकों की संरचना मौजूद है, जो हरकुलिस के स्तम्भों (कॉलम्स) के दौरान मौजूद नहीं थी। और यह बात शोध की दृष्टि से लिखित परम्परा के रूप में मौजूद है। *घोषणापत्र* जिन वर्गों को एक प्रस्थापना के रूप में मान कर चला है, उनका विशिष्ट स्वरूप उनकी निर्माण प्रक्रिया के दौरान ही सामने आया है और स्वयं इसमें ही तर्कों की उस श्रृंखला और उन विभिन्न आर्थिक कारणों की पहचान की जा सकती है, जो हमारे युग के लिए एक जगह पा लेने का सपना एक लम्बी और विशद प्रक्रिया के क्रम में बोध में उतारा जा चुका है। मनुष्यों के बीच की विषमता की उत्पत्ति की समस्या का समाधान खोज लिया गया है, जिसे रूसों ने एक मौलिक द्वंद्वात्मकता के तर्कों से खोजने की कोशिश की थी, लेकिन जिसकी बुनियाद बहुत थोड़े से वास्तविक तथ्यों पर ही टिकी थी।

दो बिन्दुओं पर, जो कि हमारे लिए चरम बिन्दु ही हैं, मानवीय प्रक्रिया स्पर्शनीय रूप से स्पष्ट है। इनमें से एक है पूंजीपति वर्ग का उदय, जो अभी हाल ही में हुआ है, और जिसे अर्थशास्त्र के विज्ञान की भरपूर रोशनी में देखा जा सकता है; दूसरा है समाज की प्राचीन संरचना, जो, यदि मोर्गन की शब्दावली इस्तेमाल करें तो, उच्चतर बर्बर अवस्था से सभ्यता (राज्य के युग) तक के संचरण को चिन्हित करती है। इन दोनों युगों के बीच आज के दिन तक जो कुछ भी खोजा जा सका है, वह रोजनामचा लिखने वालों, जिन्हें उचित तौर पर इतिहासकार कहा जाता है, न्यायाधीशों, धर्मशास्त्रियों और दार्शनिकों की विषयवस्तु बना है। इस समूचे दायरे को एक नई ऐतिहासिक अवधारणा के साथ फिर से खंगालना और उन्हें पुनर्जीवित करना बच्चों का खेल नहीं है। इनका श्रेणीकरण करने में हमें कुछ ज्यादा ही हड़बड़ी दिखाने से बचना चाहिए। बिलकुल शुरुआत में हमें हर युग के सापेक्ष अर्थशास्त्र को समझ लेना चाहिए,[26] ताकि उसके आधार पर विशिष्ट रूप से उन वर्गों की व्याख्या की जा सके, जो उसके भीतर विकसित हो रहे होते हैं। ऐसा करते हुए हमें परिकल्पनात्मक और अनिश्चित तथ्यों से बचना चाहिए और इसका सचेत प्रयास करना चाहिए कि हर युग पर हम हमारी अपनी परिस्थितियों को ही न थोप दें। इसके लिए आवश्यकता है सधी हुई उंगलियों की। मसलन, *घोषणापत्र* जो यह कहता है कि पूंजीपति वर्ग की प्रथम उत्पत्ति उन मध्ययुगीन भू-दासों के आगे बढ़ने के क्रम में हुई, जो धीरे-धीरे करके शहरों में समेटे जा चुके थे, कोई सामान्य सत्य नहीं है। उत्पत्ति की यह पद्धति जर्मनी के लिए और उन देशों के लिए, जिन्होंने इसी प्रक्रिया को जस का तस दोहरा दिया है, विशिष्ट किस्म की है। ऐसा न तो इटली में हुआ है, न दक्षिणी फ्रांस में और न ही स्पेन में हुआ है, जो वे क्षेत्र हैं, जहां से पूंजीपति वर्ग का या यूं कहें कि आधुनिक सभ्यता का प्रथम इतिहास शुरू हुआ था। इस पहले दौर में पूंजीवादी समाज की वे सभी पूर्वशर्तें मिलती हैं, जिनके विषय में मार्क्स ने हमें *पूंजी* के प्रथम खण्ड में दी गई एक टिप्पणी में बता रखा है।[27] यह पहला दौर, जो अपने पूर्ण रूप तक इतालवी नगरपालिकाओं के रूप में पहुंचा, पूंजीवादी संचय की उस प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्माण करता है, जिसकी व्याख्या मार्क्स ने इंगलैण्ड के उद्‌विकास के इतने सारे विशिष्ट ब्योरों के साथ की है। लेकिन मैं अब यहीं रुक जाऊंगा।

सर्वहाराओं की नजर में भविष्य के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता। जिसमें भविष्य की परिस्थितियां स्वतःस्फूर्त रूप से विकसित हुई हैं और अब परिपक्व होती जा रही हैं। अतीत के ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग और उसमें अभिरुचि सिर्फ इस वजह से है कि वह वर्तमान पर रोशनी डालता है और उसकी व्याख्या करता है। फिलहाल यह कहना ही काफी है कि आलोचनात्मक कम्युनिज्म के प्रारम्भकर्ताओं ने पचास वर्ष पूर्व नये और सुनिश्चित इतिहास दर्शन की अवधारणा निर्मित कर ली थी। देखने का यह तरीका जल्द ही स्वयं को स्थापित कर लेगा क्योंकि इसके विपरीत कुछ भी सोच पाना असम्भव हो जायेगा; और इस खोज की नियति वही होगी, जो कोलम्बस के अंडे की हुई थी। और सम्भवतः जिस समय तक वैज्ञानिकों की एक समूची सेना इस अवधारणा का अनुप्रयोग समूचे इतिहास के सतत आख्यान में कर रही होगी, उसके पहले ही सर्वहारा वर्ग इस स्थिति में आ चुका होगा कि पूंजीवादी युग के बारे में सभी लोग ऐसा मानने लगेंगे कि इसे पीछे ही छोड़ देना चाहिए क्योंकि हकीकत में भी यह लगभग ऐसी ही स्थिति में आ चुका होगा। *किसी चीज को समझना उसे पीछे छोड़ देना है।* (हीगेल)

पचास वर्ष पूर्व जब घोषणापत्र ने दया की भावना जगाने वाले अभागे सर्वहाराओं को पूंजीपति वर्ग के पूर्व निर्धारित गोरकनों (कब्र खोदने वालों) में बदला था, तब इस दफनाने वाली जगह का दायरा इसके लेखकों की कल्पना में भी काफी छोटा रहा होगा, जो अपनी शैली की गम्भीरता के बावजूद कभी भी अपने बौद्धिक आवेग के आदर्शवाद को छिपाते नहीं थे। उनकी कल्पना में यह संभावित दायरा सिर्फ फ्रांस और इंगलैण्ड को ही खुद में समेट पा रहा होगा, अन्य देशों, मसलन जर्मनी तक की सीमाओं को भी यह विरले ही छूता रहा होगा। आज यह दायरा हमें अत्यन्त विशाल नजर आता है और इसकी वजह है पूंजीवादी उत्पादन रूप का तीव्र और विराट पैमाने का विस्तार, जो अपनी अपरिहार्य प्रतिक्रिया के रूप में सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन को सार्वभौमिक और बहुगुणित बना रहा है और उस परिदृश्य को भारी विस्तार देता जा रहा है, जिसमें कम्युनिज्म के आगमन की तसवीर देखी जा सकती है। दफनाए जाने की जगह वहां तक विस्तारित होती जा रही है, जहां तक हमारी नजर जा सकती है। यह जादूगर जितनी ही ज्यादा उत्पादक शक्तियों का आह्वान कर रहा है, उतना ही ज्यादा यह उन शक्तियों को तैयार और उत्तेजित कर रहा है, जिन्हें एक दिन अनिवार्यतः उसके खिलाफ विद्रोह करना ही है।

अतीत में वे सभी लोग, जो कम्युनिस्ट

थे, भले ही वे विचारधारात्मक, धार्मिक, काल्पनिकतावादी या यहां तक कि मसीहावादी और प्रलयवादी ही क्यों न रहे हों, हमेशा यही मानते थे कि न्याय, समानता, और प्रसन्नता का राज्य एक दिन संसार के रंगमंच पर जरूर उपस्थित होगा। आज संसार पर सभ्यता का आक्रमण हो चुका है और हर जगह वह समाज विकसित हो रहा है, जो वर्ग टकरावों और वर्ग प्रभुत्व के बल पर जी रहा है, यानी उत्पादन का पूंजीवादी रूप (जापान इसके एक उदाहरण का काम कर सकता है)। एक, और उसी राज्य के तहत दो राष्ट्रों की उपस्थिति, जिसका वर्णन प्लेटो द्वारा किया जा चुका है, एक शाश्वत रूप ले चुका है। संसार पर कम्युनिज्म की जीत कल ही नहीं हो जायेगी। लेकिन जैसे-जैसे पूंजीवादी दुनिया का दायरा बढ़ रहा है, ऐसे लोगों की संख्या भी बढ़ती जा रही है, जिनका इसमें प्रवेश हो चुका है, और जो उत्पादन के निम्नतर रूपों को पीछे छोड़ते जा रहे हैं,—और इस क्रम में कम्युनिज्म को लेकर जारी प्रयास अधिकाधिक दृढ़ता और सटीकपन हासिल करता जा रहा है; खासतौर पर ऐसा इसलिए हो रहा है, क्योंकि होड़ का दायरा और संघर्ष भी बढ़ता जा रहा है, और इसीलिए साम्राज्यवादी विजयों और औपनिवेशीकरण के चलते आये विचलन भी कमजोर पड़ते जा रहे हैं। सर्वहारा इंटरनेशनल, जिसका पचास वर्ष पूर्व *कम्युनिस्ट लीग* एक भ्रूणरूप ही था, अब अन्तरमहाद्वीपीय हो चुका है, और हर मई माह के पहले दिन यह इस बात को सुनिश्चित करता है कि समूची दुनिया के सर्वहारा वास्तव में और सक्रिय तौर पर एकताबद्ध हैं। पूंजीपति वर्ग के भावी गोरकन और उनकी आने वाली कई पीढ़ियां *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* की तिथि को निश्चय ही हमेशा याद रखेंगी।

सन्दर्भ और टिप्पणियां

1. मैं यहां उस रूप का उल्लेख कर रहा हूं, जिसे *घोषणापत्र* व्यंग्यपूर्वक ''जर्मन अथवा 'सच्चा' समाजवाद'' के रूप में इंगित करता है। यह अनुच्छेद, जो उन लोगों की समझ से परे होगा, जो उस दौर के जर्मन दर्शन से सुपरिचित नहीं हैं, खासकर इसकी कुछ प्रवृत्तियों से जो घोर पतन की शिकार हो गई थीं, स्पेनिश संस्करण में ठीक ही छोड़ दिया गया है।

2. 'सामूहिक सम्पत्ति' की जगह इस अभिव्यक्ति 'उत्पादन साधनों का लोकतांत्रिक समाजीकरण' का उपयोग करना बेहतर है, क्योंकि पहली वाली अभिव्यक्ति एक खास सैद्धान्तिक गलती लिये हुए है। पहली बात तो यही कि यह एक वास्तविक अर्थशास्त्रीय तथ्य को एक विधिशास्त्रीय अभिव्यक्ति के जरिए विस्थापित कर देती है, इससे भी बड़ी बात यह कि बहुतेरे लोगों के दिमाग में इसे लेकर एकाधिकारी कम्पनियों में हो रही वृद्धि के साथ एक दिग्भ्रम पैदा हो सकता है, साथ ही ऐसा दिग्भ्रम बढ़ रही नागरिक सुविधाओं को लेकर और उत्पीड़क वर्गों के हाथों में और भी ज्यादा उत्पादन साधन सौंपने के खयाल से बार-बार अपनाये जा रहे राज्य समाजवाद के उपाय को लेकर भी हो सकता है।

3. मूल संस्करण (लंदन, फरवरी 1848) में आक्टेवो साइज के पचीस पृष्ठ हैं, जिसकी एक प्रति मुझे देने के लिए मैं एंगेल्स की विशेष कृपा का ऋणी हूं। सरसरी तौर पर यहां मुझे यह भी बता देना चाहिए कि मैंने किसी भी किस्म की ग्रंथ सूची सम्बन्धी टिप्पणी, सन्दर्भ और उल्लेख आदि देने के लालच का निरन्तर प्रतिरोध किया है, क्योंकि यह सब करने की स्थिति में मैं एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ या किताब लिखने बैठ जाता, एक सरल सा निबन्ध नहीं। मुझे उम्मीद है कि पाठक मेरी इस बात पर यकीन करेंगे कि मैंने इस निबन्ध में ऐसी कोई भी व्याख्या अथवा तथ्य या मत सम्बन्धी बयान नहीं दिये हैं जिसकी पुष्टि मैं आधिकारिक सूत्रों के जरिए न कर सकूं।

4. 'उमरिसे जू आइनेर क्रिटिक डेर नेशनल ओकोनामी' जर्मन-फ्रेंच ईयर बुक पेरिस, 1844, पृ. 85-114 में छपी थी; और उनकी पुस्तक *दि कंडीशन आफ दि वर्किंग क्लास इन इंगलैण्ड* लीपजिग से 1845 में आई थी।

5. पिछले कुछ वर्षों में कुछ विधिशास्त्रीय ऐसा मानने लगे हैं कि नागरिक संहिता में कुछ पुनर्संयोजन के जरिए उन्होंने सर्वहारा वर्ग की परिस्थितियों में सुधार की दृष्टि से कुछ व्यावहारिक उपाय खोज निकाले हैं। लेकिन उन्होंने पोप से फ्री थॉट लीग की अध्यक्षता को स्वीकारने के लिए क्यों नहीं कहा? इनमें सर्वाधिक प्रसन्न है वह इतालवी लेखक जो वर्गसंघर्ष में भी दिलचस्पी लेता रहा है, और जो पूंजी की इस अधिकारों की स्थापना करने वाली संहिता के समानान्तर ही श्रम के अधिकारों की सुरक्षा की गारण्टी करने वाली एक संहिता की भी मांग कर रहा है।

6. यह विकास मार्क्स की **पूंजी** में दिया गया है जिसे इतिहास का दर्शन माना जा सकता है।

7. इस निबन्ध के इतालवी संस्करण के प्रकाशन के बाद ही कुछ समय के लिए मैं *न्यू राइनिश जाइटुंग* का एक सम्पूर्ण संग्रह अपने पास रख सका था, जिसके लिए मैं बर्लिन के पार्टी आर्काइव का शुक्रगुजार हूं। इसे पढ़ने से जो प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा, वह अपेक्षा की सारी सीमाओं से परे था। यह वांछनीय है कि इस अत्यन्त दुर्लभ हो चुकी पत्रिका का या तो पूर्ण पुनर्मुद्रण किया जाये या फिर इसके कुछ सर्वाधिक कुछ महत्वपूर्ण लेखों और पत्रों का पुनर्प्रकाशन हो।

8. मिजरी द ला फिलासफी, कार्ल मार्क्स, पेरिस और ब्रसेल्स, 1847; नया संस्करण, पेरिस, गियार्ड और ब्रियेर, 1896

9. इसे उन लेखों को मिलाकर तैयार किया गया है, जो *न्यू राइनिश जाइटुंग* में प्रकाशित हुए थे, और जो ब्रसेल्स के जर्मन वर्किंगमेन्स सर्किल में मार्क्स द्वारा दिये गये भाषणों की पुन:प्रस्तुति करते थे। इसके बाद से इसका प्रकाशन एक प्रचार पुस्तिका के रूप में होता है।

10. देखें *घोषणापत्र* का अध्याय दो।

11. जुर *क्रिटिक डेर पोलिस चेन ओकोनामी*, बर्लिन, 1859, प्रस्तावना के पृ. 4-6 (इस सार संक्षेप को फ्रांसीसी से स्वयं अनुवाद करने के बजाय मैंने इसके लिए कामरेड हिच की सहायता ली है, जिन्होंने इसे सीधे मार्क्स की अपनी जर्मन अभिव्यक्ति से ही अनूदित कर दिया है। सी.एच.के.)

12. यह लेख जो *न्यू राइनिश पोलिटिशोकोनामिश रिव्यू* में प्रकाशित हुए थे, हाल ही में एक पुस्तिका की शक्ल में *डाई क्लासेनकाम्फ इन फ्रांकरीख 1848 बिस 1850* शीर्षक से फिर प्रकाशित किये गये हैं (बर्लिन, 1895)। इस छोटी सी पुस्तक की प्रस्तावना एंगेल्स ने लिखी है।

13. पहली बार न्यूयार्क में एक समीक्षा के तहत प्रकाशित। इसके बाद से जर्मनी में कई संस्करण प्रकाशित 1891 में फ्रांसीसी अनुवाद, डेलोरी, लील्ल द्वारा प्रकाशित।

14. *''फ्रांस में वर्गसंघर्ष : 1848-50''* की भूमिका में और कुछ अन्य जगहों पर भी एंगेल्स ने नई क्रान्तिकारी कार्यनीति के वस्तुगत विकास पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है। (यह याद कर लेना भी ठीक रहेगा कि इस निबन्ध का पहला इतालवी अनुवाद 18 जून को प्रकाशित हुआ था और दूसरा 15 अक्टूबर 1895 को।)

15. मेरी राय में ठीक यही मामला फ्रांस में है। कृषि कार्यक्रम पर हाल की बहसें जो जर्मनी में सामाजिक जनवाद की व्याख्या हेतु प्रस्तुत की गईं, उन तर्कों की पुष्टि करती हैं जिनके बारे में मैंने यहां संकेत किया है।

16. जर्मनी में मामला दूसरा था। समाजवाद वहां 1830 के बाद आयातित किया गया था और तुरन्त ही वह तात्कालिक साहित्य

(शेष पृष्ठ 83 पर)

आज के समय में कम्युनिस्ट घोषणापत्र : आज भी सही, आज भी खतरनाक, आज भी नाउम्मीदों की उम्मीद

रेमण्ड लोट्टा

कम्युनिस्ट घोषणापत्र से मेरा प्रथम परिचय 1960 के दशक के अन्तिम वर्षों में हुआ था। उस समय मैं उग्रपरिवर्तनवादी (रैडिकल) विचारों का छात्र था और मेरी पीढ़ी मार्क्स और मार्क्सवाद की खोज कर रही थी। मैं यह स्वीकार करूंगा कि उस समय मैं इसे पूरी तरह समझ नहीं पाया था। लेकिन, मुझे इतना जरूर याद है कि मैं दो चीजों से बेहद प्रभावित हुआ था—**कम्युनिस्ट घोषणापत्र** ने इतिहास का एक विराट दृश्यपटल मेरे सामने उपस्थित किया और इसमें न केवल अतीत का विश्लेषण था वरन् यह उस भविष्य के बारे में भी बात करता था, समाज जिस दिशा में अग्रसर है। घोषणापत्र का यह दो टूक नजरिया बेहद प्रभावशाली था। यह वाक्यांश मेरी स्मृतियों में बैठा हुआ है—''परिवार और शिक्षा के बारे में बुर्जुआ वर्ग का गला फाड़कर चिल्लाना।'' मैं उस समय 19 वर्ष का था और मुझे यह बहुत भाया। और मार्क्स उस समय सिर्फ 29 वर्ष के थे, जब उन्होंने इसे लिखा।

एक दस्तावेज जिसने इतिहास को बदल डाला

यह मध्य-फरवरी 1848 की बात है, जब इस युवा क्रान्तिकारी आन्दोलनकर्ता, कार्ल मार्क्स ने एक महत्वपूर्ण पुस्तिका का अन्तिम प्रारूप तैयार किया। एक छोटे से क्रान्तिकारी समूह द्वारा उन्हें और उनके सहकर्मी फ्रेडरिक एंगेल्स को एक राजनीतिक दस्तावेज तैयार करने का जिम्मा सौंपा गया था। इसके पीछे सोच यह थी कि विभिन्न देशों के क्रान्तिकारियों का एकीकरण और मार्गदर्शन हो सके और जनसमुदाय को एकजुट किया जा सके।

आप जानते हैं कि 1830 और 1840 के दशक यूरोप में उथल-पुथल के वर्ष थे। इस महाद्वीप के पुराने साम्राज्य और निरंकुश राज्य अपना अस्तित्व बचाने के लिए जूझ रहे थे। असन्तोष और विरोध बढ़ता जा रहा था। उसी दौर में, शोषण के कारखानों और औद्योगिक मलिन बस्तियों के साथ पूंजीवाद का नया कारखाना तंत्र भी फैलता जा रहा था। इंग्लैण्ड में यह अपनी जकड़ मजबूत बना चुका था और फ्रांस एवं जर्मनी में इसकी शुरुआत हो गयी थी। किसान जगह-जमीन से उजड़ते जा रहे थे। श्रमजीवियों का एक नया वर्ग, सर्वहारा वर्ग विकसित हो रहा था... और साथ ही उसकी बगावती चेतना भी विकसित हो रही थी।

इन परिस्थितियों में इस दस्तावेज को छपवाना अत्यावश्यक हो गया था। लेकिन मार्क्स और एंगेल्स ने पहले प्रारूप पर, जो धर्मोपदेशों की भांति प्रश्नोत्तरी के रूप में लिखा गया था, स्वीकृति की मुहर लगाने से इन्कार कर दिया था। ऐसे में, एंगेल्स ने स्वयं और मार्क्स को इसका पुनर्लेखन करने के लिए प्रस्तुत किया। उन्होंने मार्क्स को लिखा कि ''मेरे ख्याल से सर्वोत्तम बात यह होगी कि इसके प्रश्नोत्तरी रूप से पिण्ड छुड़ा लिया जाये और इसका शीर्षक दिया जाये—*कम्युनिस्ट घोषणापत्र।''*

और इस तरह मार्क्स ने सर्वकालिक महत्व के घोषणापत्र की रचना की। यह अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक स्वप्नदर्शी आधारभूत दस्तावेज था। यह इस चीज का एक संक्षिप्त निरूपण है कि इतिहास का निर्माण वास्तव में किस प्रकार हुआ है—यह कि इतिहास महान व्यक्तियों के कारनामों, या ईश्वर की इच्छा या महज दुर्घटनाओं की एक श्रृंखला का परिणाम नहीं है। नहीं, इतिहास विभिन्न सामाजिक समूहों या वर्गों के संघर्षों से बनता है और इस वर्गसंघर्ष की जड़ें समाज की आर्थिक बुनियाद में निहित हैं। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* सर्वहारा क्रान्ति के उद्देश्यों और लक्ष्यों का सर्वप्रथम और संक्षिप्ततम सूत्रीकरण भी है। और इस सैद्धान्तिक कृति में कविता और भावावेगों की अनुगूंजे भी सुनायी देती हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* ने इतिहास के मार्ग को बदल दिया है। सम्भवत: यह अब तक लिखा गया सर्वाधिक प्रभावकारी राजनीतिक दस्तावेज है, जिसे दुनिया भर में करोड़ों-करोड़ लोग पढ़ते हैं। यह आज भी एक गैरकानूनी पुस्तक मानी जाती है। तीन साल पहले जब मैं फिलिप्पीन्स में था, दो किसान क्रान्तिकारियों ने मुझे बताया कि वे किस तरह बच-बचाकर मार्क्स की किताबें ले आते थे और उन्हें खेतों में छुपा देते थे।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के साथ हमेशा कुछ खतरनाक चीजें जुड़ी हुई हैं। पुस्तक की शुरुआत इन प्रसिद्ध पंक्तियों से होती है—''समूचे यूरोप को एक भूत आतंकित कर रहा है—कम्युनिज्म का भूत।'' उसमें शासक वर्गों को लक्षित व्यंग्य बाण और कटारें हैं। ''निजी स्वामित्व का अन्त कर देने के हमारे इरादे से आपके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन आपके मौजूदा समाज में दस में से नौ आदमियों के लिए निजी सम्पत्ति का पहले ही खात्मा हो चुका है; चन्द लोगों के पास अगर निजी सम्पत्ति है तो उसका एकमात्र कारण यही है कि दस में से उन नौ लोगों के पास वह नहीं है।... आपका आरोप यह है कि हम आपके स्वामित्व का अन्त कर देना चाहते हैं। बिल्कुल यही बात है; हम ठीक यही करने की मंशा रखते हैं।'' और यह अपने इस प्रसिद्ध आह्वान के साथ समाप्त होता है—''सर्वहारा के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ नहीं है। उसके पास जीतने के लिए समूचा विश्व है।''

हम आज बीसवीं सदी के अन्त पर खड़े हैं। इस बीतती सदी में उत्पीड़ित जन महान संघर्षों में उठ खड़े हुए हैं। हमने बोल्शेविक और चीनी क्रान्तियों को सत्तासीन होते और नये समाज की रचना करते देखा है। लेकिन ये दोनों क्रान्तियां नयी पूंजीवादी ताकतों द्वारा धूल में मिला दी गयीं। निश्चित रूप से विश्व पूंजीवाद की उम्र मार्क्स के अनुमान से कहीं ज्यादा निकली। हम लगातार जारी बुर्जुआ वर्ग की इस वैचारिक गोलाबारी से घिरे हुए हैं कि कम्युनिज्म असफल है, एक अव्यावहारिक यूटोपिया है जो दु:स्वप्न में बदल गया है। वे हमें इस बात पर विश्वास दिलाना चाहते हैं कि—पूंजीवाद ही वह सर्वोत्तम चीज है जिसे हासिल किया जा सकता है। ''लालच और असमानता जिन्दाबाद।''

तो क्या *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* हमारे लिए आज भी प्रासंगिक है? हां, यह है। यह पूंजीवादी समाज के अपने विश्लेषण के द्वारा आज भी प्रासंगिक है। वर्गों से रहित विश्व के स्वप्न के द्वारा यह आज भी प्रासंगिक है। इस सदी में सर्वहारा क्रान्ति के वास्तविक अनुभव के जरिए यह आज भी प्रासंगिक है—इस रूप में कि क्या पूरा किया जा चुका है और इस रूप में कि इस व्यवस्था का नाश करने के लिए इन अनुभवों से सीखते हुए क्या किया जाना बाकी है। हमारे लिए यह आज भी प्रासंगिक है क्योंकि अगली सहस्राब्दी की दहलीज पर मानव समाज क्रान्ति से कम किसी चीज द्वारा आगे नहीं बढ़ सकता।

बुर्जुआ वर्ग के उद्भव और उसके मिशन के बारे में मार्क्स के विचार

जैसा कि मैं इंगित कर चुका हूं कि *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में मुख्यत: दो बातें हैं। विशेष रूप से, यह वर्ग समाज और वर्ग संघर्ष का और पूंजीवादी समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण है और साथ ही यह स्वप्न है कि कौन सी चीज इसका स्थान लेगी। मैं *घोषणापत्र* में मौजूद पूंजीवादी समाज के विश्लेषण से अपनी बात शुरू करना चाहता हूं। मार्क्स पूंजीवाद की छानबीन ऐतिहासिक भौतिकवादी परिप्रेक्ष्य में करते हैं। और इसके अनेक अर्थ हैं।

सर्वप्रथम, इसका अर्थ यह है कि पूंजीवाद शाश्वत नहीं है। पूंजीवाद सामाजिक उत्पादन का एक ऐतिहासिक रूप है। इसके उद्भव का एक इतिहास रहा है। सोलहवीं सदी में, पूंजीवाद के भावी विकास की परिस्थितियां अस्तित्व में आ रही थीं। और पूंजीवाद का अन्त भी सुनिश्चित है। पूंजीवाद मानव समाज के विकास की एक निश्चित मंजिल में उभरकर सामने आया है। सामन्ती समाज में उत्पादक शक्तियां विकसित हो रही थीं और इसके साथ ही बुर्जुआ वर्ग के रूप में एक नया वर्ग भी विकसित हो रहा था। उत्पादक शक्तियों से मेरा तात्पर्य औजारों, उपकरणों, कच्चे मालों और स्वयं जनता से है। अब बुर्जुआ वर्ग इन उत्पादक शक्तियों के उपयोग और उत्पादन के संगठन के नये तरीकों का प्रतिनिधित्व कर रहा था। लेकिन उत्पादन के ये नये सम्बन्ध उत्पादन के पुराने सामन्ती सम्बन्धों से घिरे हुए थे।

उत्पादन के सम्बन्धों से मेरा तात्पर्य उत्पादन के साधनों के साथ समाज के विभिन्न समूहों के सम्बन्धों से है—कौन उनका स्वामी है और नियंत्रित करता है; उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान लोगों द्वारा निभायी जाने वाली विभिन्न भूमिकाएं; और समाज के इन विभिन्न समूहों द्वारा उत्पादित सम्पदा का किस अनुपात में वितरण होता है। वर्ग समाज में ये विभिन्न सामाजिक समूह और सम्बन्ध वर्ग और वर्गसम्बन्ध होते हैं।

कृषि की सामन्ती जागीरदारी और हस्तशिल्प उत्पादन की गिल्ड व्यवस्था इस बुर्जुआ वर्ग को बाजारों का विकास करने और उत्पादन के नये उपकरणों और नयी विधियों का उपयोग करने में बाधक थी। इसलिए बुर्जुआ वर्ग के लिए सामन्ती शासन को उखाड़ फेंकना और अपनी राज्यसत्ता एवं सामाजिक व्यवस्था को कायम करना लाजिमी था।

कार्ल मार्क्स पूंजीवाद से घृणा करते थे। उन्होंने लिखा कि ''दुनिया में पूंजी नस-नस से खून चूसकर आती है।'' लेकिन ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण ने उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुंचाया कि बुर्जुआ वर्ग को एक वस्तुगत ऐतिहासिक मिशन को पूरा करना है। वह मिशन है—उत्पादक शक्तियों को गुणात्मक रूप से नये तरीके से विकसित करना।

बुर्जुआ वर्ग ने उत्पादन के निजी साधनों को—जैसे छोटे दस्तकारों के औजारों को उत्पादन के सामाजिक साधनों में—जैसे मशीन औजार, असेम्बली लाइन और इसी प्रकार अन्य साधनों में—बदल डाला, जो लोगों की बड़ी संख्या द्वारा ही उपयोग में लाये जा सकते हैं। यह सामाजिक उत्पादन की व्यवस्था को जन्म देता है जिसमें उत्पाद किसी एक या थोड़े-से लोगों के प्रयासों का फल नहीं होते बल्कि बहुत-से लोगों के व्यापक और अन्तर-निर्भर गतिविधियों के परिणाम होते हैं। एक कार और इसके उत्पादन में लगी सभी चीजों के बारे में सोचिए। किसी दस्तकार या किसान की भांति कोई स्कूटर या कार बनाने वाला मजदूर यह नहीं कहेगा कि *''इसे मैंने बनाया''—यह तो हजारों लोगों का सामूहिक उत्पाद है।*

लेकिन पूंजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन किसलिए होता है और किसके लिए होता है? यह मुनाफे और मुनाफा बढ़ाते ही जाने के लिए होता है। यह उत्पादन बुर्जुआ वर्ग के वर्गहितों की सेवा के लिए होता है—उनके लिए जो उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं। और यह मुनाफा आता कहां से है? यह सर्वहारा वर्ग के शोषण से आता है, सर्वहाराओं का वह वर्ग जिसके पास अपनी श्रमशक्ति बेचने के सिवा कुछ नहीं होता।

पूंजीवाद गतिशील है। यह *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* की प्रमुख विषयवस्तु है। पूंजीवाद अपने विस्तार और नयी-नयी चीजें पैदा करने के लिए प्रतियोगिता की शक्ति से चालित होता है। बुर्जुआ वर्ग के बारे में *घोषणापत्र* यह बात कहता है—''अपने मुश्किल से सौ साल के शासनकाल में बुर्जुआ वर्ग ने उससे अधिक शक्तिशाली और प्रचण्ड उत्पादक शक्तियां उत्पन्न कर दी हैं कि जितनी पिछली तमाम पीढ़ियों ने मिलकर नहीं की थीं।'' मार्क्स यहां इस्पात मिलों, बिजली, वाष्पचालित जहाजरानी और रेलवे की चर्चा कर रहे हैं।

पूंजीवाद अनवरत गतिमान और रूपान्तरणशील होता है। मार्क्स कहते हैं—''उत्पादन का निरन्तर क्रान्तिकारीकरण, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, चिरन्तन अनिश्चितता और हलचल—ये चीजें बुर्जुआ वर्ग को सभी पूर्ववर्ती युगों से अलग करती हैं।'' लोग एक साथ कारखानों और शहरों में फेंक दिये जाते हैं। और पूंजीवाद मानवीय सम्बन्धों को नग्न स्वार्थों और आना-पाई के हिसाब-किताब में तार-तार कर देता है—मैं किस चीज का मालिक हूं, मेरा मोल क्या है, तुम्हारा मोल क्या है?

पूंजीवाद राष्ट्रों की सीमाओं को तोड़ देता है और उसके रास्ते में अड़ंगा डालने वाली हर चीज को चकनाचूर कर देता है। मार्क्स ने यह बात इस ढंग से कही है—''अपने उत्पादों के लिए निरन्तर विस्तारमान बाजार की जरूरत बुर्जुआओं का दुनिया भर में पीछा करती है।'' जब मार्क्स यह लिख रहे थे तो इंग्लैण्ड भारत को बर्बरतापूर्वक लूट रहा था और उसे अपना उपनिवेश बना रहा था और चीन को बन्दूक की नोंक पर जबरिया अपने व्यापारिक-तंत्र के अधीन ला रहा था। माल उत्पादन जिसमें व्यवहारत: हर उत्पादन विनिमय के लिए होता है, समूचे विश्व में फैल रहा था। और ऐसा करते हुए पूंजीवाद समूची आबादी को अपनी चपेट में ले रहा था और नये सर्वहाराओं को पैदा कर रहा था और उनका शोषण कर रहा था।

मार्क्स विश्लेषित करते हैं कि पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया किस प्रकार उत्पादन के साधनों को कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में संकेन्द्रित करती जाती है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके तहत समाज में ध्रुवीकरण बढ़ता जाता है—एक तरफ समृद्धि तो दूसरी तरफ हाड़तोड़ मेहनत, गरीबी और बर्बादी। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति कारखानों के भीतर भीषण जकड़बन्दी, चौदह घण्टे कार्य दिवस और बाल श्रम पर आश्रित थी और इसने शहरी झुग्गी-झोपड़ियों को बीमारी और कुपोषण के जबड़े में जकड़ लिया था। पूंजीवाद के अन्तर्गत मजदूर मशीन का विस्तार बन गये और उन्हें तभी तक काम मिलता था जबतक वे पूंजी के विस्तार में मदद करते थे।

1825 में, पूंजीवादी विश्व पहले बड़े आर्थिक संकट से डांवाडोल हो उठा। पहली

बार, करोड़ों लोग इसलिए नहीं भूख की चपेट में आ गये कि उन्होंने कम उत्पादन किया था बल्कि इसलिए कि उन्होंने ज्यादा उत्पादन कर दिया था—इतना अधिक उत्पादन कि उसे बेचा नहीं जा सकता था, उत्पादन के इतने अधिक साधन हो गये कि उन्हें मुनाफा कमाने के उपयोग में नहीं लाया जा सकता था। पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के साथ—इन उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के खिलाफ नयी और विशाल उत्पादक शक्तियों की यह पहली बगावत थी।

पूंजीवाद उत्पादन का एक अराजक तंत्र है। समाज के पैमाने पर उत्पादन का कोई सचेतन तालमेल नहीं होता। स्टील का उत्पादन कितना हुआ, कितनी बिल्डिंगे खड़ी हुईं—यह सब किसी युक्तिसंगत योजना के तहत निश्चित नहीं किया जाता। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में इस अविश्वसनीय-सी लगने वाली चीज की छवि उतारी गयी है। मार्क्स कहते हैं : ''वह समाज जिसने तिलिस्म जैसे ऐसे विराट उत्पादन तथा विनिमय साधनों का सृजन किया है, ऐसे जादूगर की तरह है, जिसने अपने जादू से पाताल लोक की शक्तियों को बुला तो लिया है, पर अब उन्हें वश में रखने में असमर्थ है।'' और *घोषणापत्र* में मार्क्स एक अन्य ऐतिहासिक भौतिकवादी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। पूंजीवाद अपनी उपयोगिता पूरी कर चुका है। बुर्जुआ वर्ग शासन करने में अक्षम हो गया है।

आज का पूंजीवाद

आज हम यहां 1998 में खड़े हैं। क्या यह विश्लेषण आज की दुनिया के लिए अर्थवान है?

इन 150 वर्षों में पूंजीवाद विस्तारित होता गया है और अधिकाधिक संकेन्द्रित होता गया है। नयी-नयी तकनीकों और उद्योगों द्वारा, जिन्होंने पूरी दुनिया को अपने आगोश में ले लिया है, इसने अपना प्रभाव-विस्तार किया है। पूंजी संचय ने मानव इतिहास में मानव श्रम की उत्पादकता में तीव्रतम विकास किया है। उत्पादक तकनीकें भाप संचालित यांत्रिक करघों से आगे बढ़कर औद्योगिक रोबोटों तक जा पहुंची हैं। मानवता को पाल जहाज का आविष्कार करने में एक लाख वर्ष लगे; वाष्प चालित पोत का आविष्कार करने में महज पांच हजार वर्ष लगे लेकिन अन्तरिक्ष यान का आविष्कार करने में महज 100 वर्ष लगे। पूंजीवाद आज विशाल पैमाने पर भूमण्डलीकृत हो चुका है। इसने श्रम का नया भूमण्डलीय विभाजन पैदा किया है। एक जोड़ी नाइक कम्पनी के जूते का उदाहरण लीजिए: इसका बाहरी चमड़ा ब्राजील और आस्ट्रेलिया में उत्पादित होता है, रबर के तल्ले थाईलैण्ड में बनते हैं और इनको मिलाकर जूतों की सिलाई चीन में होती है।

लेकिन इस सबके पीछे की गतिकी और सामाजिक यथार्थ क्या है? इसका उत्तर है : विश्व मानवता का तीव्रतर शोषण, इस ग्रह की और अधिक बर्बर लूट। पिछली डेढ़ शताब्दी अतुलनीय विकास के साथ ही अतुलनीय विनाश और मुसीबतों की शताब्दी रही है। एक ऐसी शताब्दी जिसमें एक महामन्दी आयी, दो विश्वयुद्ध हुए और तीसरी दुनिया को भयानक उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा है।

यह लेनिन थे, जिन्होंने यह विश्लेषित किया कि पूंजीवाद उच्चतर अवस्था की ओर, जिसे साम्राज्यवाद कहा जाता है, दरअसल किस प्रकार विकसित हुआ। दरअसल, यह पूंजी के संगठन और संरचना में परिवर्तन के कारण, विशेषकर इजारेदारी और वित्तीय पूंजी के विकास के कारण घटित हुआ। और इसने विश्व को गुणात्मक रूप से ज्यादा मजबूती के साथ समेकित कर दिया। लेकिन, लेनिन ने यह भी उद्घाटित किया कि एक ऐसी दुनिया में जिसमें एक तरफ मुट्ठी भर नियंत्रणकारी, उत्पीड़क साम्राज्यवादी देश हैं और दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के उत्पीड़क राष्ट्र हैं, पूंजी का भूमण्डलीकरण असमान ढंग से होता है। इसके साथ ही उन्होंने यह रेखांकित किया कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में, जिसके साथ परिवर्तन की चेतना से लैस और जमीन की चाहत रखने वाला किसान समुदाय भी खड़ा होगा, इन उत्पीड़ित राष्ट्रों का मुक्तिसंघर्ष विश्व सर्वहारा क्रान्ति की चालक शक्ति होगा।

लेकिन साम्राज्यवाद पूंजीवाद की बुनियाद पर खड़ा होता है और इसके गति के नियम वही होते हैं, जैसा मार्क्स ने विश्लेषित किया था।

आइये, आज की दुनिया की कुछ विशेषताओं पर सरसरी नजर डालें।

पहला उदाहरण : 300 राष्ट्रपारीय निगम विश्व की एक चौथाई उत्पादक परिसम्पत्तियों के मालिक हैं। दुनिया की सबसे धनी बीस प्रतिशत आबादी का दुनिया की आय के 85 प्रतिशत पर नियंत्रण है। अमेरिका के 200 सबसे बड़े विनिर्माण निगम विनिर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) क्षमता के 60 प्रतिशत के स्वामी हैं।

दूसरा उदाहरण : *घोषणापत्र* के बाद के समय में विश्व में सर्वहारा आबादी में जबर्दस्त बढ़ोत्तरी हुई है। तीसरी दुनिया में दसियों लाख किसान हर वर्ष कुचले और जगह-जमीन से उखाड़े जा रहे हैं। बीस साल पहले बांग्लादेश में कोई कपड़ा उद्योग नहीं था। आज वहां दस लाख मजदूर कपड़ा उद्योगों में काम करते हैं, जिसमें से ज्यादातर राजधानी ढाका में रहने वाली औरतें हैं। भूमण्डलीय पैमाने पर सस्ते श्रम पर आधारित विनिर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) अर्थव्यवस्था विश्व पूंजीवाद की कार्यप्रणाली का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके नये सर्वहारा सुरक्षा गार्डों की चौकसी में औद्योगिक बैरकों में और रक्त-मज्जा निचोड़ लेने वाली कार्यशालाओं में पाये जाते हैं, जहां जानलेवा दुर्घटनाओं और यौन-उत्पीड़न की आशंकाएं हर पल मौजूद रहती हैं। ये आसपास की उन श्रमिक-बस्तियों में पाये जाते हैं जहां पीने के लिए जहर जैसा पानी मिलता है और इन बस्तियों से लगभग दो करोड़ बालश्रमिकों के श्रम को निचोड़ा जाता है। वास्तविक सर्वहाराओं की आबादी तो अमेरिका में है—वस्त्र बनाने वाली कार्यशालाओं में, मुर्गी पालन उद्योगों में, खेतिहर मजदूर, अस्पतालों के कर्मचारी और भारी तादाद में वे किशोर जो दक्षिण ब्रांक्स और दक्षिण-मध्य लास एंजेल्स के नुक्कड़ों पर मारे-मारे फिरते हैं।

तीसरा उदाहरण : इस धरती के आधे से अधिक लोग 100 रुपये प्रतिदिन की आय से कम पर गुजारा करते हैं। अगले चौबीस घण्टे में तीसरी दुनिया के देशों में चालीस हजार बच्चे उन रोगों और कुपोषण से काल-कवलित हो जायेंगे, जिनसे बचा जा सकता है। विश्व की लगभग तीस प्रतिशत श्रमशक्ति या तो पूर्ण बेरोजगार है या अर्द्धबेरोजगार है। यूरोप में नौ में से एक मजदूर काम से निकाल दिया गया है। हर साल साढ़े सात करोड़ आप्रवासी मजदूर काम की तलाश में अपना मुल्क छोड़कर दूसरे मुल्कों में चले जाते हैं।

चौथा उदाहरण : दुनिया के सबसे धनी देश, अमेरिका में 40 प्रतिशत काले और लैटिनो मूल के बच्चे गरीबी में रहते हैं; सत्तर लाख लोग बेघर हैं; 3 करोड़ तीस लाख लोग स्वास्थ्य बीमा की सुविधाओं से वंचित हैं और तीन में से एक काला नौजवान या तो जेल में है या आपराधिक न्याय-तंत्र की गिरफ्त में है। अमेरिका में एक तिहाई श्रम शक्ति बेहद कम तनख्वाह वाली नौकरियां करती हैं। 1992 से 1995 के बीच दस साल या उससे अधिक समय तक नौकरियां करने वाले 15 प्रतिशत लोगों को इन नौकरियों से हाथ धोना पड़ा है और वे औसतन 14 प्रतिशत कम वेतन पर नया काम कर रहे हैं।

पांचवां उदाहरण : एशिया में आर्थिक ध्वंस। याद कीजिए कि मार्क्स ने उस जादूगर की चर्चा किस तरह की थी जो उन शक्तियों को नियंत्रित नहीं कर पाता जिन्हें उसने स्वयं बनाया होता है? एशिया का वित्तीय संकट इसका एक सटीक उदाहरण है। 1990 के दशक में, भारी परिमाण में वैश्विक वित्तीय पूंजी, जो नयी इलेक्ट्रानिकी और सूचना तकनोलाजी द्वारा उपलब्ध

करायी गयी थी, एशियाई सट्टा एवं मुद्रा बाजार में उड़ेल दी गयी। भारी परिमाण में विनिर्माण पूंजी का कारों से लेकर कम्प्यूटर चिप्स तक हरेक चीज के उत्पादन में निवेश किया गया। मलेशिया में दुनिया की दो सबसे ऊंची इमारतें उठ खड़ी हुईं। और देखते ही देखते सब कुछ भरभरा पड़ा। ये अर्थव्यवस्थाएं रीढ़विहीन थीं। कारखाने बन्द हो गये, और भारी तादाद में लोगों की बचतें और आय छू-मन्तर हो गयी।

और अन्त में : हमारी पृथ्वी अभूतपूर्व अनुपात में पर्यावरण के संकट की शिकार है। विश्व का आधे से अधिक उष्ण कटिबन्धीय वनाच्छादन समाप्त हो चुका है। प्रतिदिन, 74 वन्य जीव-जन्तुओं की प्रजातियां विलुप्त हो रही हैं। ओजोन परत का विनाश, वैश्विक ऊष्मीभवन (ग्लोबल वार्मिंग), समुद्री संसाधनों का विनाश और तीसरी दुनिया को जहरीले कचरे का कूड़ाघर बना देना—ये सभी पूंजीवाद के इस तर्क के दुष्परिणाम हैं कि सबकुछ मुनाफे के लिए है।

पूंजीपति मुक्त बाजार को विश्व की आशा के रूप में प्रशंसा करते नहीं अघाते। लेकिन उनकी व्यवस्था पूर्ण विनाश की ओर ले जाने वाली व्यवस्था है। यह बर्बर है, यह पुरानी पड़ चुकी है और अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए, अब इससे गुणात्मक रूप से भिन्न किसी चीज की आवश्यकता है और यह सम्भव है।

एक बिल्कुल अलग दुनिया सम्भव है

सच्चाई यह है कि *विश्व की उत्पादक शक्तियां विश्व के हरेक व्यक्ति के लिए पर्याप्त खाद्यसामग्री, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य सुविधाओं और अन्य बुनियादी सुविधाओं का पर्याप्त उत्पादन करने में सक्षम है और साथ ही व्यापक परिमाण में इतना अतिरिक्त उत्पादन फिर भी बचा रहेगा कि मानव समाज और इसे बनाने वाले लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए उपयोग में लाया जा सकते।*

लेकिन, स्पष्ट है कि आज जो हो रहा है वह सब इसके उल्टा है। रास्ते में कौन सा अवरोध खड़ा है? पूंजीवाद के सम्पत्ति सम्बन्ध और पूंजी का वर्गीय राजनीतिक शासन!

जो कुछ मैं यहां बयान कर रहा हूं, वह बुर्जुआ वर्ग के बुनियादी अन्तरविरोधों की अभिव्यक्ति है। यह समाजीकृत उत्पादन और निजी विनियोग (अर्थात स्वामित्व) के बीच का अन्तरविरोध है। सर्वहारा वर्ग वह वर्ग है जो समग्रत: उस सामूहिक श्रम और सामूहिक प्रयासों का प्रतिनिधित्व करता है जो उत्पादक शक्तियों की अत्यधिक समाजीकृत प्रकृति से जुड़ा हुआ है। यह उत्पादक शक्तियों के विकास की सम्भावनाओं पर पड़ी बेड़ियों को तोड़ सकता है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वाक्यांश है। बुर्जुआ वर्ग द्वारा उद्योगों के विकास की चर्चा करते हुए मार्क्स कहते हैं ''बुर्जुआ वर्ग जो भी उत्पादित करता है उसमें, सर्वोपरि तौर पर, वह अपनी कब्र खोदने वालों को पैदा करता है।'' वह सर्वहारा वर्ग के बारे में यह बात कह रहे होते हैं। याद कीजिए मैंने कहा था कि बुर्जुआ वर्ग ने एक वस्तुगत मिशन पूरा किया है। ठीक इसी प्रकार, सर्वहारा वर्ग का भी एक वस्तुगत मिशन है—वह है एक क्रान्ति सम्पन्न करना, जिसका लक्ष्य है उत्पादन के साधनों का समाजीकृत, साझा स्वामित्व और श्रम करने के लिए लोगों को सहकारिता के आधार पर संगठित करना और लोगों की आवश्यकता के अनुसार उत्पादों का वितरण करना।

सर्वहारा वर्ग एक अद्वितीय क्रान्ति का नेतृत्व करता है। पहली बार एक ऐसी क्रान्ति सम्पन्न करना सम्भव हुआ है जो बहुसंख्यक मानवता के हित में है—शोषण और उत्पीड़न के एक रूप के स्थान पर दूसरा रूप कायम करना नहीं बल्कि शोषण और उत्पीड़न के सभी रूपों का खात्मा करना। जैसाकि पहले मैं इस बात पर जोर देकर कह रहा था कि आज की उत्पादक शक्तियां अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर एक दूसरे से अत्यधिक अन्तर्सम्बन्धित हो चुकी हैं और दरअसल उनका अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ही सर्वाधिक युक्तिसंगत ढंग से उपयोग किया जा सकता है। इसलिए, अन्तिम विश्लेषण में सर्वहारा क्रान्ति एक अन्तरराष्ट्रीय क्रान्ति है। इस क्रान्ति का लक्ष्य वर्गों का उन्मूलन और विश्व स्तर पर एक नये समाज का निर्माण करना है। यही वह स्वप्नदर्शिता है, वह मिशन है जिसका *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में वर्णन किया गया है। और, यही वह चीज है जिसकी चर्चा मैं ज्यादा गहराई से करना चाहता हूं।

कम्युनिस्ट स्वप्नदर्शिता

कम्युनिस्ट घोषणापत्र एक नये समाज और एक नये विश्व की गौरवपूर्ण स्वप्न प्रस्तुत करता है। मार्क्स ने इसे कई स्थानों पर वर्णित किया है : ''एक ऐसे संघ की स्थापना होगी जिसमें व्यष्टि का स्वतंत्र विकास समष्टि के स्वतंत्र विकास की शर्त होगा।'' एक अन्य स्थान पर मार्क्स कहते हैं : ''कम्युनिस्ट क्रान्ति पारम्परिक सम्पत्ति सम्बन्धों से आमूलतम विच्छेद है; फिर इसमें आश्चर्य क्या कि इस क्रान्ति के विकास का अर्थ है पारम्परिक विचारों से आमूलतम सम्बन्धविच्छेद?''

दो ''आमूलतम विच्छेदों'' की यह धारणा सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी मिशन के बारे में हमें बहुत कुछ बताती है। मैं स्पष्ट कर चुका हूं कि सम्पत्ति सम्बन्धों का तात्पर्य यह है कि उत्पादन के साधनों का मालिक कौन है, सामाजिक उत्पादन में लोगों के विभिन्न समूहों की भूमिका क्या है और उत्पादित सम्पत्ति का समाज में किस प्रकार वितरण होता है। जैसा कि मैंने पहले इंगित किया था, कि कम्युनिस्ट क्रान्ति का लक्ष्य उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना और उन्हें निरन्तर विकसित करते जाना है—और यह सिर्फ विभिन्न मंजिलों से गुजरकर ही घटित हो सकता है जब वे समाज की साझा सम्पत्ति बन जायेंगे।

कम्युनिस्ट क्रान्ति मुनाफे के लिए उत्पादन का खात्मा कर देती है ओर आम भौतिक वस्तुओं के प्रचुर सृजन का लक्ष्य निर्धारित करती है और माल उत्पादन एवं मुद्रा के जरिए विनिमय को समाप्त कर देती है। इसका लक्ष्य काम करने की समूची संरचना और लोगों के बीच के सम्बन्धों का रूपान्तरण करना है जिससे हर व्यक्ति समवेत रूप से समाज को अपना सर्वाधिक योगदान दे सके और बदले में समाज से अपनी जरूरतें पूरी कर सके। व्यष्टि अब अपनी ओजस्वी जीवन शक्ति को उस परायी शक्ति को नहीं सौंपेगा; व्यष्टि अब दासतापूर्ण श्रम विभाजन के अधीन नहीं होगा, जिसमें कुछ लोग नियंत्रित करते हैं, कुछ लोग योजनाएं बनाते हैं, कुछ लोग सृजित करते हैं और कुछ लोग खटते हैं।

यह क्रान्ति मानसिक और शारीरिक श्रम के अन्तर को समाप्त कर देगी। लोग उत्पादक भी होंगे और सर्जक भी। समाज का कोई भी पहलू कुछ लोगों के लिए संरक्षित नहीं होगा, हर व्यक्ति समाज को संचालित करने के काम में लगेगा। इस क्रान्ति का लक्ष्य सभी वर्ग विभेदों एवं वर्ग शत्रुओं का उन्मूलन और लोगों के एक समूह द्वारा समाज पर प्रभुत्व कायम करने के आधारों का उन्मूलन है। संक्षेप में, यह राज्य के ही उन्मूलन को अपना लक्ष्य निर्धारित करता है।

ये सभी रूपान्तरण उस दूसरे ''आमूलगामी विच्छेद'' से जुड़े हुए हैं, जिसका सूत्रीकरण मार्क्स ने किया है—परम्परागत विचारों के साथ विच्छेद। इसका तात्पर्य सोचने के तरीकों, प्रेरणाओं और नैतिकता के रूपान्तरण से है। इसका तात्पर्य है अतीत के मृत हाथों, पिछड़े विश्वासों, मूल्यों और अन्धविश्वासों से विच्छेद करना। इसका तात्पर्य है कि कम्युनिस्ट क्रान्ति पूंजीवाद को पराजित नहीं कर सकती यदि वह ''पहले मैं'' वाली बुर्जुआ विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष नहीं

करती।

स्वतंत्रता के बारे में कम्युनिज्म की अपनी अलग अवधारणा है। स्वतंत्रता के बारे में बुर्जुआ विचार, जिसके बारे में *घोषणापत्र* में मार्क्स ने चर्चा की है, मूलत: खरीदने और बेचने की स्वतंत्रता से बंधा हुआ है, जिसका अर्थ है प्रभुत्व जगाने और शोषण की स्वतंत्रता। स्वतंत्रता के बारे में बुर्जुआ विचार की धुरी व्यष्टि है—स्वार्थों के पीछे व्यक्ति की अन्धी दौड़, दूसरों की कीमत पर समृद्धि और सत्ता के लिए व्यक्तिपरक अधिकार, दूसरों को नियंत्रित करने लेकिन दूसरों द्वारा नियंत्रित न होने का अधिकार।

स्वतंत्रता का कम्युनिस्ट नजरिया इससे भिन्न है। अलग-अलग व्यक्ति शोषण-उत्पीड़न से मुक्त हो जायेंगे और उनका सर्वांगीण विकास होगा। लेकिन यह लोगों के सम्पूर्णत: नये ढंग से सम्बन्ध कायम करने के सन्दर्भ में होगा। जैसा कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी, अमेरिका के अध्यक्ष बॉब अवैकियन ने कहा है : ''लोग यह आत्मसात करेंगे कि सबका हित समाज के रूपान्तरण, सबके लिए स्वतंत्रता की परिधि के विस्तार के द्वारा होगा''

कम्युनिस्ट क्रान्ति एक अन्तरराष्ट्रीय क्रान्ति है जिसका उद्देश्य विश्व स्तर पर वर्गों का उन्मूलन है। इसका लक्ष्य लोगों और राष्ट्रों के बीच हर प्रकार के असमान और उत्पीड़नकारी सम्बन्धों और पृथक-पृथक राष्ट्रों में विश्व के विभाजन के खात्मे पर आधारित, एकता और विविधता दोनों से युक्त सच्चे विश्व समुदाय की रचना करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति मानवता को पृथ्वी एवं इसके संसाधनों का सच्चा रखवाला बना देगा जिसके सरोकार के दायरे में केवल वर्तमान नहीं बल्कि भविष्य और साथ ही भावी पीढ़ियां भी होंगी। कम्युनिज्म मानव जनों के स्वतंत्र सहमेल एवं सहकार से युक्त विश्व समुदाय को जन्म देगा। माओ त्से-तुङ ने इसे सुन्दर ढंग से कहा है : ''कम्युनिज्म का युग तब आयेगा जब मानवजाति स्वेच्छा से एवं सचेत ढंग से स्वयं एवं विश्व को बदलेगी।''

घोषणापत्र को लिखने के पीछे मार्क्स का एक बुनियादी उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि कम्युनिज्म की स्वप्नदर्शिता क्या है और इसके उद्देश्यों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। *घोषणापत्र* को पढ़ते समय आप देखेंगे कि उसके अन्त में एक हिस्सा है, जिसमें मार्क्स ने समाजवाद और कम्युनिज्म के अन्य विचारों की आलोचना की है। उस हिस्से में और अन्य स्थानों पर अपने लेखन में मार्क्स ने बुनियादी तौर पर यह स्पष्ट किया है कि अन्याय को समाप्त करने के विभिन्न अन्य रास्ते—चाहे यह अपेक्षाकृत ''प्रबुद्ध'' शासकों के साथ तालमेल बनाने का रास्ता हो, या समझदार लोगों द्वारा राज्य को अपने हाथों में लेकर उसकी नीतियों को सुधार करने का मार्ग हो या समाज से बाहर जाकर काल्पनिक कम्युनिस्ट समुदायों का निर्माण करने का मार्ग हो—ये सभी रास्ते कारगर नहीं होंगे और इनसे काम नहीं चलने वाला। इसलिए, क्योंकि ये सभी पूंजीवादी आर्थिक सम्बन्धों और पूंजीवादी राजनीतिक शासन को जस-का-तस छोड़ देते हैं।

सर्वहारा वर्ग की मुक्ति केवल सर्वहारा द्वारा स्वयं हासिल की जा सकती है। जैसाकि प्रसिद्ध कम्युनिस्ट गान 'इण्टरनेशनल' का सन्देश है : ''हमें नहीं चाहिए कृपालु मुक्तिदाता... हम मजदूर, निश्चित करेंगे स्वयं अपना कर्तव्य, हम निश्चित करेंगे स्वयं और निभायेंगे उसे बखूबी।'' *घोषणापत्र* में और अन्य उत्तरवर्ती राजनीतिक लेखन में मार्क्स ने जिस बात पर जोर दिया है कि वह यह है कि सर्वहारा को अनिवार्य रूप से एक वर्ग के रूप में स्वयं को संगठित करना चाहिए और अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति के अपने मिशन के प्रति सचेत होना चाहिए। उसे अनिवार्य रूप से बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेंकना चाहिए और उसके राज्य के उपकरण को नष्ट कर देना चाहिए। साथ ही, उसे अनिवार्य रूप से स्वयं को शासक वर्ग का स्थान ले लेना चाहिए एवं बुर्जुआ वर्ग के ऊपर अपना अधिनायकत्व कायम करना चाहिए।

सर्वहारा वर्ग का यह अधिनायकत्व वर्ग विहीन समाज तक पहुंचने का साधन है। यह सर्वहारा द्वारा समाज पर शासन और उसका रूपान्तरण है। यह समाजवाद है : पूंजीवाद और कम्युनिज्म के बीच का संक्रमणकालीन समाज।

हमारे उद्देश्य के मार्ग में तीन मील के पत्थर :

लेकिन बुर्जुआ वर्ग कहता है कि जहां भी और जब भी कम्युनिज्म लाने की कोशिशें हुईं, परिणाम विनाशकारी रहे हैं। वे हमसे कहते हैं कि पिछले 150 वर्षों का यही सबक है। लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी इसके विपरीत निष्कर्ष निकालते हैं। जहां और जब भी यह क्रान्ति सम्पन्न हुई है, इसके परिणाम गम्भीर और मुक्तिदायी रहे हैं। इसके साथ ही, इस क्रान्ति को सम्पन्न करने के ऐतिहासिक अनुभव, इसकी जीतें और इसकी हारें, मानवता की मुक्ति के रास्ते के बारे में बेशकीमती सबक मुहैया कराते हैं। अब मैं इस चीज के बारे में चर्चा करूंगा।

सर्वहारा क्रान्ति के इतिहास में तीन महान मील के पत्थर रहे हैं—इसमें से हरेक जनता के शौर्य और पहलकदमी से हासिल एक मुकाम है और हरेक मुकाम अगले के लिए एक प्रस्थान-बिन्दु है।

पहला फ्रांस में गाड़ा गया—1871 के पेरिस कम्यून द्वारा। यह पहला अवसर था जब मजदूर वर्ग ने सत्ता पर कब्जा किया। बुर्जुआ वर्ग पेरिस छोड़कर भाग खड़ा हुआ। 70 गौरवशाली दिनों के लिए बिलकुल नयी और पहले कभी न देखी गयी चीजें अस्तित्व में आयीं। मजदूर वर्ग की एक सरकार अस्तित्व में आयी। जनता के हित में सुधारों के नये कानून बनाये गये। मजदूरों ने नगर का प्रशासन सीधे अपने हाथ में ले लिया। स्त्रियां इस युद्ध और प्रयोग की अग्रिम कतारों में थीं। लेकिन यह अल्पजीवी ही रहा। बुर्जुआ वर्ग फिर से संगठित होने में सफल हो गया और कम्यून को खून की नदियों में डुबो दिया गया।

इससे एक महत्वपूर्ण सबक हासिल हुआ। जैसाकि मार्क्स ने स्वयं इसका समाहार किया था और *घोषणापत्र* के बाद के संस्करणों की भूमिकाओं में इसे शामिल किया गया था, ''सर्वहारा वर्ग केवल राज्य की बनी-बनायी मशीनरी पर कब्जा करके ही इसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति में नहीं लगा सकता।'' पेरिस के सर्वहारा वर्ग आगे बढ़ने और शत्रु को कुचलने के महत्व को नहीं देख सका था।

अगली महान छलांग 1917 में रूस में लगायी गयी। यहां लेनिन और बोल्शेविकों ने पेरिस कम्यून के सबकों को गांठ बांधा। लेनिन ने सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी चेतना से लैस करने और क्रान्तिकारी संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए एक हिरावल पार्टी की आवश्यकता को भी दिखाया।

बोल्शेविक क्रान्ति ने जनता के शासन के नये राजनीतिक और सामाजिक अंगों को स्थापित किया। इसने पुराने रूसी साम्राज्य के उत्पीड़ित राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता प्रदान की और राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं एवं भाषायी समानता पर आधारित एक बहुराष्ट्रीय राज्य का निर्माण किया। स्त्रियों को तलाक का अधिकार मिला तथा पारिवारिक सम्बन्धों में अन्य परिवर्तन हुए और उन्होंने अभूतपूर्व ढंग से उत्पादन और राजनीति दोनों क्षेत्रों में प्रवेश किया। सोवियत संघ ने दुनिया भर में क्रान्तिकारी आन्दोलनों को प्रेरणा दी और अन्तरराष्ट्रीय समर्थन किया। इस क्रान्ति ने मानवजाति के इतिहास में पहली नियोजित समाजवादी अर्थव्यवस्था का सृजन किया। इसने पहले के शासक वर्गों की सम्पत्ति का अधिग्रहण कर लिया और सार्वजनिक-राज्य स्वामित्व की व्यवस्था कायम की। उत्पादन को समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने की सचेतन योजना के तहत आगे बढ़ाया गया।

लेकिन आरम्भ से ही क्रान्ति को अविराम एवं अविश्वसनीय रूप से कठिन स्थितियों का सामना करना पड़ा। मजदूरों के राज्य की स्थापना होते ही उसे साम्राज्यवादी आक्रमण का सामना करना पड़ा। उसे भीषण साम्राज्यवादी घेरेबन्दी का शिकार होना पड़ा। इसके साथ ही, अन्ततः मजदूरों के इस तरुण राज्य को नाजी युद्ध मशीन के मुख्य प्रहार को झेलना पड़ा। चालीस वर्षों तक, समाजवाद की हिफाजत की जाती रही। लेकिन इसके बाद सोवियत संघ में समाजवाद की पराजय हो गयी जो जबर्दस्त बाहरी दबावों और उत्तरोत्तर आन्तरिक क्षरण का परिणाम था। 1950 के दशक के आरम्भिक वर्षों में स्तालिन की मृत्यु के बाद एक नया पूंजीपति वर्ग सत्ता में आ गया।

सर्वहारा क्रान्ति के ध्येय के मार्ग में अगली महान प्रगति 1949 में चीन में हुई। मजदूर वर्ग और माओ त्से-तुङ के नेतृत्व वाली कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में एक लम्बे क्रान्तिकारी युद्ध की जीत हुई। चीनी क्रान्ति ने मानवता के एक चौथाई हिस्से को शोषण से मुक्त कर दिया। जरा इस चीज के बारे में सोचिए—चीन में हुए भूमि सुधारों ने मानव इतिहास में धनी से गरीब के बीच में विशालतम सम्पत्ति हस्तान्तरण को अंजाम दिया।

माओ त्से-तुङ ने सोवियत संघ में समाजवाद के अनुभव और पूंजीवादी पुनर्स्थापना का समाहार किया। लेकिन विराट उपलब्धियों के बावजूद, सोवियत क्रान्तिकारियों से कुछ गलतियां भी हुईं और समाजवादी समाज की प्रकृति के बारे में कुछ चीजों को ठीक ढंग से समझा नहीं जा सका।

माओ ने समाजवादी समाज के अन्दर पूंजीवादी समाज के अवशेषों की मौजूदगी का विश्लेषण किया। ये अवशेष इस तथ्य के रूप में प्रकट होते थे—कुछ लोग मुख्यतः मानसिक श्रम में लगे हुए थे और अन्य लोग मुख्यतः शारीरिक श्रम में और प्रशासनिक एवं नेतृत्व की जिम्मेदारियों का अभी भी समान बंटवारा नहीं हुआ था। देहात और शहर के बीच, विभिन्न क्षेत्रों के बीच और स्त्री-पुरुष के बीच असमानता अब भी मौजूद थी। साथ ही, वेतन में भी अन्तर था और समाजवाद के भीतर मुद्रा एवं माल-उत्पादन की महत्वपूर्ण भूमिका अभी भी बनी हुई थी।

इन चीजों को रातोंरात नहीं खत्म किया जा सकता। लेकिन, उन पर अनिवार्य रूप से लगाम लगायी जानी चाहिए एवं उनका रूपान्तरण किया जाना चाहिए और उनके साथ-साथ चलने वाली विचारधारा से अनिवार्य रूप से संघर्ष किया जाना चाहिए। लेकिन जब तक ये चीजें रहेंगी, वे बुर्जुआ वर्ग शक्तियों को जन्म देती रहेंगी जो अपने वर्ग-स्वार्थों के अनुसार समाज को ढालने की कोशिश करती रहेंगी। माओ ने कहा था कि समाजवाद पूंजीवादी मार्ग और समाजवादी मार्ग के बीच, शत्रुतापूर्ण वर्गों के बीच लम्बे संघर्ष का काल है और किसी विशेष समय में कौन जीतेगा, यह सवाल अभी हल नहीं हुआ है।

माओ ने समाजवाद के निर्माण में सोवियत पहुंच की कमजोरियों का भी विश्लेषण किया। बड़े उद्योगों के निर्माण पर वहां अत्यधिक जोर था। चीजों को संगठित करने के पूंजीवादी तरीकों की बहुत अधिक स्वीकार्यता थी और लोगों के आपसी सम्बन्धों में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ में कारखानों के अन्दर एक व्यक्ति द्वारा प्रबन्धन की प्रणाली अभी भी लागू थी। समस्याओं को हल करने में विशेषज्ञों पर बहुत अधिक निर्भरता थी और जनता पर निर्भरता पर्याप्त नहीं थी। माओ ने इस चीज का इस ढंग से समाहार किया है कि उस दूसरे ''आमूलगामी विच्छेद''—लोगों की विश्व दृष्टि को बदलने और विचारधारा के मुद्दों पर संघर्ष करने पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था।''

यह एक गम्भीर ऐतिहासिक महत्व की बात है कि सोवियत क्रान्तिकारी नयी बुर्जुआ शक्तियों द्वारा पूंजीवादी पुनर्स्थापना की कोशिशों, विशेष रूप से कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर से होने वाली कोशिशों के खिलाफ संघर्ष का रास्ता नहीं ढूंढ सके। लेकिन, माओ ने जनता के साथ मिलकर इसके साधनों और तौर-तरीकों को ढूंढ़ निकाला। और यह था—महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति।

सांस्कृतिक क्रान्ति 1966 में शुरू हुई और 1976 में समाप्त हो गयी। यह विश्व सर्वहारा क्रान्ति के इतिहास का तीसरा महान मील का पत्थर है। यह अब तक सर्वहारा वर्ग द्वारा हासिल उपलब्धियों का शिखर है। लोग पूछते हैं कि ''क्या इस चीज के बारे में ठोस और सार्थक ढंग से बताया जा सकता है कि सर्वहारा वर्ग द्वारा समाज कैसे चलाया जायेगा?'' हां, बताया जा सकता है।

सांस्कृतिक क्रान्ति ने नई राह निकाली

सांस्कृतिक क्रान्ति, क्रान्ति के अन्तर्गत होने वाली क्रान्ति थी—समाजवाद के अन्तर्गत क्रान्ति के साथ विश्वासघात करने वालों के विरुद्ध और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना रोकने के लिए लड़ा गया एक खुल्लम-खुल्ला वर्गसंघर्ष। माओ त्से-तुङ और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर के उनके अनुयाइयों के नेतृत्व में नयी पूंजीवादी शक्तियों को उखाड़ फेंकने के लिए, जो समाजवादी समाज की संरचना और उसकी संस्थाओं के भीतर से ही उभरे थे और जिनकी सत्ता का केन्द्र स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर ही था, जनता उठ खड़ी हुई थी।

विश्व इतिहास की यह सर्वाधिक गहनतम और सर्वाधिक सम्पूर्ण क्रान्ति थी। इसने इस चीज की जीवन्त अभिव्यक्ति प्रदान की कि क्रान्ति का तात्पर्य क्या है और जनता के लिए मार्क्स के एक वाक्यांश का प्रयोग करते हुए मैं कहना चाहूंगा कि समाज ''एक झटके से जाग उठा था।''

सांस्कृतिक क्रान्ति ने, समाज में घट रही घटनाओं पर क्रान्तिकारी युवाओं को गर्मागर्म बहसों में शामिल होते देखा। इसने बड़े शहरों में घेरा डालते हुए अभिजातों से सत्ता वापस लेने के लिए मजदूरों को बहादुराना ढंग से गोलबन्द होते और सर्वहारा शासन के नये, अधिक आमूलगामी और विस्तृत रूपों को कायम करने की जटिल प्रक्रिया से गुजरते देखा।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, दैनिक जीवन की दिनचर्या खुल्लमखुल्ला सड़कों पर आ गयी और जीवन के हर क्षेत्रों के लोग आर्थिक नीति के बारे में, शिक्षा व्यवस्था के बारे में और कम्युनिस्ट पार्टी एवं जनता के बीच के सम्बन्धों के बारे में व्यापक बहसों में मशगूल हो गये। कोई भी सरकारी अधिकारी आलोचना से बरी नहीं रहा। साधारण लोग वैज्ञानिकों और प्रशासकों से उनकी अहम्मन्यता और वर्गीय पूर्वाग्रह के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, मार्क्सवाद की कुछ विशेष अवधारणाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए अभियान चलाये गये। इनमें से एक अवधारणा जिसका व्यापक अध्ययन किया गया, मार्क्स की एक रचना से ली गयी थी। इसके अनुसार ''कम्युनिज्म क्रान्ति के स्थायित्व की घोषणा है और सर्वहारा का वर्गीय अधिनायकत्व सामान्यतया सभी वर्गविभेदों के उन्मूलन, उन उत्पादन सम्बन्धों के उन्मूलन जिस पर वे टिके हुए हैं, उन सामाजिक सम्बन्धों के उन्मूलन जिसे ये उत्पादन सम्बन्ध व्यक्त करते हैं और इन सामाजिक सम्बन्धों से निकलने वाले सभी विचारों के क्रान्तिकारीकरण का एक आवश्यक संक्रमण-बिन्दु है।''

माओवादी इसे ''समस्त चार'' (''the 4 alls'') कहते हैं। इसका अर्थ है कि क्रान्ति आधे रास्ते में नहीं रुकेगी। सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में सभी प्रणालियों, सभी सम्बन्धों, सभी संस्थाओं और वर्ग विभाजन को मजबूत बनाने और उसे मूर्त रूप देने वाले सभी विचारों के क्रान्तिकारीकरण

के लिए क्रान्ति का जारी रहना।

ठोस ढंग से इसका क्या अर्थ निकलता है? उत्पादन के सम्बन्धों के सवाल को लें। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान औद्योगिक एवं कारखाना प्रबन्धन का क्रान्तिकारीकरण किया गया। उत्पादकता एवं अनुशासन के नाम पर मजदूरों की पहलकदमी को सीमित करने वाले उत्पीड़नकारी श्रम कानूनों की आलोचना की गयी और उनका खात्मा कर दिया गया। एक व्यक्ति द्वारा प्रबन्धन का स्थान सामूहिक प्रबन्धन ने ले लिया। मजदूर प्रबन्धन के कामों में हिस्सा लेते थे और प्रबन्धक भी कार्यशालाओं में काम करते थे। तकनीकीकर्मी मजदूरों के साथ मिलकर समस्याओं का विश्लेषण करते थे और मजदूरों के बीच से तकनीकी टीम भी विकसित की गयी। एक ही रूटीन को भंग करने और अत्यधिक विशिष्टीकरण को खत्म करने के लिए मजदूरों के कामों की अदला-बदली भी होती रहती थी। सबसे अधिक तनख्वाह पाने वाले प्रबन्धकों की आय अकुशल मजदूरों से सिर्फ पांच गुना अधिक थी। इसकी तुलना अमेरिका के उन बड़े अधिकारियों से कीजिए जो आम मजदूरों से 150 गुना अधिक वेतन पाते हैं।

कारखाने पड़ोस के समुदायों से सहकार चलाते थे और अपने प्रतिनिधि देहातों में भेजते थे। शहर और देहात के बीच विभेद को पाटने का यह ठोस तरीका था। इसके साथ ही, कार्यस्थलों पर सिर्फ उत्पादन करने के अलावा जीवन के और भी रंग थे। आपको बतायें कि माओ के अनुयाइयों ने सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान यह नारा दिया था—''कारखाने सिर्फ उत्पादों का उत्पादन ही नहीं करते बल्कि वे मनुष्यों का उत्पादन भी करते हैं।'' और कारखानों में राजनीतिक बहस-मुबाहसे, सांस्कृतिक और शैक्षिक गतिविधियां कामों का अंग बन गयी थीं।

सामाजिक सम्बन्ध एवं संस्थाएं ''समस्त चार'' के अन्य महत्वपूर्ण अंग थे। आइये शिक्षा व्यवस्था में हुई क्रान्ति पर विचार करते हैं। विश्वविद्यालयों में मजदूरों और किसानों को बड़ी तादाद में प्रवेश दिया गया। पुराने पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया गया और एक समतामूलक समाज बनाने की आवश्यकताओं के अनुरूप इसे ढाला गया। परम्परागत प्रतियोगिता परीक्षाएं और ग्रेड प्रणाली का खात्मा कर दिया गया; पढ़ाने की निरंकुश प्रणालियों की आलोचना की गयी; प्रोफेसरों से यह अपेक्षा की गयी कि वे छात्रों से सीखें; और मजदूरों एवं किसानों को कक्षाओं में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। नयी शिक्षा व्यवस्था में अध्ययन को शारीरिक काम से जोड़ा गया। उच्च स्तरीय विद्यालयों में प्रवेश लेने से पूर्व छात्रों को एक या दो वर्ष किसानों और मजदूरों के बीच व्यतीत करना पड़ता था और वे प्रवेश के लिए इस आधार पर जनता द्वारा नामित किये जाते थे कि जनता की सेवा करने की उनके अन्दर कितनी तत्परता है।

ये गम्भीर परिवर्तन थे। किन्तु वे आसानी से नहीं हुए। और उन्हें हमलों का शिकार होना पड़ा। इसका मुकाबला चीनी समाज में वर्ग संघर्ष के एक अंग के रूप में किया गया और इसे आगे बढ़ाया गया। यह संघर्ष इस बात के लिए था कि समाज की दिशा कौन निर्धारित करेगा और अन्ततोगत्वा, इस बात के लिए कि समाज पर शासन कौन करेगा—सर्वहारा वर्ग या नया बुर्जुआ वर्ग। 1970 के दशक में यह संघर्ष तीव्र हो उठा और चीन में वर्ग संघर्ष के बिखर जाने में अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों ने जबर्दस्त प्रभाव डाला। क्रान्तिकारी शक्तियों ने सर्वहारा शासन की हिफाजत के लिए प्रचण्ड एवं बहादुराना संघर्ष किया। लेकिन देङ सियाओ पिङ के नेतृत्व में पूंजीवादी पथगामी शक्ति बटोरने और सैनिक तख्तापलट करने में सफल हो गये। 1976 में उन्होंने मजदूर वर्ग की सत्ता को उखाड़ फेंका।

चीजों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए

सर्वहारा वर्ग ने तीन बार—पहली बार पेरिस में, दूसरी बार सोवियत संघ में और उसके बाद चीन में—''स्वर्ग में हलचल'' मचा दी थी। इस शताब्दी में दो बार अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा ने वास्तव में लम्बे डग भरे और समाज पर शासन करने और एक नयी दुनिया बनाने की प्रक्रिया की शुरुआत की—30 वर्षों से अधिक समय तक सोवियत संघ में और 25 वर्षों तक चीन में। परन्तु दोनों बार क्रान्ति पराजित हो गयी। वे ''असफल'' नहीं हुईं, पराजित हो गयीं। सर्वहारा वर्ग को यह पराजयें एक प्रतिद्वंद्वी वर्ग और प्रतिद्वंद्वी विश्व व्यवस्था द्वारा मिलीं।

दोनों बार एक नये किस्म का समाज बनाने के प्रयास उस देश में हुए जो विरोधी शक्तियों से घिरे हुए और उनके दबावों में थे। और केवल यही नहीं, ये प्रयास एक ऐसी दुनिया में हुए जिसमें पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और इसके विचार एवं इसी विश्वदृष्टि का वर्चस्व कायम था। इससे महत्वपूर्ण सबक हासिल होते हैं। किसी अकेली क्रान्ति की नियति अन्ततोगत्वा इस बात से जुड़ी हुई है कि विश्व क्रान्ति आगे बढ़ रही है या नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी जगह यदि जनता सत्ता पर कब्जा करने और समाजवाद का निर्माण करने के लिए आगे डग भरती है, तो नये समाज को सर्वप्रथम और सबसे आगे विश्व क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए एक आधार क्षेत्र के रूप में होना चाहिए।

सर्वहारा वर्ग तीन चक्रों में सत्ता में रहा है। लेकिन, जहां से इसने शुरुआत की है, वहीं यह वापस नहीं लौटा है। क्योंकि सर्वहारा वर्ग ने इन अनुभवों से सीखा है। इसने सीख लिया है कि शासन करने का अर्थ क्या होता है और समाज को नये सिरे से बनाने का क्या अर्थ होता है। इसने क्रान्तिकारी प्रक्रिया की अपनी समझदारी गहरी बनायी है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद ने इसे संश्लेषित किया है। ऐसे लोग भी हैं जो यह कहते हैं कि पूंजीवाद का विश्लेषण करते समय तो मार्क्स सही हैं लेकिन सर्वहारा वर्ग द्वारा मुक्तिदायी क्रान्ति का नेतृत्व करने के सवाल पर वह गलत हैं। लेकिन सर्वहारा वर्ग ने इन 150 वर्षों में यह दिखा दिया है कि वही एकमात्र वर्ग है जो समाज का क्रान्तिकारीकरण कर सकता है।

यह महत्वपूर्ण है कि चीजों के बारे में एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य अपनाया जाये। यहां, गौरतलब बात दरअसल यह है—एक नयी एवं उदीयमान व्यवस्था और पुरानी एवं पराभव की ओर अग्रसर पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की व्यवस्था अर्थात अन्तिम और सामाजिक शत्रुता पर आधारित सामाजिक उत्पादन के सर्वाधिक सुसंगत रूप—के बीच विश्व-ऐतिहासिक संघर्ष। सही है कि पुरानी व्यवस्था मार्क्स के अनुमानों से ज्यादा समय तक टिकी हुई है। लेकिन ऐसा नहीं है कि यह अधिकाधिक लोकहितकारी होती गयी है। यह ऐसी दुनिया है जिसमें समृद्ध और वंचितों के बीच इतना अधिक ध्रुवीकरण पहले कभी नहीं था, एक ऐसी दुनिया जिसमें लोग एक दूसरे से और अपनी सर्जनात्मकता से दूर होते जा रहे हैं। यह ऐसी दुनिया है, जिसमें तकनोलाजी गुलाम बनाती है, मुक्त नहीं करती। यह व्यवस्था सचमुच पुरानी पड़ गयी है। इसकी दशाएं और मुसीबतें जनता को संघर्षों के लिए उठ खड़े होने के लिये बाध्य कर रही हैं। और केवल सर्वहारा क्रान्ति इस व्यवस्था के अन्तरविरोधों को हल कर सकती है और मानवता को इतिहास की इस बर्बर मंजिल से आगे जाने की इजाजत दे सकती है।

लेकिन हमने जो सीखा है, वह यह कि इसके लिए एक दीर्घकालिक और जटिल संघर्ष की, एक समूचे युग की, दरकार होगी जब इसका खात्मा कर दिया जायेगा। हमने यह सीखा है कि विश्व सर्वहारा क्रान्ति का मार्ग मार्क्स के आकलनों से कहीं ज्यादा लम्बा और टेढ़ा-मेढ़ा होगा। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि इतालवी नगर राज्यों से आरम्भ करके अपना शासन अन्तिम

(शेष पृष्ठ 83 पर)

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत् क्रान्ति के अध्यक्ष माओ के सिद्धान्त का कर्तव्यनिष्ठापूर्वक अध्ययन करो!

चाओ याङ

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने का अध्यक्ष माओ का सिद्धान्त सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को सुदृढ़ बनाने और हमारे सभी कार्यों को आगे बढ़ाने का मार्गदर्शक सिद्धान्त है। हमें माओ त्से-तुङ विचारधारा का जीवन्त अध्ययन और उसका प्रयोग अनिवार्य रूप से जारी रखना चाहिए। इस सिद्धान्त का भलीभांति अध्ययन करना चाहिए और स्वयं को उन अग्रिम पंक्ति के योद्धाओं के रूप में ढालना चाहिए जो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति जारी रखें। अध्यक्ष माओ के इस सिद्धान्त की गहरी समझदारी हासिल करने के लिए यह समझना आवश्यक है कि उन्होंने सतत क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को सृजनात्मक रूप से कैसे विकसित किया?

सतत क्रान्ति का सिद्धान्त सर्वप्रथम मार्क्स और एंगेल्स द्वारा निरूपित किया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, विश्व पूंजीवाद अभी भी स्वतंत्र प्रतियोगिता की मंजिल में था। अनेक देशों में (उदाहरण के लिए जर्मनी), बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का जबर्दस्त उभार था और सर्वहारा वर्ग भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में कूद पड़ा था। बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ जनवादियों ने भी अपने संकीर्ण वर्गहितों से आगे बढ़ते हुए सामन्ती शासन को उखाड़ फेंका, बुर्जुआ अधिनायकत्व को स्थापित किया और विकासमान पूंजीवाद के लिए महानतम स्वतंत्रता हासिल की जो क्रान्ति का अन्तिम लक्ष्य था। जब यह लक्ष्य हासिल हो गया तो उन्होंने आनन-फानन में अपनी क्रान्ति पर पूर्ण विराम लगा दिया। इस परिस्थिति के आलोक में, मार्क्स और एंगेल्स ने चिन्हित किया कि सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को ही अपना अन्तिम लक्ष्य नहीं बना सकता। इसके स्थान पर जनवादी क्रान्ति के बाद उसे **''क्रान्ति को जारी रखना''** है, जिससे बुर्जुआ वर्ग के शासन को उखाड़ फेंका जा सके, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित किया जा सके और उसके बाद निजी स्वामित्व और वर्गों के उन्मूलन और समूचे विश्व में कम्युनिज्म की ओर बढ़ा जा सके। इसलिए, मार्क्स और एंगेल्स ने स्पष्ट रूप से चिन्हित किया कि **''सर्वहारा वर्ग का युद्धघोष अनिवार्य रूप से यह होना चाहिए—क्रान्ति की निरन्तरता।''**

पीकिङ रिव्यू, 30 जनवरी 1970 से लिबरेशन, खण्ड तीन, अंक पांच में 'पुनर्मुद्रित (मार्च 1970)

मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद, दूसरे इण्टरनेशनल के संशोधनवादियों ने, जिन्होंने क्रान्ति की निरन्तरता के मार्क्सवादी सिद्धान्त के साथ विश्वासघात किया था, इस विचार का प्रतिपादन किया कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति के बीच दशकों लम्बा अन्तराल होता है और जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण की सम्भावना को नकार दिया। किसानों की और मजदूर-किसान संश्रय की क्रान्तिकारी स्पिरिट का निषेध करते हुए गद्दार त्रात्स्की एक मार्क्सवाद-विरोधी, लेनिनवाद-विरोधी प्रतिक्रान्तिकारी ''स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त'' लेकर सामने आया। रूसी जनवादी क्रान्ति की कालावधि में एक अति ''वामपन्थी'' के रूप में सामने आकर उसने किसानों की जनवादी क्रान्ति की मांग का निषेध किया और जनवादी क्रान्ति की मंजिल को लांघकर सीधे समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ने की हिमायत की। अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति की कालावधि में उसने अति ''वाम'' से अति दक्षिण की ओर पैंतरापलट किया। उसने यह विचार प्रकट किया कि सर्वहारा वर्ग, जिसने सिर्फ एक देश में राजनीतिक सत्ता पर कब्जा किया है, इसे सुदृढ़ नहीं बना सकता। वह पश्चिमी देशों में सर्वहारा क्रान्ति की सिर्फ प्रतीक्षा करते हुए ही सोवियतों को नष्ट होने से बचा सकता है। सार रूप में, त्रात्स्की के तर्कजाल सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के विरोध में खड़े थे।

दूसरे इण्टरनेशनल के संशोधनवादियों, मेंशेविकों और त्रात्स्की के खिलाफ अपने संघर्ष में लेनिन ने क्रान्ति की निरन्तरता के मार्क्सवादी सिद्धान्त को अपनाया, उसकी हिफाजत की और विकसित किया और जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण के सिद्धान्तों की एक समूची श्रृंखला को प्रस्तुत किया। साम्राज्यवाद के युग की विशिष्ट अभिलाक्षणिकताओं के आलोक में, जिसके अन्तर्गत पूंजीवाद मरणासन्न हो चुका है और सर्वहारा वर्ग की शक्ति बढ़ चुकी है, उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह कहा कि सर्वहारा वर्ग को जनवादी क्रान्तियों का नेतृत्व अनिवार्यत: अपने हाथ में ले लेना चाहिए जिससे इसे अन्त तक ले जाया जा सके और तदनन्तर माकूल समय पर समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ा जा सके। किसान जनसमुदाय की क्रान्तिकारी स्पिरिट को अत्यधिक महत्व देते हुए उन्होंने चिन्हित किया कि किसान वर्ग जनवादी एवं समाजवादी क्रान्तियों में सर्वहारा वर्ग का एक भरोसेमन्द संश्रयकारी है और एक मजबूत मजदूर-किसान संश्रय अनिवार्य रूप से कायम किया जाना चाहिए। उन्होंने पूंजीवाद के विकास के असमान नियम की खोज की और उस प्रसिद्ध थीसिस का प्रतिपादन किया कि एक-एक करके पहले एक देश में समाजवादी क्रान्ति की विजय सम्भव है। 1905 में, जब रूसी जनवादी क्रान्ति का ज्वार उफान पर था, लेनिन ने चिन्हित किया कि जैसे ही जनवादी क्रान्ति के कार्यभार पूरे हो जायेंगे, **''हम लोग बिना देर किये जनवादी क्रान्ति से... समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ना शुरू कर देंगे। हम निर्बाध क्रान्ति के पक्षधर हैं। हम आधे रास्ते में नहीं रुकेंगे।''** क्रान्ति की निरन्तरता की इस प्रतिभापूर्ण अवधारणा का प्रयोग करते हुए लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने रूसी जनवादी क्रान्ति को अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति में विकसित किया और मानवजाति के इतिहास में पहली बार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व वाले प्रथम राज्य की आधारशिला रखी।

ऐसे युग में, जब साम्राज्यवाद पूर्ण पतन की ओर अग्रसर है और समाजवाद विश्वव्यापी विजय की ओर अग्रसर है, हमारे महान नेता अध्यक्ष माओ ने साम्राज्यवाद, आधुनिक संशोधनवाद और हर प्रकार की प्रतिक्रिया के विरुद्ध संघर्ष में और देश के भीतर ''वाम'' और दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशाओं के विरुद्ध संघर्ष के दौरान सतत क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को सृजनात्मक रूप से लागू किया और विकसित किया। अध्यक्ष माओ ने अपने जीनियस का उपयोग करके

जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण सम्बन्धी चीनी क्रान्ति की समस्या का हल निकाला और विशेष रूप से, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति जारी रखने के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया और समाजवाद की मंजिल में क्रान्ति की निरन्तरता के प्रश्न को और अधिक स्पष्ट किया। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विकास के इतिहास का तीसरा देदीप्यमान मील का पत्थर है।

चीनी जनवादी क्रान्ति की कालावधि में, दक्षिणपंथी अवसरवादी लाइन को आगे बढ़ाने वाले चेन तू-श्यू ने त्रात्स्की के मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी ''स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त'' की दक्षिण की ओर से हांक लगायी और ''दो क्रान्तियों का सिद्धान्त'' प्रस्तुत किया। उसने सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व का परित्याग करने, किसान आन्दोलन और मजदूर-किसान संश्रय को विसर्जित कर देने, जनवादी क्रान्ति की उपलब्धियों को बुर्जुआ वर्ग को सौंप देने और केवल बुर्जुआ अधिनायकत्व की एक लम्बी कालावधि के बाद ही समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की वकालत की। चू च्यू-पाई, ली ली-शान और वांग मिङ ने ''वाम'' अवसरवादी लाइन का अनुसरण करते हुए वाम दिशा से त्रात्स्की के मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी'' स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त'' को बेचने की कोशिश की। वे ''एकल क्रान्ति के सिद्धान्त'' को लेकर उपस्थित हुए जिससे जनवादी एवं समाजवादी क्रान्तियां दोनों एक ही झटके में पूरी हो जायें।

यह, सार रूप में, क्रान्ति को ही त्याग देने और विसर्जित कर देने के समान था। इन गलत कार्यदिशाओं ने चीनी क्रान्ति को गम्भीर क्षति पहुंचायी।

चीनी क्रान्ति के ठोस व्यवहार में सतत क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को लागू करते हुए, अध्यक्ष माओ ने दक्षिण और वाम अवसरवादी लाइनों को ध्वस्त कर दिया और नव जनवादी क्रान्ति का एक सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने चिन्हित किया—अक्टूबर क्रान्ति के बाद के युग में, किसी उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश में साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्देशित कोई भी क्रान्ति पुरानी बुर्जुआ या पूंजीवादी विश्व क्रान्ति का अंग नहीं है, बल्कि यह नयी विश्व क्रान्ति, सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का अंग है। यह क्रान्ति केवल सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में व्यापक जनसमुदाय द्वारा साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाही पूंजीवाद के विरुद्ध केन्द्रित क्रान्ति ही हो सकती है। इसका परिप्रेक्ष्य समाजवाद है, न कि पूंजीवाद। अध्यक्ष माओ ने सही-सटीक ढंग से राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल और समाजवादी क्रान्ति की मंजिल के बीच फर्क को स्पष्ट किया और साथ ही साथ यह चिन्हित करते हुए कि पहली मंजिल बाद वाली मंजिल की आवश्यक तैयारी है और बाद वाली मंजिल पहली मंजिल के अपरिहार्य विकास की परिणति है, दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध को सही ढंग से जोड़ा। जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच की किसी मध्यवर्ती मंजिल की इजाजत कत्तई-कदापि नहीं दी जा सकती। इस सिद्धान्त से सही रूप में निर्देशित होते हुए चीनी जनवादी क्रान्ति ने शानदान जीतें हासिल कीं और बिना रुके समाजवादी क्रान्ति में रूपान्तरित हो गयी।

चीन में समाजवादी क्रान्ति की कालावधि में देश के भीतर और विदेश में प्रतिक्रान्तिकारी संशोधनवादी लाइन के खिलाफ जैसे-को-तैसा संघर्ष में अध्यक्ष माओ ने सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों अनुभवों का सांगोपांग सार-संकलन किया और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस प्रकार, उन्होंने हमारे समय में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के सम्मुख उपस्थित सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न—सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को कैसे सुदृढ़ किया जाये और पूंजीवादी पुनर्स्थापना को कैसे रोका जाये—को हल किया।

सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के साथ भीषण विश्वासघात किया। सत्ता में आने के बाद इन गद्दारों ने खुलेआम यह घोषित किया कि ''सोवियत संघ में शत्रुतापूर्ण वर्ग और वर्ग संघर्ष अब मौजूद नहीं है'' और यह कि ''सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अब कोई आवश्यकता नहीं है।'' ''शान्तिपूर्ण क्रान्ति'' द्वारा उन्होंने दुनिया में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अधीन पहले राज्य को बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व के अधीन एक अंधेरे फासीवादी राज्य में उलट दिया। हमारे देश में, 1949 में, जनवादी क्रान्ति की विजय के ठीक पहले और बाद में, गद्दार, आस्तीन का सांप और बदमाश ल्यू शाओ-ची ने चीन में पूंजीवाद के विकास की वकालत करने में कोई भी कोर-कसर बाकी न रखी। यह कहते हुए कि ''समाजवाद भविष्य की चीज है, अभी इसके बारे में बात करना बहुत जल्दबाजी होगी'', जनवादी क्रान्ति को समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे ले जाने के विरोध में बदहवासी के साथ जा खड़ा हुआ। 1956 में, जब उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य मुख्यत: पूरा हो गया, तो वह पुन: ''वर्ग संघर्ष के खत्म हो जाने का सिद्धान्त लेकर उपस्थित हुआ और उसने यह बकवास की कि ''यह प्रश्न पहले ही हल हो चुका है कि चीन में पूंजीवाद या समाजवाद में कौन जीतेगा।'' उसकी दुष्टतापूर्ण योजना सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट का अनुसरण करने और चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना करने की थी।

समाजवादी समाज का अध्ययन करने में विपरीत तत्वों की एकता के नियम को लागू करते हुए अध्यक्ष माओ ने अपनी महान रचना *जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में,* सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की परिस्थितियों में वर्गों और वर्ग संघर्ष की मौजूदगी का व्यापकता और गहराई में विवेचन किया, समाजवादी समाज में दो भिन्न प्रकार के अन्तरविरोधों—हमारे और दुश्मन के बीच के और जनता के बीच के—की थीसिस को प्रतिपादित किया और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति जारी रखने का महान सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

समाजवादी समाज की अभिलाक्षणिकताओं का विश्लेषण करने के बाद अध्यक्ष माओ ने चिन्हित किया कि—**''समाजवादी समाज की एक अत्यधिक लम्बी ऐतिहासिक अवधि होती है। समाजवाद की ऐतिहासिक अवधि में वर्ग, वर्ग अन्तरविरोध और वर्ग संघर्ष मौजूद रहते हैं, समाजवादी मार्ग और पूंजीवादी मार्ग के बीच संघर्ष मौजूद रहता है और पूंजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा मौजूद रहता है।''** इसलिए, सर्वहारा वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वह क्रान्ति जारी रखे और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लगातार मजबूत और सुदृढ़ बनाता जाये।

समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष की दीर्घकालिक प्रकृति राजनीति और विचारधारा के क्षेत्र में विशेष रूप में प्रकट होती है। बुर्जुआ वर्ग और सभी शोषक वर्गों की राजनीतिक सत्ता को उखाड़ फेंकने और उनके उत्पादन के साधनों का स्वत्वहरण कर लेने के बाद राजनीति और विचारधारा का क्षेत्र ही उनके लिए अन्तिम ''वंशानुगत क्षेत्र'' बचा रहता है। वे शोषक वर्गों की पुरानी विचारधारा, पुरानी संस्कृति और पुराने रीति-रिवाजों—लोगों के दिमागों में और समाज में मौजूद हजारों साल पुराने अवशेषों—का प्रयोग करने के लिए बाध्य होते हैं, जो जनता को भ्रष्ट करने, उनके दिलों को जीतने और इस प्रकार पूंजीवाद की पुनर्स्थापना का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उनकी आत्मिक ''पूंजी'' का काम करते हैं। इस चीज के मौजूद रहते समाजवादी क्रान्ति को केवल आर्थिक मोर्चे पर आगे बढ़ाना अपर्याप्त है और ऐसी क्रान्ति अपने आप में सुरक्षित नहीं रह सकती। सर्वहारा वर्ग को अधिरचना के क्षेत्र में अनिवार्य रूप से सर्वतोमुखी अधिनायकत्व

लागू करना चाहिए। अध्यक्ष माओ ने चिन्हित किया है कि—''**राजनीति और विचारधारा के क्षेत्र में यह सुनिश्चित करने के लिए कि समाजवाद और पूंजीवाद में ''कौन जीतेगा'' एक अत्यधिक लम्बी अवधि की जरूरत होती है। सिर्फ कई दशकों से काम नहीं चलेगा इसमें सफलता के लिए एक से लेकर कई शताब्दियों की दरकार होगी।''**

समाज में दो वर्गों और दो रास्तों के बीच संघर्ष अपरिहार्यत: पार्टी में प्रतिबिम्बित होगा। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने के दौरान आक्रमण के मुख्य लक्ष्य ''**सत्ता में बैठे पार्टी के वे लोग होंगे जो पूंजीवादी रास्ता अख्तियार कर रहे होते हैं।''** सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत भी वर्ग संघर्ष राजनीतिक सत्ता के प्रश्न पर, ''**इस प्रश्न पर कि पार्टी और राज्य का नेतृत्व मार्क्सवादियों के हाथों में रहेगा या संशोधनवादियों के''** केन्द्रित रहता है।

अध्यक्ष माओ ने न केवल सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति की आवश्यकता प्रतिपादित की वरन इसे सम्पन्न करने के प्रभावकारी रूपों को भी ढूंढ़ निकाला। यह रूप है—महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति, जिसके दौरान सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत व्यापक जनवाद की पद्धति लागू की गयी, जनसमुदाय को साहसपूर्वक नीचे से गोलबन्द किया गया, जिससे वे मुक्त होकर अपने विचारों को प्रकट कर सकें, बड़े चित्राक्षरों वाले पोस्टर (big character posters) लिख सकें और महान बहसें संचालित कर सकें। इस प्रकार, मुट्ठी भर गद्दार, दुश्मन के एजेण्ट और पूरी तरह असुधरणीय पूंजीवादी पथगामी, जिन्होंने पार्टी के अन्दर घुसपैठ बना ली थी, अपने मुख्य प्रतिनिधि गद्दार, छुपा हुआ घाती और दुष्ट ल्यू शाओ-ची सहित बेनकाब हो गये और पूंजीवादी पुनर्स्थापना का उनका षड्यंत्र चकनाचूर हो गया। इसने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को अत्यधिक सुदृढ़ किया। ऐतिहासिक भौतिकवाद को मेधावी रूप से लागू करते हुए और विश्व इतिहास के निर्माण में मेहनतकश जनता की महान भूमिका में पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए अध्यक्ष माओ ने पार्टी के भीतर दो लाइनों के संघर्ष को जनान्दोलनों के साथ एकीकृत किया। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धान्त और व्यवहार में महान सृजन और महान नया योगदान है।

जब मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने क्रान्ति की निरन्तरता की बात कही थी तो वे मुख्यत: जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण के प्रश्न पर ही विचार कर रहे थे। मार्क्स ने यह पूर्वज्ञान प्रकट किया था कि समाजवादी समाज का विकास एक सतत क्रान्ति की प्रक्रिया होगी। उन्होंने चिन्हित किया था कि—''**यह समाजवाद क्रान्ति के स्थायित्व की घोषणा है, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सामान्तया वर्गविभेदों के पूर्ण उन्मूलन का एक आवश्यक संक्रमण-बिन्दु है।''** अपने समय की सीमाओं के कारण उन्होंने सिर्फ दिशा ही निर्देशित की थी। अक्टूबर क्रान्ति के बाद, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को नेतृत्व देने के अपने महान क्रान्तिकारी व्यवहार की बुनियाद पर खड़े होकर पूंजीवादी पुनर्स्थापना और वर्गसंघर्ष की दीर्घकालिक प्रकृति के खतरों को देखा। उन्होंने चिन्हित किया था कि ''**सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व वर्ग संघर्ष की समाप्ति नहीं बल्कि इसका नये रूपों में जारी रहना है।''** लेकिन बाद में शीघ्र ही उनका देहावसान हो गया ओर वे इस प्रश्न को हल नहीं कर सके थे। नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में, समाजवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण की ऐतिहासिक अवधि में अध्यक्ष माओ ने क्रान्ति की निरन्तरता के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को सृजनात्मक रूप से लागू किया। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के सिद्धान्त और व्यवहार में पहली बार यह स्पष्टता से चिन्हित किया गया कि उत्पादन के साधनों के समाजवादी रूपान्तरण का कार्य मुख्यत: पूरा हो चुकने के बाद भी वर्ग और वर्गसंघर्ष मौजूद रहते हैं और सर्वहारा वर्ग को अनिवार्य रूप से क्रान्ति जारी रखना चाहिए। यह सर्वाधिक सांगोपांग क्रान्तिकारी सिद्धान्त है और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को एक अपूर्व योगदान है। यदि अध्यक्ष माओ के इस सिद्धान्त को आत्मसात कर लिया जाये तो उन देशों में, जहां सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कायम है, स्वयं अपने संघर्षों से पूंजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने में मदद मिलेगी और उन देशों की जनता को, जहां संशोधनवादियों ने राज्यसत्ता पर कब्जा कर लिया है, अपने संघर्षों से संशोधनवादी शासन को उखाड़ फेंकने और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को फिर से कायम करने में मदद मिलेगी।

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति जारी रखने का अध्यक्ष माओ का सिद्धान्त क्रान्ति की निरन्तरता के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त और मंजिलों से होते हुए क्रान्ति के विकास का समेकन है। जैसाकि दिसम्बर 1958 में, अध्यक्ष माओ के व्यक्तिगत निर्देशन में तैयार किये गये और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं केन्द्रीय समिति के छठवें प्लेनरी सत्र द्वारा स्वीकृत ''जन-कम्यूनों से सम्बन्धित कुछ सवालों के बारे में प्रस्ताव'' में कहा गया है—''समाजवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण के प्रश्न पर विचार करते समय न तो हमें समाजवादी मंजिल की कोई समय-सीमा निर्धारित करनी चाहिए और न ही समाजवादी मंजिल को छोड़कर कम्युनिस्ट मंजिल में छलांग लगाने के यूटोपियाई स्वप्न में डूबना चाहिए। हम सतत क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के हिमायती हैं। हम इस विचार पर अडिग हैं कि जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के बीच और समाजवाद और कम्युनिज्म के बीच कोई 'महान दीवार' न तो मौजूद है और न ही इसकी इजाजत दी जा सकती है। इसके साथ ही, हम मंजिलों से गुजरते हुए क्रान्ति के विकास के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के भी हिमायती हैं। हम इस विचार पर अडिग हैं कि विकास की विभिन्न मंजिलें गुणात्मक परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करती हैं और यह कि गुणात्मक रूप से भिन्न इन मंजिलों को गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए।'' दूसरे शब्दों में, हम लोग मंजिलों से गुजरते हुए सतत क्रान्ति के हिमायती हैं। एक बार इस सिद्धान्त को आत्मसात कर लेने के बाद, हम ''वाम'' और दक्षिण अवसरवादी गलतियों पर काबू पाने और उन्हें रोकने में समर्थ हो जायेंगे और सक्रियता और दृढ़ता के साथ सर्वहारा वर्ग के ध्येय को आगे बढ़ाते जायेंगे।

●

हमारे देश में समाजवाद और पूंजीवाद के बीच के विचारधारात्मक संघर्ष में कौन जीतेगा, इस मसले को तय करने में काफी लम्बा अरसा लगेगा। कारण यह है कि पूंजीपति वर्ग तथा पुराने समाज के बुद्धिजीवियों का प्रभाव और उनकी वर्ग-विचारधारा हमारे देश में आगे भी बहुत दिनों तक बनी रहेगी। अगर हमने इस बात को पर्याप्त रूप से नहीं समझा या बिल्कुल नहीं समझा, तो हमसे अत्यन्त गम्भीर गलतियां होंगी और हम विचारधारा के क्षेत्र में संघर्ष चलाने की आवश्यकता को नजरअंदाज कर देंगे।

— माओ त्से तुङ

''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'' (27 फरवरी 1957)

जार्ज लुकाच के विरोध में

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

1.

मैं अनेक बार इस बात पर आश्चर्यचकित हुआ हूं कि जार्ज लुकाच के कुछेक निबन्ध काफी मूल्यवान होने के बावजूद क्यों अपने में कुछ असन्तोषजनक लिये रहते हैं। उनकी मान्यताओं का आधार ठोस सिद्धान्त हैं, लेकिन इसके बावजूद अक्सर ऐसा लगता है कि वह सच्चाई से काफी दूर पड़े हुए हैं। वह बुर्जुआ उपन्यास का पतन उस बिन्दु पर चिन्हित कर देते हैं, जब बुर्जुआ वर्ग एक प्रगतिशील भूमिका निभा रहा था। समकालीन उपन्यासकारों पर विचार करते वक्त, विशेष रूप से जब ये लेखन बुर्जुआ उपन्यास के क्लासिक ढांचों का अनुकरण करते हैं और कम से कम एक औपचारिक यथार्थवादी ढांचे में लिखते हैं, उनकी दृष्टि कितनी भी सहानुभूतिपूर्ण क्यों न रही हो, वह उनमें भी पतन की प्रक्रिया देखने से नहीं चूकते। क्लासिकी उपन्यासों में जो गहराई, व्यापकता और आक्रमण की तुर्शी रहती है, उस स्तर का यथार्थवाद भी वह इन उपन्यासों में नहीं देख पाते। लेकिन इस सन्दर्भ में भी कैसे उनसे वर्ग-दृष्टिकोण छोड़ देने की अपेक्षा की जाती है? वे उपन्यास की तकनीक में ह्रास को भी अनिवार्यत: प्रमाणित करते हैं। वहां तकनीकी दक्षता में भी कोई कमी नहीं है, केवल इतना है कि वहां तकनीक को एक विचित्र प्रकार की तकनीज्ञता प्राप्त हो गई है—जिसे चाहें तो एक किस्म की निरंकुशता कहा जा सकता है। रूपवादी पद्धति, क्लासिकी माडल पर आधारित यथार्थवादी ढांचों में भी अपने को अंकित कर लेती है। यहां कुछ विचित्र मिसालें पेश की जा सकती हैं। ऐसे लेखक भी, जो इस बात के प्रति जागरूक हैं कि पूंजीवाद आदमी को गरीब बनाता है, अमानवीय बनाता है, मशीनीकृत कर देता है, गरीब बनाने की इस प्रक्रिया में स्वयं भागीदार दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि वे भी अपने लेखन में नये मानव के प्रति कम चिंतित दिखते हैं। उसे वे विभिन्न घटनाओं से गुजारते तो हैं, लेकिन उसकी आंतरिक जिन्दगी को ''न कुछ'' करार देते हुए आगे बढ़ जाते हैं। और यह उनकी दृष्टि में तर्कसंगत है। इस प्रकार वे भौतिकी की ''प्रगति'' के साथ हो लेते हैं। वे ठोस कारण-श्रृंखला का परित्याग कर सांख्यिकी कारणों का सहारा लेते हैं व्यक्ति को कारण-सम्बन्ध मानकर बेमतलब समझ लेते हैं और केवल बड़े समूहों के बारे में ही वक्तव्य देते हैं। वे, अपनी तरह से, श्रोडिंगर के अनिश्चितता के सिद्धान्त को भी अपनाते हैं। वे पर्यवेक्षक को उसके प्राधिकार और श्रेय से विच्युत कर देते हैं और पाठक को उसके स्वयं के विरुद्ध संगठित करते हैं। वे उसे शुद्ध आत्मगत अवधारणाओं के साथ पेश करते हैं। और इसमें उनकी अपनी—जीद, ज्वायस, डबलिन—की चारित्रिक खूबी समायी रहती है। इस संपूर्ण अवलोकन प्रक्रिया में कोई भी लुकाच का अनुसरण कर सकता है और उनके प्रतिवादों से सहमत हो सकता है। लेकिन तब हमें लुकाच की अवधारणा के मूल आधारों पर विचार करना होगा। वह एकबारगी 'अमानवीय' तकनीक का सफाया कर देते हैं और फिर हमारे पूर्वजों की ओर मुखातिब होकर उनके पतित वंशजों से उनका अनुकरण करने का आग्रह करते हैं। क्या लेखकों का मुकाबला अमानवीकृत आदमी से है? क्या उसकी भीतरी जिन्दगी एकदम शुष्क है? क्या उसे एक असह्य गति के साथ अस्तित्व की गुहा से गुजरना होता है? क्या उसकी तार्किक क्षमताएं क्षरित हो चुकी हैं? क्या चीजों के आपसी सम्बन्ध इतने अदृश्य हो चुके हैं? अगर ऐसा है, तो फिर लेखक को सीधे-सीधे पुराने तौर-तरीकों का अनुकरण करना चाहिए। आत्मा की एक उज्ज्वल तस्वीर खींचनी चाहिए। घटना के वेग को धीमे वर्णन से बंधित करना चाहिए। व्यक्ति को रंगमंच के केन्द्र तक अपनी कला के जरिए पहुंचाना चाहिए, आदि-आदि। ऐसी स्थिति में निश्चित निर्देश अविशिष्ट फुसफुसाहट में बदल जाते हैं। जाहिर है, लुकाच के बुनियादी सिद्धान्त को सही मानने वाला हर व्यक्ति इस बात को लेकर आश्चर्यचकित हो सकता है। तो क्या इस समस्या का कोई समाधान नहीं है? नया उभरता वर्ग इसे उजागर करता है। यह अतीत की ओर लौटना नहीं है। यह दिव्य अतीत से नहीं बल्कि आगामी खतरनाक दिनों से जुड़ा है। यह तकनीकों को रद्द करने की जगह उनके विकास की मांग करता है। आदमी जनता से एक कदम आगे बढ़कर आदमी नहीं हो जाता, बल्कि इसके लिए उसे जनता के बीच गहरे धंसना होता है। लोग मानवता के ह्रास को त्याग देते हैं और आदमी पुन: आदमी हो जाते हैं— लेकिन वही आदमी नहीं जो कि वे पहले थे। आज के युग में जब लोग हर मूल्यवान और मानवीय चीज को आत्मसात कर रहे हैं, जब वे जनता को फासिस्ट दौर में पूंजीवाद प्रदत्त अमानवीयता के विरुद्ध संगठित कर रहे हैं, साहित्य केवल यही रास्ता अपना सकता है। लुकाच के निबन्धों में अब भी आत्मसमर्पण, पलायन और अव्यावहारिक आदर्शवाद मौजूद है। इससे वह निश्चय ही मुक्त होंगे और इसीलिए वह कृतिकार कहलायेंगे। अन्यथा उनकी कृतियों में मूल्यों की जो असंतोषजनक भरमार है, उससे यह प्रभाव पड़ता है कि लुकाच को केवल मनोरंजन से प्रेम है, संघर्ष से नहीं। यानी आगे बढ़ने की बजाय वह पलायन करते हैं।

2.

यथार्थवादी सिद्धान्त की रूपवादी प्रकृति का खुलासा इस तथ्य से भी हो जाता है कि यह न केवल विगत शताब्दी के कुछेक उपन्यास-रूपों (इधर के उपन्यास केवल इसलिए उद्धृत किये जाते हैं, कि वे इन पुराने उपन्यास रूपों के अनुकरण को प्रमाणित कर सकें) पर पूर्णत: आधारित है बल्कि उपन्यास की एक खास शैली की अनुशंसा करती है। लेकिन तब गीतात्मक काव्य या नाटक के यथार्थवाद का क्या होगा? ये दो ऐसी साहित्यिक विधाएं हैं जो विशेष रूप से जर्मनी में काफी ऊंचे स्तर पर पहुंच चुकी हैं।

अपने उक्त तर्क को ठोस प्रमाणों से पुष्ट करने के लिए मैं व्यक्तिगत लहजे में बातचीत

करना जारी रखूंगा। मेरी गतिविधि, जैसा कि मैं समझता हूं, यथार्थवाद में विश्वास रखने वाले हमारे सिद्धान्तकारों से काफी भिन्न है। वे मेरी बिल्कुल एकतरफा तसवीर पेश करते हैं। संप्रति मैं दो उपन्यासों, एक नाटक और एक कविता-संग्रह पर काम कर रहा हूं। इनमें से एक उपन्यास ऐतिहासिक है और रोम के इतिहास की विशिष्ट जानकारी की मांग करता है। उपन्यास व्यंग्यात्मक है। इधर इस उपन्यास पर सिद्धान्तकारों का धावा हुआ है। और अगर मैं कहूं कि मैं अपने उपन्यास—''The affairs of Herr Julius Caesar'' के बारे में उनसे कोई भी संकेत प्राप्त नहीं कर सका हूं तो इसमें कोई बैर-भाव नहीं ढूंढ़ निकालना चाहिए। पिछली शताब्दी का बुर्जुआ उपन्यास, जिसमें व्यक्तिगत द्वंद्वों की विस्तृत रपट, अन्दरूनी साज-सज्जा सहित विशाल दृश्य-संयोजन की प्रमुखता पाई जाती है, मेरे लिए कतई भी अनुकरणीय नहीं है। एक लम्बा हिस्सा मैं डायरी रूप में लिखता हूं। दूसरे हिस्सों में मेरे लिए दृष्टिकोण बदलना आवश्यक हो जाता है। दो फर्जी लेखकों के दृष्टिकोण के मोन्ताज में मेरा दृष्टिकोण अपने आप समाहित हो जाता है। हो सकता है कि इस प्रकार का प्रयोग अनावश्यक लगे। कुछ भी हो यह पूर्वनिश्चित ढांचे में खप नहीं पाता। लेकिन यथार्थ में गहरे तक पैठने के लिए यह तकनीक आवश्यक हो जाती है। और जब मैंने यह तकनीक अपनायी, तो उस समय मेरे इरादे निश्चय ही और पूरी तरह से यथार्थवादी थे। दूसरी ओर मेरा नाटक दृश्यों का एक ऐसा चक्र है, जो ब्राउन की तानाशाही के अधीन जीवन का उद्घाटन करता है। अब तक मैं इस नाटक के बीस अलग-अलग दृश्य लिख चुका हूं। और अगर कोई एक आंख बन्द करके देखे तो उनमें से कुछ दृश्य यथार्थवादी पद्धति के हिसाब से उपयुक्त बैठते हैं। कुछ लोग ऐसा नहीं करते, क्योंकि वे बहुत अल्पदर्शी हैं। संपूर्ण कृति इस ढांचे में नहीं खपती। मैं इसे एक यथार्थवादी नाटक मानता हूं। मैंने यथार्थवाद पर प्रवचनों की बजाय किसान ब्रुएल के चित्रों से अधिक सीखा है। दूसरे उपन्यास, जिस पर मैं वर्षों से काम कर रहा हूं, के बारे में मैं अधिक नहीं कहूंगा। उसमें वर्णित समस्याएं अत्यन्त जटिल हैं और जिस स्थिति में फिलहाल, यथार्थवादी सौन्दर्यशास्त्र है, वह उसके मूल्यांकन के लिए एकदम नाकाफी है। रूप की अनेक कठिनाइयां मेरे सामने आई हैं, मुझे लगातार नये-नये ढांचों के लिए संघर्ष करना पड़ता है। जो कोई भी मुझे काम करते हुए देख लेगा, वह यही समझेगा कि मैं रूप की समस्याओं से अधिक उलझा हुआ हूं। मैं ये ढांचे इसलिए तैयार करता हूं क्योंकि मुझे वास्तविकता दर्शानी है। जहां तक गीतात्मक काव्य का सवाल है, वहां भी यथार्थवादी नजरिया मौजूद है। लेकिन मैं महसूस करता हूं कि जो भी इस पर लिखना चाहेगा, उसे ऐसा करने के लिए काफी सावधानी बरतनी होगी। साथ ही उपन्यास और नाटक में यथार्थवाद की जानकारी के लिए काफी कुछ सीखने की जरूरत पड़ेगी।

उपन्यास-लेखन

और जब मैं ऐतिहासिक जिल्दों (वे चार भाषाओं में उपलब्ध हैं, इसके अतिरिक्त प्राचीन भाषाओं से दो अनुवाद भी मौजूद हैं) के ढेर से गुजरता हूं और किसी तथ्य की पूर्ण संदेह के साथ, आंखें मसलता हुआ जांच-पड़ताल करता हूं, तो मेरे दिमाग के किसी कोने में रंगों की अटपटी कल्पनाएं, साल के विशिष्ट मौसमों के प्रभाव होते हैं। मुझे बिना शब्दों के स्वर सुनाई पड़ते हैं, निरर्थक भाव-मुद्राएं दिखाई पड़ती हैं : अनाम आकृतियों के अनेकानेक उपेक्षित समूहों की मैं कल्पना करता हूं, आदि-आदि। बिंब एकदम अपरिभाषित होते हैं। कतई उत्तेजक नहीं, बल्कि सतही होते हैं, या मुझे ऐसा लगता है। जो भी हो, वे वहां हैं। मेरे भीतर का ''रूपवादी'' उन पर काम कर रहा होता है। और जैसे ही क्लाडियस की दाह-संस्कार लाभ-संस्थाओं का महत्व मेरे सामने स्पष्ट होता है, तो इस खोज में मुझे एक विशेष आनन्द मिलता है। मैं सोचता हूं—''कितना अच्छा होता, यदि एक विस्तृत, पारदर्शी, शरत्कालीन साफ-स्वच्छ अध्याय लिखा जा सकता—इस प्रक्रिया से गुजरती एक लाल तरंग की तरह। शहर जनतांत्रिक **सिसेरो** को वाणिज्यदूत नियुक्त करता है; वह जनतांत्रिक ढंग से शस्त्र-सुसज्जित स्ट्रीट क्लबों पर प्रतिबंध लगा देता है; ये क्लब बिना प्रतिरोध के दाह-संस्कार लाभ-संस्थाओं में परिवर्तित हो जाते हैं; पतझड़ में पत्तियों का रंग सुनहरा होता है; एक बेरोजगार आदमी के दाह-संस्कार में 10 डालर खर्च होता है : आपको चन्दा भी देना पड़ता है; अगर आप देर में मरते हैं, तो खरीद-फरोख्त फायदेमंद नहीं हो पाती। लेकिन तब हमारे पास लहर-रूप भी है : अक्सर इन संस्थाओं के पास हथियार दिखाई पड़ते हैं; सिसेरो को शहर से बाहर खदेड़ दिया जाता है; उसे नुकसान उठाना पड़ता है; उसका निवास जला दिया जाता है; इसकी लागत लाखों डालर है : कितनी है? हमें यह देखना चाहिए—नहीं—यह प्रासंगिक नहीं है; ईसापूर्व 7 नवम्बर 91 के दिन स्ट्रीट क्लब कहां थे? 'महानुभावो, मैं कोई प्रमाण पेश नहीं कर सकता' (सीजर)। मैं कृति के प्रारम्भिक दौर में हूं।''

चूंकि कलाकार को निरन्तर रूप-समस्याओं से उलझना पड़ता है इसलिए लेखक को यह ठोस तौर पर स्पष्ट करना चाहिए कि रूपवाद से उसका क्या अभिप्राय है? अन्यथा कलाकार के पास उसका कोई अर्थ नहीं पहुंचता। अगर अभिप्राय ऐसे रूप से है, जो कलाकृति को **यथार्थवादी रूपवाद** में तब्दील कर देता है, तो केवल सौन्दर्यशास्त्रीय आधार पर रूपवाद की स्थापना करना गलत है। एक ओर रूपवाद और दूसरी ओर कथ्यवाद। यह दृष्टिकोण अत्यन्त प्राथमिक और आध्यात्मिक है। अगर केवल सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये, तो कोई कठिनाई सामने नहीं आती। मान लीजिए एक व्यक्ति ऐसा बयान देता है जो असत्य है—या अप्रासंगिक है—केवल इसलिए कि वह छन्दोबद्ध है, तो यह रूपवाद है। लेकिन हमारे पास ऐसी भी अयथार्थवादी कोटि की कृतियां मौजूद हैं, जो ऐसी नहीं हो पायी, क्योंकि वे रूप-बोध के अतिरेक पर आधारित थी।

रूपवाद की रूपगत विशेषताएं

हम पूरी तरह से बोधगम्य भी रह सकते हैं और अवधारणा को अधिक सुन्दर और व्यावहारिक अर्थ भी दे सकते हैं। इसके लिए हमें केवल क्षण भर के लिए साहित्य की दुनिया को एक ओर कर ''रोजाना की जिन्दगी'' में पैठना होगा। वहां ''रूपवाद'' की क्या स्थिति है? उदाहरण के तौर पर इस अभिव्यक्ति को लें : औपचारिक तौर पर वह सही है। इसका अर्थ हुआ कि वास्तव में वह सही नहीं है, वरन वस्तु के आकार की दृष्टि से सही है और केवल इसी बिन्दु तक सही है। या कि : औपचारिक रूप से समस्या सुलझ गई है। इसका मतलब हुआ, वास्तव में वह सुलझी नहीं है। या : और मैंने ऐसा रूप की दृष्टि से किया। इसका अर्थ हुआ, जो कुछ मैंने किया, वह ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं था; मैं वह करता हूं, जो चाहता हूं, लेकिन बाहरी आकार को सुरक्षित रखता हूं और केवल इसी सीमा तक मैं वह कर सकता हूं, जो मैं चाहता हूं। जब मैंने पढ़ा कि तीसरे राइख की तानाशाही कागज पर पूरी हो चुकी है, तो मैंने यह जाना कि यह राजनीति का एक रूपगत सन्दर्भ है। राष्ट्रीय समाजवाद (नात्सीवाद–अनु) रूप में समाजवाद है—यह राजनीतिक रूपवाद का दूसरा उदाहरण है। यहां भी हम रूप के अतिरेक पर विचार नहीं कर रहे हैं।

इस प्रकार से परिभाषित करने पर यह

अवधारणा बोधगम्य और महत्वपूर्ण दोनों हो जाती है। और जब हम बिना दैनिक जीवन का एकबारगी परित्याग किये, साहित्य की ओर मुखातिब होते हैं, तो हमारी स्थिति ऐसी बन जाती है कि हम सामाजिक कथ्य के आधार पर साहित्यिक रूप को विकसित न करने वाली और वास्तविकता से दूर कृतियों तक का चरित्र निर्धारित कर सकें और उन्हें रूपवादी घोषित कर उनकी वास्तविकता को उघाड़ सकें। हम उन कृतियों को भी खोज सकते हैं, जो रूप में यथार्थवादी हैं। और ऐसी अनेक महान कृतियां उपलब्ध हैं।

रूपवाद की अवधारणा का यह अर्थ निश्चित कर लेने के बाद हमारे पास ''आवांगार्द'' जैसे आन्दोलनों का मूल्यांकन करने का मापदण्ड आ जाता है। एक अगुआ, हमें, हार और रसातल की ओर ले जा सकता है। वह इतना आगे बढ़ सकता है कि बाकी सेना उसका अनुकरण ही न कर पाये, क्योंकि वह दृष्टि से गायब या ऐसा ही कुछ हो चुका है। और इस प्रकार इस यथार्थवादी चेहरे का भी खुलासा हो जाता है। और यदि संयोगवश वह मुख्य आकार से अलग हो जाता है, तो हम यह भी निर्धारित कर सकते हैं कि कैसे, क्यों और किस प्रकार वह मुख्य आकार से जुड़ सकता है। **प्रकृतिवाद** और एक खास तरह के **अराजकतावादी मोन्ताज** को उसके सामाजिक प्रभावों में भी यह दिखाकर कि वे चीजों की सतह को छूते रहते हैं, और सामाजिक जटिलताओं में गहराई से प्रवेश नहीं कर पाते, उजागर किया जा सकता है। और साहित्य के उस संपूर्ण ढेर को, जो अपने रूप में आमूल परिवर्तनवादी लगता है, पूर्णत: सुधारवादी, कागजी हल पेश करने वाला रूपवादी प्रयास साबित किया जा सकता है।

रूपवाद की यह परिभाषा उपन्यास, गीतात्मक काव्य और नाटक लिखने में भी मदद करती है और ऐसी रूपवादी शैली को हमेशा-हमेशा के लिए नेस्तनाबूद कर देती है, जो केवल रूपाकार में दिलचस्पी रखती है, जो लेखन की खास शैलियों को समर्पित है, एक खास कालखण्ड के दायरे में बन्द है और साहित्यिक कृति की समस्याओं को, तब भी जब वह ऐतिहासिक ''तर्क पेश करती हुई'' सी लगती है, निहायत साहित्यिक शब्दावली में सुलझाने की कोशिश करती है।

ज्वायस के महान व्यंग्यात्मक उपन्यास **यूलीसस** में लेखन की अनेक शैलियों और असाधारण विशिष्टताओं के अतिरिक्त तथाकथित आन्तरिक एकालाप भी मौजूद है। एक पेटी-बुर्जुआ महिला सुबह बिस्तर पर लेटकर ध्यान मग्न हो जाती है। उसके छिन्न-भिन्न विचार एक-दूसरे को काटते हुए, एक-दूसरे में अतिक्रमण करते हुए उपस्थित होते हैं। फ्रायड के बिना इस अध्याय की कल्पना मुश्किल थी। इसमें लेखक की उलाहनाएं कुछ उसी तरह की हैं, जैसी कि फ्रायड ने अपने जीवन में झेलीं। उनसे बरसा—घासलेटी साहित्य, गंदगी का घिनौना मजा, नाभि के नीचे की घटनाओं का अतिरंजित ब्यौरा, अनैतिकता इत्यादि। आश्चर्य की ही बात है कि कुछ मार्क्सवादी भी इस अनर्गल प्रलाप से जुड़ गये और उनकी जुगुप्सा पेटी-बुर्जुआ विशेषता साबित हुई। तकनीकी पद्धति के तौर पर भी आन्तरिक एकालाप को नकारा गया; उसे रूपवादी घोषित किया गया। मैं इसका कारण अब तक नहीं समझ पाया हूं। यह तथ्य कि तालस्ताय इसे बिल्कुल दूसरे ही ढंग से चित्रित करते, ज्वायस की पद्धति को न कुछ साबित करने के लिए काफी नहीं है। ये तमाम आलोचनाएं इतनी सतही थीं कि लगता था कि यदि ज्वायस इस एकालाप को किसी मनोविश्लेषक से सलाह-मशविरे के बाद लिखते तो शायद सब ठीक-ठीक हो जाता। आंतरिक एकालाप प्रयोग के लिए अत्यन्त दुरूह शैली है। इस तथ्य पर जोर देना अत्यन्त प्रासंगिक है। मापदण्डों की निश्चितता के बिना आंतरिक एकालाप किसी तरह वास्तविकता को पुनर्प्रतिपादित नहीं कर सकता यानी विचार या सम्बद्धता को समग्रता में अंकित नहीं कर सकता, जैसा कि वह सतही तौर पर करता हुआ दिखाई पड़ता है। यह **केवल औपचारिक रूप से** का दूसरा उदाहरण है, जिससे—यानी वास्तविकता के छदमीकरण से—हमें सतर्क रहने की जरूरत है। यह केवल ऐसी रूपवादी समस्या नहीं है, जो ''तालस्ताय की तरफ वापसी'' के नारे से सुलझ जाती हो। किन्हीं विशुद्ध रूपवादी सन्दर्भों में आंतरिक एकालाप का जन्म हुआ था, जिसे काफी बढ़-चढ़कर पुरस्कृत किया गया; मुझे तूचोल्स्की के नाटक[1] याद आ रहे हैं।

अभिव्यक्तिवाद की बपौती

अनेक लोगों के लिए अभिव्यक्तिवाद इच्छा स्वातंत्र्यवादी भावनाओं का सिद्धान्त था। उस समय मैं स्वयं ''आत्माभिव्यक्ति'' के व्यवसाय बनने के विरुद्ध था (देखें—मेरे नाटक 'वार्सुश' में पात्रों के लिए निर्देश)। मैं उन दर्दनाक, पीड़ादायी दुर्घटनाओं के प्रति संशयग्रस्त था, जिनमें आदमी 'अपने से बाहर' होने लगा था। वह कहां पहुंचा? शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि ऐसे लोग केवल व्याकरण से ही मुक्त हुए थे, पूंजीवाद से नहीं। श्वाइक के लिए हॉसेक को श्रेष्ठतम सम्मान प्राप्त हुए। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि मुक्ति के प्रयासों को हमेशा गंभीरता के साथ लिया जाना चाहिए। अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अभिव्यक्तिवाद की दुर्दशा को स्वीकार नहीं करना चाहते। उन्हें डर है कि मुक्ति-प्रयास उनके लिए दबाये जा रहे हैं—नियम-परिसीमन से आत्म-मुक्ति, बेड़ियां बन चुके पुराने रीति-रिवाजों से मुक्ति आदि; कि ऐसे आक्रमणों का उद्देश्य उस वर्णन-पद्धति को बरकरार रखना है, जो सम्पत्तिवानों को, उनके पतन के बावजूद, रास आती थी, यदि राजनीति से उदाहरण लिया जाये, तो कहा जा सकता है कि अगर क्रान्तियों का विरोध करना है, तो क्रान्ति अवश्य करें (विकास नहीं)।

साहित्य की सही समझ पैदा करने के लिए उसके विकास को समझना अत्यावश्यक है। मेरा मतलब आत्मविकास से नहीं है। ऐसी स्थिति में उन प्रयोगवादी दौरों को स्पष्ट देखा जा सकता है, जिनमें परिप्रेक्ष्य का लगभग असह्य संकुचन मौजूद है—अक्सर इकतरफा या संकीर्ण कृतियां सामने आती हैं और नतीजों का व्यावहारिक पक्ष अत्यन्त संदिग्ध हो उठता है। ऐसे भी प्रयोग हुए हैं, जिनका कोई नतीजा नहीं निकला या थोड़े-बहुत नतीजे सामने आये। स्पष्ट है कि कार्य के बोझ से दबे कलाकार—कार्य की महत्ता समझने वाले आत्म-सजग लोग, इसकी उपेक्षा नहीं करते, बल्कि वे इसके लिए अक्षम हैं। वे अक्सर अपनी गलतियां नहीं देख पाते; कभी-कभी अन्य लोग उन्हें और उनकी समस्याओं को समझ पाते हैं, उनमें से कुछ विशेष प्रकार के प्रश्नों में समाहित हो जाते हैं—लेकिन इनमें से सभी घेरे का माप लेने को तत्पर नहीं हैं। स्वाभाविक है कि दुनिया ऐसे लोगों के प्रति अधीर हो उठे और वह अपने इस अधिकार का अपरिमित इस्तेमाल करती है। और अगर वह उनके प्रति धैर्यवान है, तो इसका भी कारण है।

कला के साथ असफलता और आंशिक सफलता का तथ्य भी संबद्ध है। हमारे अध्यात्मवादियों (तत्व-मीमांसकों) को यह बात जाननी चाहिए—कलाकृतियां बहुत आसानी से असफल हो जाती हैं; सफलता तक पहुंचना उनके लिए बहुत मुश्किल होता है। कोई इसलिए चुप हो जा सकता है कि उसके पास

1. तुर्क तूचोल्स्की (1890-1938) : अतिवादी विधिवेत्ता (पत्रकार) और वाइमर काल का नाटककार

महसूस करने को कुछ रहा नहीं, कोई इसलिए कि उसकी भावनाएं भाषा को नि:शेष कर चुकी हैं और तीसरा अपने को अपने बोझ से नहीं, बल्कि परतंत्रता की भावना से मुक्त कर लेता है। चौथा इसलिए अपने औजार नष्ट कर देता है कि वे उसका लम्बे समय तक शोषण करते रहे। दुनिया भावुक होने के लिए अभिशप्त नहीं है। हार को अवश्य स्वीकारना चाहिए, लेकिन इसका यह मतलब नहीं होता कि आगे संघर्ष ही न हों।

मेरे लिए अभिव्यक्तिवाद मात्र ''दर्दनाक कार्य'' या पथभ्रष्टता नहीं है। क्यों? इसलिए कि मैं इसे केवल एक होनी नहीं मानता कि उस पर चट से एक बिल्ला चिपका दूं। यथार्थवादी अगर कुछ सीखना चाहते हों और चीजों की व्यावहारिकता में उनकी कोई रुचि हो, तो इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। उनके लिए कैसर, स्टैनबर्ग, तॉलर और गोरिंग[3] में शोषण के लिए आवश्यक तत्व विद्यमान थे। स्पष्ट कहूं तो जहां समस्याएं मेरी समस्याओं से मेल खाती हैं, मैं तुरन्त सीख लेता हूं। और भी अधिक स्पष्टवादी होकर कहूं तो तालस्ताय और बाल्जाक से मैं मुश्किल से ही कुछ सीख पाता हूं। उनके पास अनेकानेक समस्याएं थीं, जिन पर उन्हें अधिकार प्राप्त करना था। अगर अवसर दिया जाये, तो मैं कहूंगा कि उसमें से काफी कुछ मेरे हाड़-मांस का हिस्सा बन चुका है। स्वभावत: मैं ऐसे लोगों और उनकी कार्य-पद्धति की प्रशंसा करता हूं। उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। लेकिन उन्हें अलग से नहीं, बल्कि स्विफ्ट और वाल्तेयर जैसे अन्य समस्याओं वाले लेखकों के साथ रखकर देखना ही उचित होगा। साहित्यिक उद्देश्यों की प्रतिद्वंद्विता तब स्पष्ट हो जायेगी और तब हम अपनी समस्याओं को मद्देनजर रखते हुए, अधिक आसानी के साथ उनसे अनेक आवश्यक चीजें ग्रहण कर सकते हैं।

राजनीतिक प्रतिबद्धता वाले लेखन ने एक समस्या को अत्यन्त वास्तविक बना दिया। और वह समस्या थी—एक ही कृति में एक शैली से दूसरी शैली में उछाल। यह समस्या अत्यन्त व्यावहारिक तौर पर उठी। राजनीतिक दृष्टिकोण अनेक कृतियों में ढांचे की समग्रता को निर्मित करने में असफल रहा। इसके अतिरिक्त बहुत ही यांत्रिक ढंग से राजनीतिक संदेश को कथानक में पेश किया जाने लगा। ''संपादकीय'' अक्सर ''कलाहीन'' होते थे—इतने प्रत्यक्ष कि कथांश का अकलात्मक रूप नजरअंदाज कर दिया जाता था (कथांश हर स्थिति में संपादकीय से अधिक कलात्मक माना जाता था) इसको लेकर खासा संघर्ष उठ खड़ा हुआ था। व्यावहारिक रूप से इसके दो समाधान सामने आये—या तो संपादकीय को कथांश का हिस्सा बना लिया जाता या फिर कथांश को संपादकीय का और संपादकीय को कलात्मक रूप दे दिया जाता। कथांश और संपादकीय दोनों को कलात्मक रूप दिया जा सकता था। (लेकिन तब संपादकीय निश्चय ही विशिष्टता खो देता।) इस पूरी प्रक्रिया में एक मुहावरे से दूसरे में उछाल मारी जाती। यह भी कलात्मक अंदाज से किया जाता। इस प्रकार यह समाधान एक नयी खोज के समान जान पड़ा। इस संदर्भ में, पूर्ववर्ती संरचनाओं का जिक्र किया जा सकता है, जिनकी कलात्मक विशिष्टता असंदिग्ध है। एट्टिक थियेटर के कार्य में समूहगान का व्यवधाान इसका एक उदाहरण है। चीनी थियेटर की भी यही विशेषताएं हैं।

किस वस्तु में कितनी अधिक लोच है और किसमें नहीं, इस समस्या का निदान कुछेक व्यक्तिगत उदाहरणों से किया जा सकता है। कुछ कृतियों में हम अपने पूर्वजों के मुकाबले थोड़े से सुरागों से काम चला सकते हैं। जहां तक मनोविज्ञान का प्रश्न है, यह कोई अंधविश्वास का प्रश्न नहीं है कि नव-स्थापित विज्ञानों के नतीजों को आत्मसात् किया जाये या नहीं। केवल व्यक्तिगत उदाहरणों द्वारा ही इस बात की परख हो सकती है कि एक चरित्र का चित्रण वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का उपयोग कर परिष्कृत किया जा सकता है या नहीं। और कि जिस तौर पर उनका उपयोग किया जाता है, वह सही है या नहीं। साहित्य को नये आदमी की नयी क्षमताओं—तत्काल अंकन की क्षमता, निर्भीक अमूर्तन या द्रुत-संयोजन से वंचित नहीं रखा जा सकता। विज्ञान की अथक शक्ति से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास संभव है। तभी कलात्मक आकलनों की सही परख की जा सकती है। चीजों को हवा से आत्मसात करने के लिए, अधिक या कम सजग होकर एक निरन्तर प्रक्रिया के व्यापक हिस्सों से गुजरकर रचनाशील होने के लिए कलाकार शार्टकट लेना चाहता है। आलोचना को, कम से कम मार्क्सवादी आलोचना को प्रत्येक बिन्दु पर व्यवस्थित और सटीक ढंग से, संक्षेप में कहा जाये तो वैज्ञानिक ढंग से आगे बढ़ना चाहिए। सतही बातों से कुछ नहीं बनता, फिर चाहे शब्दावली कैसी भी क्यों न हो। किसी भी स्थिति में यथार्थवाद की व्यावहारिक परिभाषा के लिए आवश्यक आधार केवल साहित्यिक कृतियों से नि:सृत नहीं किये जा सकते। (तालस्ताय बनो—लेकिन उसकी कमजोरियां छोड़कर! बाल्जाक बनो—लेकिन फिर पूरा बाल्जाक बनो!) यथार्थवाद केवल साहित्यिक प्रश्न नहीं है, यह एक महत्वपूर्ण राजनीतिक, दार्शनिक और व्यावहारिक मसला है। इस पर एक सामान्य मानव रुचि के विषय के तौर पर ही विचार किया जाना चाहिए।

3.

ऐसे लोगों से कोई बड़ी अपेक्षा नहीं की जा सकती, जो ''रूप'' शब्द की तोता-रटन्त लगाये रहते हैं या उसे कथ्य से अलग कोई चीज मानते हैं, या कथ्य से **उसका संदर्भ** जोड़ते हैं, या इसी तरह का कुछ और। या 'तकनीक' के कोई ''यांत्रिक'' चीज होने का संदेह करते हैं। इस तथ्य पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए कि वे (मार्क्सवाद) के क्लासिक्स को उद्धृत करते हैं और कि ''रूप'' शब्द वहां भी मौजूद रहता है, क्लासिक्स उपन्यास लिखने की तकनीक नहीं सिखाते। ''यांत्रिक'' शब्द से खौफ खाने की जरूरत नहीं, जहां तक वह तकनीक की ओर इशारा करता है; ऐसी भी यांत्रिकता रही है, जिसने मानवमात्र की भारी सेवा की है और कर रही है—यानी **टेक्नालाजी**। हमारे बीच के **''सही सोचने''** वाले लोगों को, जिन्हें स्तालिन दूसरे क्षेत्र में रचनात्मक लोगों से अलग करके देखते हैं, कुछ शब्दों से जिनका वे मनचाहा इस्तेमाल करते हैं, शब्द विद्ध करने की आदत होती है।

वे जो सांस्कृतिक विरासत की **आज्ञप्ति** जारी करते हैं और कहते हैं कि संघर्ष में ''अन्योन्याश्रित मानव सम्बन्धों'' के बिना, ''वास्तविक आचरण में मानवमात्र की परीक्षा किये'' बिना और कि ''संघर्षरत लोगों के निकटवर्ती अन्तर्सम्बन्धों से अलग किसी भी स्थायी पात्र की रचना नहीं की जा सकती, वे क्या उन ''जटिल'' (!) पद्धतियों के बारे में कुछ कहेंगे, जिनके द्वारा पुराने लेखकों ने अपने कथानकों को गतिवान बनाया—जैसे हासैक (Hasek) में श्वीक (Schweik) निश्चय ही एक ऐसा चरित्र है, जिसे शायद ही भूला जा सके। मैं नहीं जानता कि यह पात्र ''टिकेगा'' भी कि नहीं; मैं यह भी नहीं जानता कि तालस्ताय और बाल्जाक द्वारा निर्मित पात्र टिकेंगे कि नहीं; इस बारे में मेरी जानकारी उतनी ही अल्प है, जितनी और किसी की हो सकती है। सच पूछा जाये, तो स्थायित्व की अवधारणा के लिए मैं इतना ऊंचा मानदण्ड निर्धारित नहीं

2. कैसर, स्टैनबर्ग, तॉलर और गोरिंग सभी अभिव्यक्तिवादी नाटककार थे और पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद लेखन क्षेत्र में उतरे थे।

करता। कैसे हम इसका पूर्वानुमान कर सकते हैं कि आने वाली पीढ़ियां इन पात्रों को याद रखना भी चाहेंगीं कि नहीं? (बाल्जाक और तोलस्तोय शायद ही इस स्थिति में हों कि वे उन्हें (अनुग्रहीत) कर सकें, फिर चाहे उनके कथानक को गति देने वाली पद्धतियां कितनी ही सादी कोटि की क्यों न हों।) मुझे संदेह है कि यह बात इस बात पर निर्भर करती है कि कहां तक यह वक्तव्य एक सामाजिक रूप से प्रासंगिक वक्तव्य है : ''वह (यहां ''वह'' का मतलब समकालीन से होगा)। पेयरे गोरियो एक चरित्र है।' शायद ऐसे चरित्र न टिक सके? शायद, उनकी उत्पत्ति संबंधों के ऐसे क्लिष्ट जाल से हुई, जो आगे कतई नहीं टिकेगा।

पात्र (चरित्र) और बाल्जाक

चालू मुहावरे (चलती हवा) के विपरीत जो मोन्ताज टेक्नीक दोस पासोस ने इस्तेमाल की मैं उसका भी कायल नहीं हूं। जब मैंने उपन्यास लिखा, तो मैंने स्वयं ''संघर्षरत मानवों के बीच निकट की ''क्रिया-प्रतिक्रिया'' जैसी ही किसी चीज को रचने की कोशिश की थी। (मोन्ताज टेक्नीक के जो भी तत्व मैं उपयोग में लाया, वो इस उपन्यास में अन्यत्र उपलब्ध हैं)। लेकिन मैं यह कतई पसन्द नहीं करूंगा कि शुद्ध **स्थायी पात्रों (चरित्रों)** के निर्माण की **आड़ लेकर** इस टेकनीक पर फैसला दिया जाये। सर्वप्रथम तो ''संघर्षरत मानवों के बीच निकट की क्रिया-प्रतिक्रिया'' का दोस पॉसोस ने स्वयं शानदार चित्रण किया है, भले ही उस द्वारा वर्णित संघर्ष तोलस्तोय की तरह के न हों या कि **बाल्जॉक के कथानक उसकी जटिल सांबंधिकता** की तरह न हों। और दूसरी बात यह कि उपन्यास, निश्चय ही, 'चरित्रों' के साथ, विशेषकर 19वीं शताब्दी की तरह के चरित्रों के साथ, नहीं उठता-गिरता है। हमें साहित्य के स्थायी पात्रों का **हवाई महल** जैसा नहीं खड़ा करना चाहिए—मदाम तुस्सौ के मोम के पुतलों के संग्रहालय की तरह, जिसमें एन्टीगोन से नाना और एइनियास से नेखल्यूदोव (वैये यह पात्र है कौन?)[3] तक के मात्र स्थायी पात्रों की भरमार है। मुझे ऐसी धारणाओं पर हंसना कतई भी अपमानजनक नहीं लगता। हम उन आधारों के बारे में थोड़ा-बहुत जानते हैं, जिन पर कि, वर्ग-समाज में मौजूद व्यक्ति-पूजा का महल खड़ा रहता है। ये आधार ऐतिहासिक हैं। हम व्यक्ति से छुटकारा पाने से काफी दूर हैं, लेकिन इसके बावजूद हमें दुख के साथ यह **जानना पड़ता है** कि कैसे इस प्रवृत्ति ने आन्द्रे जीद (Andre Gide) जैसे व्यक्ति को सोवियत युवा[4] में व्यक्ति ढूंढ़ने से रोका। जीद को पढ़कर मैं नेखल्यूदोव (वह चाहे जो भी हो) को स्वयं स्थायी चरित्र के तौर पर बेमतलब ठहरा चुका था, क्योंकि यही, संभवतः, सोवियत युवा के बीच के उन पात्रों (चरित्रों) को स्थायित्व प्रदान करने का एकमात्र रास्ता था जिन्हें मैं स्वयं देख चुका हूं। हम फिर से उस बुनियादी सवाल की ओर लौटते हैं : यह कहना पूर्णतः झूठ (भ्रामक) है कि लेखक द्वारा समस्याओं का इतना अधिक सरलीकरण कर दिया जाये कि बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग के बीच के अंतिम संघर्ष के दौर में मानवमात्र की जीवन-प्रक्रिया की सघनता, जटिलता और वास्तविकता एक 'प्लाट' संयोजन या महान व्यक्तियों के निर्माण की पृष्ठभूमि बनकर रह जाये, यह कहीं नहीं ले जाता और कि यह लेखक का कर्म नहीं है। किताबों में व्यक्तियों को उतनी ही जगह मिलनी चाहिए जितनी वास्तविकता या यथार्थता के संदर्भ में जरूरी हो। अगर साफ शब्दों में बात कही जाये तो हमारे लिए व्यक्ति मानवीय सहअस्तित्व की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति में से उत्पन्न होते हैं—वे ''बड़े'' भी हो सकते हैं और ''छोटे'' भी, यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि लेखक को हमेशा महान पात्र (चरित्र) की सृष्टि करनी चाहिए और उसे बहुतेरे रंगों में प्रतिक्रिया व्यक्त कर देनी चाहिए—इस हद तक कि अन्य पात्रों के साथ उसके सम्बन्ध तात्कालिक (क्षणभंगुर) और सतही बने रहें।

ड्रामा (टकराव की शक्ति), संवेग (गर्मी का बिन्दु) और पात्रों (आकृतियों) की माप, इनमें से कोई भी अपनी सामाजिक क्रियाओं से अलग चित्रित नहीं किया जा सकता। 'संघर्षरत मानवों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया विकासमान पूंजीवाद की प्रतिस्पर्धात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया ही है, जिसमें उसके अपने अनूठे चरित्र विकसित होते हैं या सामने आते हैं। समाजवादी स्पर्धा में दूसरी तरह के व्यक्ति विकसित होते हैं। तब फिर एक सवाल और उठता है कि क्या यह भी एक ऐसी व्यक्तिनिष्ठ बनाने वाली प्रक्रिया है, जैसा कि पूंजीवादी प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष है? एक खास अर्थ में हम अपने आलोचकों से यह उद्‌बोधनात्मक नारा सुनते हैं—''अपने को समृद्ध करो।''

बाल्जाक विरूपता के कवि हैं। उनके नायकों का जो बहुविध चरित्र (उनका उज्ज्वल पक्ष और छायापक्ष) है, वह उत्पादन के विकास के द्वंद्व को ही **गरीबी की प्रगति** के रूप में प्रतिबिंबित करता है। ''उसने व्यापार को काव्यात्मक बना दिया।'' लेकिन : ''बाल्जाक सर्वप्रथम एक व्यापारी था—ऋण से लदा व्यापारी... उसने सट्टेबाजी शुरू की... भुगतान रोक दिये और कर्ज अदा करने के लिए उपन्यास लिखे।'' इस प्रकार बाल्जाक के सन्दर्भ में कविता, स्वाभाविक रूप से (प्रकारान्तर) से एक व्यापार हो गई। प्रारंभिक पूंजीवाद के आदिमयुगीन जंगल में व्यक्ति व्यक्तियों से और व्यक्तियों के समुदाय से लड़े; वास्तव में (बुनियादी तौर पर) वे ''पूरे समाज'' के विरुद्ध लड़े। यही वह चीज थी, जिसने उनकी वैयक्तितता निर्धारित की। अब हमें यह राय दी जाती है कि हम व्यक्तियों का निर्माण करते चले जायें, उन्हें पुनर्निमित करें या नये व्यक्तियों की रचना करें, जो स्वाभाविक रूप से भिन्न तो होंगे, लेकिन ढलेंगे उसी सांचे में : तो? 'बाल्जाक की ललक एकोन्माद पर जाकर ठहर गई।' वस्तुओं की यह जड़ता (कामोत्तेजना) उसके उपन्यासों में सैकड़ों-हजारों पृष्ठों में फैली हुई है। सामान्य तौर पर **हमसे इससे बचने की अपेक्षा की जाती है।** त्रेत्याकोव को लुकाच इन्हीं प्रवृत्तियों के लिए **उंगली उठाकर** आगाह करते हैं। लेकिन यही जड़ता बाल्जाक के चरित्रों को व्यक्तियों में परिवर्तित कर देती है। यह हास्यास्पद ही होगा कि उनमें व्यक्ति का निर्माण करने वाले सामाजिक संवेगों और क्रियाओं का साधारण विनिमय ढूंढा जाये। क्या एक सहकारिता के लिए उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन आज उसी तरह के व्यक्ति को विकसित करता है, जैसा कि ''संचयन के दौर'' में होता है। सहज ही यहां भी ''हां'' में उत्तर दिया जा सकता है। उत्पादन की यह प्रक्रिया अस्तित्व में अवश्य आती है और वहां व्यक्ति भी होते हैं। लेकिन वे व्यक्ति एकदम भिन्न हैं कि बाल्जाक उन्हें मान्यता नहीं देते और जीद आज ऐसा नहीं करते। उनमें अतिविरूपता के तत्वों का —व्यक्ति में उदात्त और आधार अपराध भावना और पवित्रता का एकत्व आदि—अभाव है।

नहीं; बाल्जाक मोन्ताज में नहीं उलझते। लेकिन वह **विशाल वंशावली** लिखते हैं, वह अपनी फन्तासी के प्राणियों को उसी तरह उड़ा देते हैं जैसे नेपोलियन ने अपने मार्शल और भाई उड़ाये। वह आधिपत्य को (वस्तुओं का उन्माद) परिवारों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी से गुजारते

3. नेख्ल्यूदोव : उदार अभिजात जो ताल्सताय के उपन्यास 'पुनरुत्थान' का मुख्य पात्र है।
4. यहां जीद की ''रूस यात्रा'' का संदर्भ है। इसका अनुवाद 1937 में, यानी एक साल पहले, जर्मन में हुआ था।

हैं और एक से दूसरे के हाथों हस्तान्तरित करते चलते हैं। वह केवल ''आर्गेनिक'' से मतलब रखते हैं : ''परिवार'' आर्गेनिज्म हैं, जिनमें व्यक्ति ''सुनते'' हैं। तो क्या हमें पुनः ऐसे सेलों, फैक्टरियों या सोवियतों का निर्माण करना चाहिए—यानी उत्पादन के साधनों की निजी मिल्कियत की समाप्ति के बाद, परिवार व्यक्तियों का निर्माण नहीं करता? लेकिन ये नये संस्थान जिन व्यक्तियों का निर्माण करते हैं, वे परिवार की तुलना में ''आरोपित'' हैं। **इन्हें एक साथ रखकर देखा जाये।** उदाहरण के लिए, समकालीन न्यूयार्क में, मास्को की बात छोड़ दीजिए, स्त्री का पुरुष के द्वारा ''निर्माण'' बाल्जाक के पेरिस की तरह नहीं होता, वह पुरुष पर कमतर निर्भर है। यह तो साफ और साधारण बात हुई। इसीलिए ''बुखार की हद तक'' पहुंच जाने वाले खास संघर्ष नहीं हुआ करते। दूसरे संघर्ष, जो उनका स्थान ले लेते हैं (और स्वभावतः वे लेते हैं) उतने ही भयानक हैं, किन्तु शायद वे उतने व्यक्तिवादी नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका कोई वैयक्तिक चरित्र ही नहीं है, क्योंकि वे व्यक्तियों द्वारा लड़े जाते हैं। लेकिन ऐसी स्थिति में गठबंधन या सहयोगी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जैसा कि बालजाक के समय में नहीं हो सकता था (संभव नहीं था)।

4.

जो लोग समकालीन जर्मन साहित्य के लिए आदर्श-वाक्यों की ढूंढ में रहते हैं, उन्हें यह बात भी दिमाग में ठीक से बिठा लेनी चाहिए कि जिस चीज को आप साहित्य का नाम देना चाहते हैं वह शत-प्रतिशत विदेशों में छपता है और लगभग **शत-प्रतिशत** वहीं पढ़ा भी जा सकता है, इसलिए **लोकप्रिय** शब्द का साहित्य में एक विशिष्ट अर्थ (संदर्भ) बन जाता है। इस प्रसंग में लेखक से उन लोगों के बारे में लिखने की अपेक्षा की जाती है, जिनके बीच वह रहता नहीं है, और फिर यदि विषय की गहराई में बैठा जाये, तो लेखक और जनता के बीच की खाई उतनी बड़ी नहीं दिखाई पड़ेगी, जितनी कि कुछ लोग सोच सकते हैं। आज यह खाई उतनी बड़ी नहीं है, जितनी करके देखी जाती है और न ही अतीत में वह उतनी छोटी थी, जितनी कि दिखाई जाती है। वर्तमान सौंदर्यपरकता, किताबों की कीमतें और पुलिस ने हमेशा लेखक और जनता के बीच एक निश्चित दूरी बनाये रखने का प्रयास किया है, इसके बावजूद यह कहना गलत होगा, बल्कि कहा जाये अवास्तविक होगा कि इस दूरी में इधर जो फैलाव आ रहा है वह ''बाहरी'' है। निःसंदेह आज लोकप्रिय शैली में लेखन संभव बनाने के लिए विशेष प्रयास करने की आवश्यकता है। दूसरी ओर यह अधिक आसान, आसानतर और अत्यधिक जरूरी हो गया है। लोग अधिक स्पष्टता के साथ अपनी ऊपरी सतहों से विलग हो गये हैं, शोषक और दमनकारी ताकतें उनके खिलाफ एक बहुआयामी खूनी युद्ध में कूद चुके हैं, अब पक्ष लेना मुश्किल नहीं रह गया है, कहा जा सकता है कि ''पब्लिक'' में खुला युद्ध चल रहा है।

लेखक के लिए यथार्थवादी शैली की मांग को भी अब इतनी आसानी से दरकिनार नहीं किया जा सकता। वह एक अनिवार्यता हासिल कर चुकी है। शासक वर्ग अब अक्सर पहले से बड़े झूठ बोल रहे हैं, इसलिए आज सच्चाई को सामने लाना सर्वाधिक जरूरी हो गया है, यातनाएं बढ़ चुकी हैं। साथ ही यातनाप्रदों की संख्या भी बढ़ चुकी है। जनता की अपार यंत्रणाओं को दृष्टि में रखते हुए छोटी-मोटी कठिनाइयों से या छोटे-मोटे समुदायों की कठिनाइयों से सरोकार जाहिर करना आज घृणास्पद है।

लोकप्रियता की धारणा

उत्तरोत्तर बढ़ते जंगलीपन के विरुद्ध एक ही सहयोगी से हाथ मिलाया जा सकता है और वह है जनता, जो सबसे अधिक इससे त्रस्त है, केवल वही एक ऐसी ताकत है, जिससे कोई अपेक्षा बांधी जा सकती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जनता की ओर मुखातिब होने के सिवा और कोई चारा नहीं और उनकी भाषा बोलना तो अब पहले से और भी अधिक जरूरी हो गया है। इस प्रकार **लोकप्रिय** और **यथार्थवाद** जैसे शब्द स्वतः ही एक-दूसरे के सहयोगी हो जाते हैं। यह जनता के हक में, व्यापक मेहनतकश वर्ग के हक में है कि वह साहित्य से जीवन के विश्वसनीय बिम्ब प्राप्त करे और जीवन के विश्वसनीय बिम्ब केवल जनता की, व्यापक मेहनतकश वर्ग की ही सेवा कर सकते हैं और इसलिए बिना शर्त वे उनके लिए बोधगम्य और मददगार साबित होने चाहिए, यानी दूसरे शब्दों में लोकप्रिय होने चाहिए। इसके बावजूद ऐसी अवधारणाओं को पूरी सावधानी के साथ परिभाषित किया जाना चाहिए, **ताकि उनका कोई निश्चित और साफ अर्थ लिया जा सके।** यह सोचना गलत होगा कि ये अवधारणाएं इतिहास के बिना पूर्णतः पारदर्शी, अटल और अद्वितीय हैं। 'हम सब जानते हैं कि उनका मतलब क्या है—बाल की खाल खींचने की जरूरत नहीं। स्वयं लोकप्रियता की अवधारणा विशेष रूप से अलोकप्रिय है। इस पर विश्वास करना अयथार्थवादिता है। 'ity' (-ता) से अनेक अमूर्त संज्ञाएं बनती हैं, इसलिए उसके प्रति विशेष रूप से सावधानी बरतने की जरूरत है। जरा उपयोगिता, सार्वभौमिकता, पवित्रता, आदि पर विचार कीजिए, हम यह भी जानते हैं कि राष्ट्रीयता का एक विशेष सांस्कारिक, आडम्बरपूर्ण और संदेहात्मक निहितार्थ है, जिसकी अपेक्षा कतई नहीं की जा सकती। केवल इसलिए कि हमें ''लोकप्रिय'' की अवधारणा की खास जरूरत है, ऐसे निहितार्थों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

ये वही तथाकथित कथात्मक रूप हैं जिनमें कि ''जनता'' को अंधविश्वासी के तौर पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है या फिर इस तरह से दिया जाता है, जिसमें अंधविश्वासों का प्रचार हो। वे जनता को अविचल गुणों, खोखली परम्पराओं, कला रूपों, आदतों और रिवाजों, धार्मिकता, आनुवंशिक दुश्मनी, अभेद्य सत्ता आदि से विभूषित करते हैं। जुल्मियों और जुल्म सहने वालों, शोषक और शोषितों, दगाबाजों और दगा खाने वालों में एक अजीब किस्म की एकता दिखाई पड़ती है; यह केवल अपने से ऊपर का विरोध करने वाले 'अल्प' मेहनतकशों का प्रश्न नहीं है।

जनता के नाम पर किये जाने वाले धोखों का इतिहास लम्बा और जटिल है—वर्ग-संघर्ष का इतिहास। यहां हम इसकी बारीकियों में नहीं जा रहे हैं। यहां हम दगाबाजी के तथ्य के प्रति उस वक्त सजग रहने की मांग करते हैं, जब हम यह कहते हैं कि हमें लोकप्रिय कला की जरूरत है और जब कला से हमारा मतलब व्यापक जनता के लिए कला से होता है, उन लोगों के लिए कला से होता है, जो कुछेक लोगों द्वारा शोषित हैं, ''यानी स्वयं जनता'', वे असंख्य उत्पादक जो अब तक राजनीति की वस्तु थे और जिन्हें अब राजनीति का विषय होना चाहिए। हम यहां याद दिलाना चाहते हैं कि शक्तिशाली संस्थानों ने दीर्घकाल से जनता के पूर्ण विकास को अवरुद्ध किया है, ये संस्थान रिवाजों में आपादमस्तक डूबे रहे और कि लोकप्रिय नाम की अवधारणा पर अनैतिहासिकता, गतिहीनता और अविकसितता की मोहर चेप दी गई। लोकप्रिय शब्द की इस अवधारणा से हमारा कोई लेना-देना नहीं है,वरन् इससे हमें लड़ना है।

लोकप्रिय शब्द की हमारी अवधारणा ऐसी जनता से संबद्ध है, जो न केवल ऐतिहासिक विकास में पूर्ण सक्रिय होती है,

बल्कि उसे सक्रियता के साथ हासिल करती है, इसकी गति को तेज करती है और उसकी दिशा निर्धारित करती है। हमारे दिमाग में वह जनता है, जो इतिहास बनाती है, दुनिया को और स्वयं को बदलती है। चूंकि हमारे दिमाग में लड़ाकू जनता की अवधारणा है, इसलिए लोकप्रिय शब्द की हमारी अवधारणा भी आक्रामक है।

लोकप्रिय शब्द का अर्थ है: जो व्यापक जनता की समझ में आये, उसकी अभिव्यक्ति के तौर-तरीकों को ग्रहण करे और मांजे, उनके दृष्टिकोण को ग्रहण करे, मजबूत करे और सुधारे। जनता के सबसे अधिक पगतिशील हिस्से का प्रतिनिधित्व करे, ताकि वह नेतृत्व हासिल कर सके और इस प्रकार जनता के अन्य हिस्सों के लिए भी बोधगम्य हो सके, रीति-रिवाजों से संबद्ध हो और उन्हें विकसित करे। और राष्ट्र के वर्तमान शासक वर्ग की उपलब्धियों को जनता के उस हिस्से तक पहुंचा सके, जो नेतृत्व के लिए लड़ता है।

अब **यथार्थवाद** की अवधारणा को लेते हैं। प्रयोग करने से पहले इस अवधारणा की भी सफाई आवश्यक है, क्योंकि यह एक पुरातन अवधारणा है और इसे तरह-तरह से विभिन्न लोगों ने विभिन्न उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया है। यह इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि जनता केवल **स्वत्वहरण** के जरिये ही अपनी सांस्कृतिक विरासत प्राप्त करती है। साहित्यिक कृतियों को फैक्ट्रियों की तरह नहीं अधिगृहीत किया जा सकता; अभिव्यक्ति के साहित्यिक रूपों को फार्मूलों की तरह नहीं लिया जा सकता। लेखन की यथार्थवादी पद्धति पर भी, जिसके कि साहित्य में विपुल प्रमाण उपलब्ध हैं, उन तौर-तरीकों की मुहर लगी हुई है, जिनके तहत उसे इस्तेमाल किया गया—एक खास समय में और एक खास वर्ग द्वारा। और यह बात इस पद्धति की छोटी से छोटी तफसील तक में मौजूद है। संघर्ष करती हुई और यथार्थ बदलती हुई जनता जबक हमारी आंखों के सामने हो, तो हमें वर्णन के ''परखे हुए'' सिद्धांतों, **श्रद्धेय** साहित्यिक नमूनों और शाश्वत सौंदर्य सिद्धांतों को अपनाने की कतई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यथार्थवाद को कुछेक खास कृतियों से नहीं पैदा किया जा सकता, बल्कि इसके लिए हमें हर तरीका, चाहे वह नया हो या पुराना, परखा हुआ हो या न हो, कला से नि:सृत हो या कहीं और से, यथार्थ के उस रूप को लोगों तक पहुंचाने के लिए अपनाना होगा, जिसमें कि वे सिद्धहस्त हो सकें। हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि एक खास दौर के ऐतिहासिक उपन्यास-रूप को—उदाहरण के लिए बाल्जाक और तोलस्तोय के उपन्यास रूप—यथार्थवादी की दिया जाए और फिर उसके आधार पर यथार्थवाद का निरा औपचारिक साहित्यिक मानदण्ड स्थापित कर दिया जाए, हम केवल उसे ही लेखन का यथार्थवादी तौर-तरीका नहीं कहेंगे, जिसमें उदाहरण के लिए हमें ''हर चीज'' का गंध और स्वाद मिल जाता हो और जिसमें हमें हर चीज महसूस हो जाती हो, जहां ''वातावरण'' हो और जहां कथानक इतने सफल हों कि उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की जरूरत पड़ जाती हो। यथार्थवाद की हमारी अवधारणा व्यापक और राजनीतिक तथा सभी स्थापित रूढ़ियों से ऊपर और अलग होनी चाहिए।

यथार्थवादी का मतलब है—समाज की आकस्मिक पेचीदगियों का उदघाटन। विद्यमान दृष्टिकोण का शासक वर्ग के दृष्टिकोण के रूप में पर्दाफाश करना। मानव समाज की सर्वाधिक आवश्यक जरूरतों के व्यापक समाधान देने वाले वर्ग के दृष्टिकोण को लेखन में अपनाना। विकास-तत्व को प्रधानता देना। इसी से सटीक और अमूर्त को संभव बनाना।

ये व्यापक आधार हैं, जिनका विस्तार किया जा सकता है। और इन्हीं का अनुकरण करने के लिए कलाकार को फन्तासी, मौलिकता, मजाक और खोज करने की छूट देंगे। हम ब्यौरों के बोझ से दबे साहित्यिक माडलों पर नहीं रुक जायेंगे। हम वर्णन के इन संकीर्ण नियमों से कलाकार को नहीं बांध सकते।

हम यह स्थापित करेंगे कि लेखन की तथाकथित ऐंद्रिय पद्धति, जिसमें हर चीज की गंध और स्वाद मिल जाता हो और जिसमें हर चीज महसूस की जा सकती हो, स्वत: ही लेखन की यथार्थवादी पद्धति नहीं हो जाती, हम इस बात को स्वीकारेंगे कि ऐसी भी कृतियां मौजूद हैं, जो **ऐन्द्रिक** ढंग से लिखी गयी हैं, लेकिन यथार्थवादी नहीं है या ऐसी यथार्थवादी कृतियां मौजूद हैं जो ऐन्द्रिक ढंग से नहीं लिखी गयी हैं। हमें अत्यन्त सावधानी के साथ इस बात की परीक्षा करनी होगी कि पात्रों की आध्यात्मिक जिन्दगी को व्यक्त करने के अन्तिम उद्देश्य से हम कथानक का सुन्दरतम विकास कर सकें। अगर विभिन्न कलात्मक तौर-तरीकों से गुमराह किया गया, तो शायद हमारे पाठकों को वर्णित घटनाओं को समझने का स्रोत नहीं मिल पायेगा। वे केवल नायकों के आन्तरिक संवेगों में हिस्सेदारी करते हैं। पूरी जांच-पड़ताल के बगैर यदि हम बाल्जाक और तोलस्तोय के रूपों को अपनाते हैं तो हम अपने पाठकों को—जनता को—पस्त कर देंगे, जैसा कि ये दोनों लेखक अक्सर करते हैं। यथार्थवाद केवल रूपवादी प्रश्न नहीं है। अगर इन दो यथार्थवादियों की शैली की नकल की जाने लगे, तो हम कतई यथार्थवादी नहीं रह सकते।

समय परिवर्तनशील है। यदि ऐसा न होता तो सोने की मेज पर न बैठने वालों के लिए यह एक बड़ी दुर्घटना होती। पद्धतियां बदल जाती हैं। उद्दीपन बेकार हो जाते है। नयी समस्याएं उठती हैं और नये तौर-तरीकों की जरूरत पड़ती है, यथार्थ बदल जाता है; और इसे व्यक्त करने के लिए अभिव्यक्ति के तौर-तरीकों में परिवर्तन आवश्यक है। कुछ नहीं से कुछ भी पैदा नहीं होता; पुराने से नया जन्मता है और इसीलिए वह नया है।

हर काल में दमनकारी ताकतें समान तौर-तरीके अख्तियार नहीं करतीं। वे एक तरह से हमेशा परिभाषित नहीं किये जा सकते। वे पकड़ में न आने के लिए अनेक रास्ते खोज लेते हैं। वे अपनी सैनिक-सड़कों को मोटर मार्ग कहते हैं, उनके टैंक इस तरह से रंगे जाते हैं, ताकि वे मैकडफ की लकड़ी लगें, उनके एजेन्ट हाथों में फफोले उभार लेते हैं, ताकि वे मजदूर लगें। नहीं : शिकारी को शिकार में परिवर्तित करने के लिए अन्वेषण की आवश्यकता होती है। जो कल लोकप्रिय था, आज नहीं है, क्योंकि जनता जो कल थी, आज नहीं है।

मेहनतकश और कलात्मक अन्वेषण

जो लोग रूपवादी पूर्वाग्रहों के शिकार नहीं है, वे यह जानते हैं कि सच्चाई को अनेक तरह से दबाया जा सकता है, और अनेक प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। अमानवीय स्थितियों के प्रति आक्रोश जगाने के अनेक प्रकार हो सकते हैं—सीधा वर्णन (सांवेगिक या वस्तुगत), विवरण या सादृश्यता, मजाक, अधिक या कम जोर देना। थियेटर के सन्दर्भ में, वास्तविकता वस्तुगत और कल्पनात्मक दोनों ही तरह से व्यक्त की जा सकती है। अभिनेता कतई मेकअप न करके भी ''पूर्णत: स्वाभाविक'' होने का दावा कर सकते हैं और इसके बावजूद धोखाधड़ी हो सकती है; वे भौंडे मुखौटे पहनकर भी सच्चाई को व्यक्त कर सकते हैं। इस बात पर कोई बहस नहीं है। असल बात है, साधनों पर उनके उद्देश्य के हिसाब से प्रश्नचिन्ह लगाना। जनता इस बात को समझती है। नाटक के क्षेत्र में पिरकेटोर के महान रंगमंचीय प्रयोगों, जिनमें तमाम पारम्परिक रूप एक-एक कर ध्वस्त कर दिये गये थे, को सबसे बड़ा समर्थन मेहनतकश वर्ग के सर्वाधिक अगुआ दस्ते की ओर से मिला। और यही मेरे

साथ भी हुआ। मेहनतकशों ने हर चीज को उसके कथ्य की सच्चाई के आधार पर परखा, उन्होंने उस हर नये प्रयोग का स्वागत किया जो सच्चाई का, समाज के वास्तविक मेकेनिज्म का, प्रतिनिधित्व करता था, उन्होंने हर उस चीज को नकारा जो नाटकीय थी, यांत्रिक थी और केवल अपने लिए थी—यानी, जिसने अब तक और न भविष्य में कभी, अपना उद्देश्य पूरा किया या करेगी। मेहनतकशों के तर्क कभी भी साहित्यिक नहीं होते थे और न ही रंगमंचीय सौन्दर्य-शास्त्र से उनका कोई लेना-देना था। कभी यह बात भी नहीं सुनी गई कि रंगमंच और फिल्म को मिलाया जा सकता है। अगर नाटक में फिल्म उचित तौर पर प्रयुक्त नहीं की जाती थी, तो अधिकतम यह कहा जाता था : कि इस बिन्दु पर फिल्म फालतू है। उद्विग्न करने वाली है। मेहनतकशों की गायक-मंडलियां काव्यात्मक हिस्सों को जटिल लयों में गाती थीं। 'अगर चीज छन्दोबद्ध होती तो वे धड़ाधड़ उसे गा ले जाते') और आइजलर की जटिल (अप्रसिद्ध) रचनाओं को गाते, लेकिन हमें कुछ ऐसी लाइनें बदलनी पड़ती जिनका या तो कोई अर्थ नहीं होता था या जो गलत होती थीं। प्रयाण गीतों के सन्दर्भ में, जो जल्द याद हो जाने की दृष्टि से छन्दोबद्ध रखे जाते थे और जिनकी लय भी साधारण होती थी, कुछेक विशिष्टताएं (अनियमितताएं और जटिलताएं) लाई जाती थीं, तो वे कहते थे 'यहां जरा तोड़ा-मरोड़ा गया है—क्या मजाक है।' ऐसी कोई भी चीज, जो घिसी-पिटी या सतही होती थी या इतनी सामान्य होती थी कि सोचने को मजबूर ही नहीं कर पाती थी, तो वे उसे जरा भी पसन्द नहीं करते थे। ('इसमें से कुछ भी नहीं मिलता') अगर किसी को सौन्दर्य की जरूरत है, तो वह उसे यहां पा सकता है। मुझे यह बात कभी नहीं भूलेगी कि एक मेहनतकश ने किस तरह मेरे इस सुझाव पर कि सोवियत संघ वाले कोरस में मुझे कुछ और जोड़ना चाहिए प्रतिक्रिया जाहिर की (इसे उसमें होना ही है—नहीं तो इसका मतलब क्या है?') कि यह कलात्मक रूप को नष्ट कर देगा। उसने अपना सिर लटका लिया और मुस्कराया। इस विनम्र मुस्कान ने सौन्दर्य के पूरे तामझाम को ध्वस्त कर दिया। मेहनतकश हमें सिखाने से घबराते नहीं थे और न ही स्वयं सीखने से।

मैं अनुभव से यह कह रहा हूं कि एक लेखक को सर्वहारा के लिए वास्तविकता की हद तक, साहसिक और असाधारण कृतियां प्रस्तुत करने में डरना नहीं चाहिए। संस्कृति और कला के ऐसे पारखी हमेशा मिलेंगे, जो कहेंगे : ''सामान्य जनता उसे नहीं समझती है।'' लेकिन मेहनतकश जनता ने मुस्तैदी के साथ ऐसे लोगों को उठाकर अलग कर दिया और कलाकारों के साथ सीधी समझ स्थापित कर ली। स्वार्थी गुटों ने काफी आनुवांशिक सामग्री तैयार की है, ताकि और नये गुट स्थापित किये जा सकें — एक पुराने टोप से दो हजार बाधाएं स्थापित करना, पुराने और सड़े मांस की चाट तैयार करना : सर्वहारा इसे तपाक से सिर हिलाकर नकारता है ('कुछ लोग चिन्ता करते हैं?) मिर्च को नहीं, सस्ते मांस को ठुकराया गया; दो हजार गुटों को नहीं बल्कि पुराने को नकारा गया। जब उन्होंने स्वयं रंगमंच के लिए लिखा और उसे प्रसतुत किया, तो वे आश्चर्यजनक रूप से मौलिक थे। तथाकथित प्रचारात्मक कला जिस पर लोगों ने, समझदार लोगों ने नहीं, नाक-भौंह सिकोड़ी एक नयी कलात्मक सामग्री और अभिव्यक्ति की खान थी। इसीलिए लोकप्रिय कला के भुला दिये गये और महान तत्वों ने जन्म लिया, और उन्हें नये सामाजिक उद्देश्यों के लिए अनुकूलित किया। ये अनुकूलन थे—विस्मयकारी शार्ट-कट और कम्प्रैशन्स, खूबसूरत साधारणीकरण, जिनमें अक्सर एक आश्चर्यजनक उदात्तता, अर्थगर्भता और संश्लिष्टता के दर्शन होते थे। इसका अधिकांश प्रागैतिहासिक हो सकता है, लेकिन वैसा प्राथमिक नहीं, जैसा कि बुर्जुआ कला के आध्यात्मिक टुकड़े, गूढ़ दिखाई पड़ने वाले टुकड़े हुआ करते हैं। प्रतिनिधित्व की किसी भी शैली को इस बिना पर नकारना गलत है कि उसकी कुछेक संरचनाएं असफल रही हैं — यानी एक ऐसी शैली, जो अक्सर सफलता के साथ सार-तत्व को खोद निकालती है और अमूर्तन को सम्भव बनाती है, मेहनतकशों की तेज आंखे वास्तविकता के प्राकृतिक प्रतिनिधित्व की सतह में पैठ गई। उन्होंने ड्राइवर हेन्सैल में आत्मा की आन्तरिक दशाओं के बारे में कहा, ''हम वह सब नहीं जानना चाहते,'' वे एक तात्कालिक द्रष्टव्य धरातल पर मौजूदा वास्तविक सामाजिक ताकतों के और अधिक सटीक बिम्ब की आकांक्षा व्यक्त कर रहे थे। अपनी बात कहूं, तो उन्होंने **थ्री पैनी आपेरा** की काल्पनिक वेशभूषा और स्पष्टत: अवास्तविक वातावरण के प्रति आपत्ति व्यक्त नहीं की। वे संकीर्ण नहीं थे— वे संकीर्णता का विरोध करते थे (उनके घर दमघोंटू बना दिये गये थे)। उन्होंने चीजों को बड़े पैमाने पर सम्भव बनाया। जोखिम उठाने वाले तुच्छ थे, वे नहीं। उन्हें कुछ ऐसी चीजें हवाई लगीं, जिन्हें कलाकार आवश्यक समझते थे; लेकिन तब भी वे उदार रहे, उन्होंने अतिरेक का विरोध नहीं किया। इसके विपरीत वे ऐसे लोगों के विरुद्ध थे, जो हवाई थे, उन्होंने इच्छुक घोड़े का मुंह कभी बन्द नहीं किया बल्कि वे यह चाहते थे कि घोड़ा बोझ उठाए। उन्होंने ''द'' मैथड (तरीका) जैसी चीजों पर विश्वास नहीं किया, उन्हें मालूम था कि लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अनेक तरीकों की जरूरत थी।

इसलिए लोकप्रिय कला और यथार्थवाद का मानदण्ड उदारता और सावधानी के साथ निर्धारित किया जाना चाहिए, न कि उसे, जैसा अक्सर होता है, विद्यमान यथार्थवादी कृतियों और लोकप्रिय कृतियों के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। ऐसा करने से केवल रूपवादी मानदण्डों तक ही पहुंचा जा सकता है, लोकप्रिय कला और यथार्थवाद केवल रूप तक ही सीमित रह जाते हैं।

कोई कृति यथार्थवादी है या नहीं, इसका निर्धारण केवल इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि सम्बन्धित कृति पूर्ववर्ती कृतियों की तरह, जो यथार्थवादी कही जाती हैं या जो अपने जमाने में यथार्थवादी थीं, है या नहीं। हर दशा में किसी कलाकृति में व्यक्त की गई जिन्दगी का व्यक्त की जा रही जिन्दगी से मिलान करना चाहिए, बजाय इसके कि उसकी दूसरी वर्णित जिन्दगी से तुलना की जाये। जहां तक लोकप्रियता का सवाल है, इसकी भी एक नितांत रूपवादी प्रक्रिया है, जिसके प्रति सावधान होना जरूरी है। किसी साहित्यिक कृति की बोधगम्यता केवल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह ठीक उन कृतियों जैसी है, जो किसी खास कालखण्ड में लिखी गई थीं। ये खास कालखण्ड की कृतियां भी अपनी पूर्ववर्ती कृतियों की तरह नहीं है। उन्हें बोधगम्य बनाने के लिए प्रयास किये गये थे। इसी प्रकार हमें आज की नवीन कृतियों को बोधगम्य बनाने की दिशा में प्रयासरत होना चाहिए। केवल ''लोकप्रिय होना'' जैसी एक चीज नहीं है, बल्कि साथ ही ''लोकप्रिय होने'' की प्रक्रिया भी मौजूद है, यदि हम एक जीवन्त और लड़ाकू साहित्य, जो यथार्थ से जूझता है और उसे समग्रता में आत्मसात् करता है, यानी सच्चा लोकप्रिय साहित्य, चाहते हैं, तो हमें यथार्थ के निरन्तर विकास के साथ-साथ चलना होगा। **महान मेहनतकश जनता पहले ही आगे बढ़ चुकी है।** उनके दुश्मनों की गतिविधियां और क्रूरता इस बात का प्रमाण है।

(अनुवाद 'आलोचना' जनवरी-मार्च 1975 से साभार)

कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ?

आलोक श्रीवास्तव

इधर अचानक हिंदी उपन्यासों पर जोरदार चर्चा छिड़ गई है। पिछले साल हंस के दो वृहदाकार सम्पादकीय हिंदी के मौजूदा उपन्यासकारों पर मारक और सुकुमार अनुलेपन बने। दिल्ली में पिछले वर्ष ही हंस की वार्षिक गोष्ठी में विद्वत्जनों ने उपन्यास के बारे में आप्त वाक्य बोले, अनुशंसाएं की और चिढ़ कर श्राप दिये। फिर 'हंस' का पूरा एक विशेषांक उपन्यास पर आया। 'कथादेश' ने उपन्यास पर विशेषांक निकालने की घोषणा की, पर किसी कारणवश अभी तक निकाल नहीं सके हैं। हिन्दी की अनेक पत्रिकाओं में उपन्यास पर लम्बे-लम्बे लेख हाल ही में छपे हैं। और यह भी सच है कि लगातार ऐसे उपन्यास आये हैं जो अपने शिल्प की नवीनता या विशेष सन्दर्भों वाले जीवन के चित्रण के कारण काफी पढ़े-सराहे गये हैं। पत्र-पत्रिकाओं ने इनकी चर्चा-समीक्षा की, आलोचकों ने भरे सभागृहों में भाषण दिये और अन्त में प्राय: हर उपन्यास पुरस्कार-गति को प्राप्त हुआ; हत्यारों, पूंजी के दलालों, मौजूदा हालात में पलट-पलट कर श्रमजीवी-वर्ग पर कहर ढा रहे माफिया सरीखे उद्योग-घरानों ने इनमें से कुछ को पुरस्कृत किया, शेष को करेंगे।

इससे यह बात तो स्पष्ट है कि व्यवस्था इस किस्म के व्यवस्था-विरोधी या जीवन की पुनर्रचना करने वाले साहित्य से बहुत खुश है। जीवन की पुनर्रचना हमारे उपन्यासकारों का प्रिय शगल बनता जा रहा है, बगैर उसके बारे में गहराई से सोचे। आखिर साहित्य में जीवन की पुनर्रचना का तात्पर्य क्या है? कृति में जीवन की पुनर्रचना करने के उद्देश्य से जीवन की पुनर्रचना करना तो वही पुरानी बात है कि 'कला कला के लिए'। 19वीं सदी के आखिर और 20वीं सदी के शुरू में महान रूसी उपन्यासकार जब अपनी कृतियों में जीवन की पुनर्रचना (और सचमुच सारा विश्व-साहित्य गवाह है कि जीवन की ऐसी यथार्थ, ऐसी बारीक, ऐसी विस्तृत और ऐसी मानीखेज कलात्मक पुनर्रचना उसके बाद अभी तक नहीं हुई) कर रहे थे तो वे स्पष्ट जानते थे कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। लेखन और साहित्य के बाहर भी वे जो कुछ कर रहे थे, उसके बारे में उन्हें पता था कि क्यों कर रहे हैं। उस दौर के महान लेखक, विचारक और क्रान्तिकारी निकोलाई चेर्नीशेव्स्की ने लिखा था—

''भविष्य उज्ज्वल और सुन्दर है। उससे प्रेम करो, उसकी ओर अग्रसर होओ, उसके लिए काम करो, उसे निकट लाओ, भविष्य की जितनी बातों को वर्तमान में ला सकते हो, उन्हें लाओ, तुम्हारा जीवन उतना ही उज्ज्वल और भला, उतना ही हर्षदायी और आनंदमय होगा, जितना भविष्य तुम अपने वर्तमान में उतार सकोगे....''

इसी भविष्य को वर्तमान में उतारने के उद्देश्य से उन्होंने उस दौर में रूस की लगभग समूची युवा पीढ़ी (बेशक मध्यमवर्गीय ही) को एक सपना देने वाला और उसके लिए अग्रसर करने वाला एक उपन्यास लिखा था—**स्तो जिलायते!** यानी **क्या करें!** देश और काल की बहुत लम्बी दूरी के बावजूद आज भी यह उपन्यास हमारे देश की युवा पीढ़ी को अनुप्राणित करने की अजस्र शक्ति अपने भीतर रखे हुए है। 1992 का अगस्त बीतने को था। बम्बई में बारिश अपने चरम पर थी। उन्हीं बादल घिरे दिनों में साथी चन्द्रशेखर ने लगभग एक-डेढ़ बैठक में 616 पृष्ठों का यह वृहदाकार उपन्यास पढ़ा था। उनकी उन दिनों लिखी हर चिट्ठी में उस उपन्यास की गूंजें थीं। उन्होंने लिखा था—*लगता है पुनर्निरूपण हो रहा है विचारों का। बल्कि यूं कहा जाये कि जो कुछ बिखरा पड़ा था सम्भवत: ढीले-ढाले ढंग से सम्बद्ध था या शायद दबा पड़ा था रोजमर्रा की गहमागहमी या निर्जीवता के बीच, वह सजीव हो उठने, निरूपित हो उठने को कसमसा रहा है।*

भारत का सामाजिक माहौल लगभग उन्हीं परिस्थितियों से गुजर रहा है, जिनसे 1917 के पहले रूसी समाज गुजर रहा था। निस्सन्देह राजनीतिक-आर्थिक सन्दर्भ वैसे नहीं है, हो भी नहीं सकते। किन्तु सामाजिक सच्चाइयों का सारतत्व वैसा ही है। समूची की समूची युवा पीढ़ी (ग्रामीण, कस्बाई, शहरी, महानगरीय, निम्नवर्ग तथा मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों की युवा पीढ़ी) भयानक सामाजिक व मानसिक संघर्ष, विफलता और उपायहीन अराजकता से गुजर रही है, गांव के होरी का बेटा ही नहीं समूचा शहरी मध्यवर्ग मजदूर वर्ग में तब्दील कर दिया गया है (हालांकि उसे इस बात की चेतना नहीं है) और मजदूर वर्ग? उसकी हालत का जायजा मार्क्स के इस अंश की रोशनी में खुद लगाइये :

''मजदूरी में किसी प्रकार की दृष्टव्य बढ़ती होने के पहले यह आवश्यक है कि उत्पादक पूंजी में तेजी से बढ़ती हो। उत्पादक पूंजी की तेजी से बढ़ती होने पर—धन-दौलत, ऐश-आराम के सामान, सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक आमोद-प्रमोद के साधनों की भी उसी गति में वृद्धि हो जाती है, लेकिन उनसे जो सामाजिक असंतोष होता है वह पूंजीपतियों के पहले से बढ़े हुए उपभोग की तुलना में, जो मजदूर की पहुंच के बाहर रहता है, और समाज के सामान्य विकास-स्तर की तुलना में पहले से कम हो जाता है। हमारी आवश्यकताएं और हमारे आनन्द की कल्पनाएं समाज से उत्पन्न होती हैं, इसलिए हम उनकी माप समाज से करते हैं, न कि उन साधनों से, जिनके द्वारा उनकी पूर्ति होती है। चूंकि उनका स्वरूप सामाजिक है इसीलिए सापेक्षिक भी है....

''...यदि पूंजी तेजी से बढ़ रही हो, तो मजदूरी भी बढ़ सकती है; लेकिन पूंजी का मुनाफा इतनी तेजी से बढ़ता है कि दोनों की तुलना नहीं हो सकती। मजदूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड़ जाती है। उसे पूंजीपति से अलग करने वाली सामाजिक खाई

और भी चौड़ी हो जाती है।''

यह सब तो तब होता है जबकि बढ़ती हुई पूंजी और मुनाफे के साथ मजदूर-वर्ग की मजदूरी भी बढ़े और उसे प्राप्त थोड़े-बहुत श्रमिक अधिकार सुरक्षित रहे। भारत में आज बीसवीं सदी के अन्तिम बिन्दु पर क्या स्थिति है? हालात भयानक हैं—समूचे देश में भाड़े की बुर्जुआ न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका ने संगठित रूप से सामने आकर दलाल पूंजीपति-वर्ग का स्पष्ट पक्ष लिया है। भारत का श्रमजीवी वर्ग अभूतपूर्व से संकटों से घिर गया है। कष्टों की यह महागाथा है—भारत के छोटे शहरों से लेकर कलकत्ता, दिल्ली और मुंबई के महानगरों की गलियों-बस्तियों तक फैली हुई। भारतीय न्याय-व्यवस्था की तिकटी पर शंकर गुहा नियोगी की लाश झूल रही है। मैं वहां नहीं गया था लेकिन बम्बई के अतिभव्य और विशाल यशवंत राव चव्हाण सभागृह में पिछले वर्षों में कामगारों की भारी पैमाने पर छंटनी करने वाले और तमाम गैरकानूनी हथकंडे अपना कर कामगारों के मामूली-से-मामूली आर्थिक हितों को हड़पने वाले उद्योगपति मोदी और माफिया उद्योगपति केड़िया द्वारा आयोजित दो अलग-अलग समारोहों में गूंज रही तालियां मुझे अक्सर नींद में सुनाई दी हैं। ये तालियां अक्सर दिल्ली से भोपाल, पटना और लखनऊ तक विभिन्न सभागृहों में गूंजती हैं और ये तालियां बजाने वाले लोग हमारे बौद्धिकों—रचनाकारों, विभिन्न मार्क्सवादी संगठनों से जुड़े प्रगतिशील संस्कृति कर्मियों की होती हैं—इन्हीं में से कुछ लोग आज प्रगतिशील-जनवादी धारा की स्वघोषित रहनुमाई कर रहे हैं। मित्रो, नाम लेना जरूरी है—केडिया ने धर्मवीर भारती को लाख से कुछ ऊपर की खैरात देकर सम्मानित किया था और मोदी ने भी मुंबई में उस वर्ष विनोद कुमार शुक्ल को लगभग उतनी ही राशि से उपकृत किया था। मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े एक लेखक संगठन के कुछ सदस्यों के जमीर ने उन्हें मजबूर किया तो उन्होंने उस समारोह का बायकाट किया, जिसकी खबरें कुछ अखबारों में छपीं तो दिल्ली में बैठे संगठन के पुराधाओं ने संगठन के सदस्यों की इस हरकत पर जबर्दस्त आपत्ति प्रकट की। खौफ का यह कैसा मंजर है? मैं कल्पना करने की कोशिश कर रहा हूं कि हमारे जिन निम्न मध्यवर्गीय लेखकों ने फर्शी सलाम बिछाते हुए वे पुरस्कार कबूल किये, उन्हें उन तालियों को सुनकर कैसा लगा होगा? अंचल का यथार्थ और साधारण जन की कथा कहने वाले हमारे लेखक जब दिल्ली और मुम्बई के आलीशन सभागृहों में माफिया सेठों के निमंत्रण पर आये अपराधी कम राजनेताओं के खून सने हाथ से श्रीफल ले रहे होते हैं, शाल ओढ़ रहे होते हैं तो क्या उन्हें वे घर भी दिखाई देते हैं, जिनमें रहने वाले लोगों से तमाम समाजवादी कानूनों के होते हुए, रातोरात रोटियां छीन ली जाती हैं, उनके बच्चों का भविष्य, उनके जीवन की हंसी पूरी गुंडागर्दी से कुचल दी जाती है।

क्या इन सब बातों का साहित्य से कोई ताल्लुक नहीं है? हमारे साथी, भारत की युवा पीढ़ी के श्रेष्ठ प्रतिनिधि चन्द्रशेखर की हत्या करवाने वाले सांसद के संरक्षक मुख्यमंत्री के हाथों रुपयों की थैली लेकर साहित्य की मसनद पर विराजे लोग किस तरह का समाज बनाना चाह रहे हैं? एक गलाजत साहित्य में आज फैल गई है।

साथियो, यह सब विषयांतर नहीं है, बल्कि यही हमें विषय के सबसे करीब ले जायेगा। मसलन यदि मैं कहूं कि हिन्दी साहित्य की एक सिमटी-सी सिकुड़ी-सी दुनिया में पिछले कई वर्षों से धुआंधार चर्चा में रहे एक लेखक के कुछ उपन्यासों में छत्तीसगढ़ के आदिवासी जीवन की सरलता के, उसके जीवन के मामूलीपन के प्रसंगों की श्रृंखला से बने कथानक और निसर्ग के प्रामाणिक, यथार्थ और खूबसूरत वर्णन ने मुझे भी मोहा, एक आलोचक के शब्दों में 'जीवन का जो कॉमिक' जो 'सेंस ऑफ ह्यूमर' इन उपन्यासों में है वह प्रेमचंद की परम्परा से आया है—प्रसंगत: यह कहना जरूरी है कि हिन्दी के ये सर्वप्रभावी आलोचक महोदय इन उपन्यासों के बारे में अपने दिल्ली से लेकर इलाहाबाद तक दिये गये भाषणों में इस बात को ऐसी संजीदगी से और लगभग मूल्य का दर्जा देते हुए स्थापित करते रहे हैं जैसे प्रेमचंद अपने 'सेंस आफ ह्यूमर' और 'जीवन के कॉमिक' के लिए ही अपने समय में महत्वपूर्ण थे और इन्हीं कारणों से आज उनकी प्रासंगिकता है और वर्तमान समय के एक लेखक के उपन्यासों में 'जीवन के कॉमिक' और 'सेंस ऑफ ह्यूमर' का व्यापक रूप से मौजूद होना ही जैसे युग की सबसे बड़ी मांग को पूरा करना हो। बहरहाल शिल्प की यह मोहकता, भाषा का यह नवोन्मेष, जिन्दगी के मामूलीपन को संवेदना के साथ साहित्य में रच देना प्रशंसनीय है। इन उपन्यासों की सौंदर्यात्मक गुणवत्ता पर, साहित्यिक महत्व पर काफी कुछ कहा जा सकता है। यह छत्तीसगढ़ सच है। पर एक और छत्तीसगढ़ है, जहां नियोगी को मार कर एक उभरते हुए आन्दोलन को कुचला गया। समाज में जन्म लेती संघर्ष की शक्तियों को छत्तीसगढ़, उस छत्तीसगढ़ को कौन लिखेगा? मैं बिल्कुल किसी लेखक के अंतर्जगत में दखल देने और उस पर कोई नजरिया या विचारधारा थोपने की कोशिश नहीं कर रहा हूं, इस समाज में हर व्यक्ति अपने वर्गीय अनुभवों, पारिवारिक अनुभवों तथा अंतरंग जीवन के नितान्त निजी अनुभवों और संवेदनाओं का भंडार होता है। और बहुत तरह से लिखने की संभावनाएं होती हैं। छोटी-छोटी सच्चाईयां मिलकर एक बड़े दृश्य को पूरा कर रही होती हैं या कहीं उसकी ओर संकेत कर रही होती हैं। पर मेरा आशय सिर्फ इतना था कि लेखन की एक पद्धति को, एक शैली विशेष को, एक तर्जेबयानी को एक मानदंड की तरह ऐसे स्थापित न किया जाये कि बड़े फलक पर जीवन को देखने की सारी सम्भावनाएं ही खत्म हो जायें। जिन प्रगीतात्मक उपन्यासों को सराहा जा रहा है, उन्हें सराहा जाये पर उन्हें आदर्श घोषित करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि इस हमारे जमाने में ऐसी शक्तियां हैं ऐसी सामाजिक प्रक्रियाएं हैं, ऐसे गहरे परिवर्तन हैं और जीवन और समाज में चल रही ऐसी व्यापक अंदरूनी हलचलें और उथल-पुथल हैं कि आप देखियेगा कि यह समय भी महाकाव्यात्मक उपन्यासों को जन्म देगा। महाकाव्यात्मक मैंने कहा तो मैं कविता की विशेष विधा की कसौटी की बात नहीं कर रहा। मेरा आशय है ऐसे उपन्यास से जिसमें जीवन की समग्रता का कथानक हो, जिसमें एक प्रक्रिया से गुजर रहे समाज के चरित्रों की व्यापक आवाजाही हो—साथियो, **अन्ना कारेनिना** और **रिसरेक्शन (पुनरुत्थान)** अब भी सम्भव है—क्योंकि समाज में पुनरुत्थान सम्भव है, पुर्ननवीकरण सम्भव है, क्योंकि समाज में *अन्ना कारेनिना* की सूनी आंखों में फैली एक तलाश, जिन्दगी की गहरी व्यथा, और त्रासदियों और सम्भावनाओं का समूचा एक इतिवृत्त नये रूप में, नये सन्दर्भों में आज भी हमारे चारों ओर है।

यहीं से उपन्यास की भूमिका शुरू होती है। हस्तक्षेप की भूमिका। समाज में चल रहे वैचारिक द्वंद्वों, संघर्षों, विचारों, मूल्यों में हस्तक्षेप की भूमिका। यही वह बिन्दु है जब उपन्यास के लिए 'जीवन की पुनर्रचना' की कसौटी लागू होती है—पर इस प्रश्न के साथ कि 'किस जीवन की पुनर्रचना?' और उससे भी बढ़कर यह कि 'क्यों' जीवन की पुनर्रचना?'

किसी भी भाषा का उपन्यास सिर्फ एक

साहित्यिक कृति नहीं होता। और इस बात के समूचे विश्व-साहित्य के इतिहास में अकाट्य और पुख्ता प्रमाण हैं कि किसी भी देश के किसी भी युग के उपन्यासकार सिर्फ लेखक नहीं होते, वे कुछ कारीगर हाथ होते हैं। जो भविष्य को गढ़ते हैं। कैसे? यह प्रक्रिया है तो बहुत जटिल पर किसी-किसी युग में धूप और रोशनी की तरह एकदम साफ दिखाई देती है। शायद इस प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए बड़े अध्यवसाय और बड़ी मेधा की जरूरत होगी, पर इसका परिणाम मामूली-से-मामूली व्यक्ति को दिखाई देता है। मसलन कहते हैं कि शरतचंद्र ने बंगाल की स्त्री को बोलना सिखाया, उसे प्रेम करने का साहस दिया। हम सब जानते हैं कि हमारे विशाल हिन्दी क्षेत्र की स्त्रियों के पास अभी भी अपनी वाणी नहीं है, प्रेम का साहस नहीं है। निश्चय ही ये बातें इतने सरलीकृत ढंग से समाज में घटित नहीं होतीं। बहुत से आर्थिक, सामाजिक कारकों की जटिल प्रक्रियाएं इनके पीछे होती हैं। पर इन सबके बीच लेखक की भूमिका कैसे अपना काम करती है—यह जानना महत्वपूर्ण है। तो वे शरतचन्द्र के कारीगर हाथ थे जो बड़ी बारीकी से, कौशल से, संवेदना और लगाव से रवीन्द्रनाथ की उस मोहिता किशोरी का मानस गढ़ रहे थे, व्यक्तित्त्व रच रहे थे, जिसने सावन के मेघों की गूंज तो सुनी थी, नदी में बही आ रही डोंगी में किसी दूर देश के वासी के आने का अनुमान किया था और ऋतुओं के ढेर सारे रंग जिसकी हथेली में थे, पर जो नहीं जानती थी कि प्रेम करने का अधिकार उसे नहीं है, हां पाने का जरूर है—एक व्यवस्था की शर्तों पर। उसके चारों ओर जो समाज है उसमें नदी और ऋतुएं नहीं दीवारें हैं, कोठे हैं, उसके अस्तित्व की कठिन परिस्थितियां हैं, अंधेरी गलियां हैं और प्रेमी तो कहीं नहीं है। वह किशोरी अचानक बड़ी हो गई। यह शरतचन्द्र का संस्पर्श था। एक सामन्ती औपनिवेशिक समाज के नगर जीवन में इंसानी रिश्तों के गहरे द्वंद्व और नये आदर्शवादी विचारों के टकराव किस तरह लोगों के जीवन में घटित होते हैं, लोगों को बदलते हैं, जिन्दगी के प्रति उनके नजरिए में तब्दीली लाते हैं—और इन सबके बीच व्यथा और आंसुओं का जो समंदर है यह उनके एक-एक उपन्यास में इतनी प्रामाणिकता के साथ उभरा कि उनके उपन्यास उन्नीसवीं सदी के समाज की कार्यशाला प्रतीत होती हैं।

अपने कई अन्तरविरोधों, विचलनों, सीमाओं के बावजूद महाराष्ट्र की वर्चस्ववादी, ब्राह्मणवादी, आधुनिक-साम्प्रदायिक भ्रष्ट और गलीज ताकतों को लगातार चुनौती की स्थिति में रखने वाले वे कारीगर हाथ मराठी दलित लेखकों के थे। महाराष्ट्र के समाज में सामाजिक विभेदों के खिलाफ जो जंग रचनात्मक स्तर पर लड़ी गई है उसके बरक्स हिन्दी प्रदेशों का समाज ही पीछे नहीं है—उसके लेखक भी अपनी तमाम प्रगतिशीलता और मार्क्सवाद के बावजूद अपने संस्कारों और व्यवहार में और प्रकारांतर से अपने जीवन और लेखन दोनों ही में भयानक रूप से जातिवाद, साम्प्रदायिकता और सामन्ती मानसिक ढांचे से ग्रस्त हैं—इस माहौल में जब हम उपन्यास की बात कर रहे हैं तो यह दीगर है कि उपन्यास लम्बे विस्तार में फैला एक किस्सा नहीं बल्कि समाज को बदलने वाला सबसे प्रभावी साहित्यिक शस्त्र होता है, और उसके लेखक अपने समय के सर्वाधिक प्रबुद्ध सामाजिक व्यक्तित्व और राजनीतिक दृष्टा होते हैं। दुनिया के ज्यादातर अच्छे उपन्यास कविता या कहानी की तरह जीवन के अनुभवों और संवेदनाओं को अभिव्यक्त भर करने के लिए नहीं लिखे गये—वे राजनीतिक मंशा के साथ लिखे गये, उनके पीछे समूचा एक दार्शनिक मंतव्य रहा है—समाज के बाहरी स्तरों पर दिखाई देने वाले संघर्ष या उस संघर्ष के साथ व्यक्ति की चेतना की अंतक्रियायें उपन्यासों का विषय बनी हैं। क्या औद्योगिकीकरण के दौर को समझने के लिए डिकेंस के उपन्यास जरूरी दस्तावेज नहीं हैं? या औपनिवेशिक लूट और प्रायोजित तानाशाही वाले लातिन अमरीकी मुल्कों की नियति मार्खेज के उपन्यासों में अनायास चली आई है? बीसवीं सदी में साहित्य में जो कुछ मूल्यवान है; उसमें रूसी, लातिन अमरीकी, अफ्रीकी, अश्वेत मूल के अमरीकी लेखकों और नारी मुक्ति आन्दोलनों से जुड़ी यूरोपीय लेखिकाओं के उपन्यासों ने अपने-अपने समाजों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन उपन्यासों के लेखकों का जीवन देख लीजिए—वह जीवन इस बात का प्रमाण देता है कि जो लिखा गया है उसके लिए जिन्दगी जी गई है। विचार सिर्फ मानसिक जगत का ही हिस्सा नहीं रहे हैं उनसे जीवन की दिशाएं निर्धारित हुई हैं व्यक्तिगत जीवन के निर्णय लिये गये हैं, उनके लिए कीमतें चुकाई गई हैं। आज भारत को एक नवजागरण की जरूरत है—तो भारत को, हमने जितने अतीत के लेखक देखें हैं अपनी भाषा में, जिनकी प्रशंसाएं की हैं, जिनके लिखे को पढ़कर भाषा सीखी है जिनसे हमारे मानसिक जगत के संस्कार बने हैं, उनसे बिल्कुल भिन्न प्रकार के लेखकों की आवश्यकता है—अन्यथा यह कैसे सम्भव है कि इसी निजाम की मुखालिफत करने वाला लेखक इसी निजाम द्वारा सम्मानित हो, और यह सम्मान उसे गदगद भी करे। फिर वे कौन लोग थे—जिन्हें दूसरे मुल्कों में हमारी इसी सदी में राजसत्ता ने कुचल देने में कोई कसर नहीं रखी—बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं—नाम गिनाये जा सकते हैं—पर मूल बात यह है कि जिस लेखन की हमें उम्मीद है वह जीवन की जड़ों में कहीं पक रहा है और उसे वहन करने के लिए उसे अभिव्यकत करने के लिए जिस लेखक की तलाश है वह निश्चित रूप से सांचे में ढले निम्न मध्यवर्गीय लेखकों से बिल्कुल भिन्न व्यक्तित्व होगा। भारत को आज रेनेसां की जरूरत है—सांस्कृतिक, वैचारिक, सामाजिक—जो कि नये समाज और नये मनुष्य के निर्माण के लिए आवश्यक नई राजनीतिक परिस्थितियों और व्यवस्था के सूत्रपात का कारण बनेगा। तो जो समय हमारे विचारों में है उसे सम्भव करने के लिए लेखन की एक बड़ी भूमिका होगी और उसमें भी उपन्यास की खासकर। आने वाला युग सुरक्षित निम्नमध्यवर्गीय उपन्यासकारों का नहीं होगा—शायद हमारी भाषा में भी भविष्य को गढ़ने वाले सुन्दर हाथ सामने आयेंगे।

जरा पीछे लौट कर देखें इतिहास में। रूस में क्रान्ति से पहले महान आदर्शों से प्रेरित, महान लक्ष्यों की ओर उन्मुख, अपने खून और हड्डियों से नवयुग उतार लाने को उद्धत, अब तक के मानव इतिहास की सबसे उज्ज्वल, सबसे गरिमामय और ऊर्जस्वी जिस युवा पीढ़ी ने जन्म लिया था और एक महान प्रेरक जीवन जिया था उसे गढ़ने वाला एक हाथ **निकोलाई चेर्नीशेव्स्की** का था, दूसरा **मक्सिम गोर्की** का और अतीत से झलकता झुर्रियों भरा एक बूढ़ा हाथ **तालस्ताय** का भी था। **तालस्ताय** ने रूसी कुलीन-वर्ग का पाखण्ड भरा जीवन रेशा-रेशा खोलकर रख दिया था। किसानों के दुख, भूमि व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति अपनी पूरी संवेदना और रचाव लेकर उनके उपन्यासों में आयी। यह **तालस्ताय** का हाथ जो युवा पीढ़ी को विगत के खण्डहरों से अतीत के प्रेतों से मुक्ति दे रहा था। नवयुग का स्वप्न तो उसके पास नहीं था, पर नई पीढ़ी को उसने यह जरूर बता दिया था कि—देखो, यह जर्जर समाज अपने बीमार मूल्यों समेत ध्वस्त हो रहा है, इसकी प्रेत छायाओं में तुम मत भटको... नेकी और सच्चाई तलाशो! **चेर्नीशेव्स्की** ने इस पीढ़ी को सपना दिया—एक आन्दोलित कर देने वाला सपना। उन्होंने इस पीढ़ी को उजाले की प्यास

दी। उसके व्यक्तित्व को ओज और गरिमा से भर दिया। उसे ऊंचे आदर्शों की ललक दी। और **गोर्की** के मजदूर हाथ? श्रम की महान विजय के स्मारक हैं वे हाथ। उनके उपन्यास भविष्य को अनजान क्षितिजों से धरती पर उतार लाने को बढ़ती समूची युवा पीढ़ी के शस्त्र बने, संबल और पाथेय बने।

तालस्ताय का आत्मसंघर्ष और वैचारिक यंत्रणा, **चेर्नीशेव्स्की** का 20 वर्षों का साइबेरिया निष्कासन और जारशाही द्वारा उनकी क्रमिक हत्या और **गोर्की** का संघर्षों में बीता कठोर तपा हुआ जीवन—इन तमाम महान उपन्यासों के पीछे थे। सिर्फ कलम और स्याही से नहीं लिखे गये थे ये उपन्यास।

और हम सिर्फ कलम और स्याही से 'महान' उपन्यास लिख रहे हैं। कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ? उन्हीं कारीगर हाथों की मुझे तलाश है। हिन्दी में पाठक न होने की शिकायत करने वाले लेखकों को पता होना चाहिए कि हिन्दी भाषी देश के 40 करोड़ लोगों में से कम-से-कम एकाध लाख ऐसे साक्षर पाठक मौजूदा समाज में भी हैं, जिन्हें उन कारीगर हाथों की प्रतीक्षा है।

हमारा उपन्यास लेखक कौन है? वही मध्यवर्गीय दीन-हीन पर चालाक साहित्यिक महत्वाकांक्षी या अजीब-सी कस्बाई एक आयामी सादगी से भरा व्यक्ति। मध्यवर्गीय इसलिए नहीं कि वह मध्यमवर्ग से आता है, बल्कि इसलिए कि पूरा एक जीवन जी लेने के बावजूद उसके अनुभव, उसकी प्रेरणा, उसकी मानसिक बुनावट, उसकी इच्छाएं, उसके स्वप्न, उसके विचार, उसके जीवन की दिशाएं—निम्नवर्ग से मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों में दोलायमान हैं। वह या तो जमाने से पीछे रह गया आदमी है—या जमाने को खूब समझता हुआ, अपनी सीमा भर चालाकी से उसमें अपनी जगह बनाता हुआ एक व्यावहारिक लेखक।

फिर कैसे हैं हमारे उपन्यास? यह बहुत रोचक प्रश्न है—ठीक 'कविता की वापसी' की तरह इन दिनों 'उपन्यास की वापसी' या पुनर्जन्म फिजां बन रही है। इस प्रश्न का ठीक-ठीक अनुसंधान हमारे ढेर सारे अच्छे नेकनीयत उपन्यासकारों को हताश कर सकता है, उनमें कोप का आर्विभाव कर सकता है और 'आलोचनाओं से बगैर विचलित हुए' धुआंधार लिखाते जाने की 'अडिग संकल्पशक्ति' भी भर सकता है! पर उपन्यास को लेकर मचा हुआ यह सारा घटाटोप जिस सच्चाई, जिस तथ्य की ओर संकेत करता है वह यह कि एक ऐसा युग आ रहा है जो समाज और जिन्दगी में बड़े परिवर्तनों का सूत्रपात करेगा और इसके चिन्ह साहित्य की जिन विधाओं में होंगे उनमें उपन्यास का महत्व निस्सन्देह ज्यादा होगा। समाज में इसकी प्रक्रियाएं जारी हैं।

हिन्दी उपन्यासों की सारी मनोभूमि और संरचना कुछ प्राप्त सत्यों के इर्द-गिर्द टिक कर रह गई है। मसलन कुछ उपन्यास हैं जिनमें कस्बाई या मुहल्लों की जिन्दगी काफी प्रामाणिकता से मौजूद है, कुछ उपन्यास हैं जिनमें महानगर की पृष्ठभूमि में आदर्शों का टूटना है, कुछ में बगैर किसी आन्तरिक जुड़ाव के गांवों के बदल रहे यथार्थ पर कथा बुनी गई है, कुछ निरे व्यक्तिवादी उपन्यास हैं, कुछ नॉस्टेल्जिया का रचनात्मक रूपान्तरण हैं। कुछ में आंचलिक सौन्दर्य का नव रूप-विधान में चित्रण है। इन उपन्यासों में सामान्य जो बात है वह यह कि उपन्यास की टेकनिक में ये उपन्यास अपनी परम्परा के उपन्यासों से सामान्य तौर पर आगे के उपन्यास हैं। भाषा, पात्रों की आवाजाही, विवरण आदि में सूक्ष्मता और कौशल है। उपन्यास-विधा में समकालीन उपन्यासकारों ने जो कौशल अर्जित किया है मैं नहीं समझता हूं कि उसकी निन्दा आवश्यक है, जैसाकि प्रचलन है कि कौशल और तकनीक, शिल्प और बारीकी की उपेक्षा या आलोचना एक किस्म की प्रगतिशील भंगिमा रही है। निस्सन्देह दुनिया बदल रही है, बल्कि काफी कुछ बदल चुकी है। इस बदलाव का असर साहित्य पर हर जगह पड़ा है और मैं नहीं मानता कि हमारे मुल्क में यह असर साहित्य में किसी साम्राज्यवादी संस्कृति या सांस्कृतिक हमले का परिणाम है। वस्तुत: साम्राज्यवादी संस्कृति ने अपने हमले के लिए ज्यादा व्यापक और प्रभावकारी माध्यमों को चुन रखा है। साहित्य में जो प्रभाव विगत बीस वर्षों में पड़े हैं उनमें बाकी भारतीय भाषाओं के बारे में मुझे जानकारी नहीं है किन्तु निस्सन्देह हिन्दी उपन्यासों और कहानी की टेकनिक को समृद्ध किया है। पर जो बात मुझे कहनी है वह यह है कि इन सब उपन्यासों में ऊपर वर्णित इतनी सारी विविधताओं के बावजूद जो बात सामान्य है, जिस पर लगभग अघोषित आम-सहमति है वह बहुत चिन्ताजनक बात है—वह यह कि एक उपन्यास अपने कथानक के रूप में, अपने पात्रों के रूप में, अपनी परिस्थिति और घटनाओं के रूप में उन सब बातों का चयन करता है जिनके चलते उस उपन्यास को प्रगतिशील या जनता के जीवन से जुड़ा आसानी से माना जा सकता है—पर वह उपन्यास किस राजनीतिक दृष्टि से उपजा है या वह कौन सी राजनीतिक दृष्टि देता है यह जैसे कोई मुद्दा ही नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि उपन्यास को राजनीति से विलग कर दिया जाये? अगर आप उपन्यास से राजनीति निकाल दें तो यह विधा कोई मायने नहीं रखेगी। वस्तुत: उपन्यास एक राजनीतिक कार्रवाई है—यह बात हमारी सदी ने बार-बार सिद्ध की है—एक धारा के रूप में **प्रेमचंद, यशपाल, तकषि पिल्लै, गोर्की, शोलोखोव, मार्खेज** से लेकर दूसरी धारा के रूप में **मिलॉन कुंदरा, सोल्जेनित्सन, पास्तरनाक** और ढेरों श्वेत अमरीकी उपन्यासकारों तक। इस तथ्य से आंखें नहीं मूंदी जा सकतीं। हमने इतने आसान तरीके अपने जीने और सोचने के लिए निर्मित कर लिये हैं कि आज जनवाद, प्रगतिशीलता, राजनीतिक एक्टीविज्म, क्रान्ति जैसे शब्द पूरक कर्मों के प्रतीक न रह कर एक तरह का ऐसा अलग-अलग विशेषीकरण बन गये हैं जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यह माना जाता था कि सृजनात्मक साहित्य खासकर उपन्यास किसी भी देश के समाज में हो रहे राजनीतिक प्रक्रियाओं और सामाजिक-आर्थिक ढांचे में आ रहे परिवर्तनों के कारण लोगों की जिन्दगी में पड़ रहे असर और इसी सन्दर्भ में उनकी आशाओं-आकांक्षाओं और संघर्षों को वाणी देता है, दर्ज करता है, पर क्या आज ऐसा हो पा रहा है—मित्रों सवाल साहित्य का नहीं है कुछ उपन्यासकारों के साहित्यिक ग्राफ का नहीं है—कुछ आलोचकों के मूल्य निर्णय का भी नहीं है—सवाल जिन्दगी का है जो रोज बदल रही है—अब देखिये यह जिन्दगी भारत के देहातों से लेकर महानगरों तक में किस तरह बदल रही है, किसकी शर्तों पर बदल रही है, कौन इसे बदल रहा है—और इस समूचे बदलाव के निशान लोगों के चेहरों पर कैसे छूट रहे हैं। कैसा है आज का भारत? इस नवऔपनिवेशिक भारत को लेखक चाहिए? साम्राज्यवादी शोषण के इस खतरनाक दौर को दर्ज करने के लिए सारी सदशयता, प्रतिभा और कौशल के बावजूद वे हाथ नाकाफी होंगे जो कैसी भी विवशता के चलते इस सामूहिक यंत्रणा को लिख नहीं पा रहे हैं।

हिन्दी की समूची उपन्यास परम्परा और हाल ही के कुछ वर्षों में आये ढेर सारे रोचक और अच्छे उपन्यासों पर विमर्श जरूरी है—पर विधा की शर्तों और साहित्य की शर्तों पर नहीं। भविष्य ही एकमात्र कसौटी होगा—(जितना

(शेष पृष्ठ 60 पर)

काजी नजरुल इस्लाम की जन्मशती पर

उनकी प्रसिद्ध कविता

विद्रोही

मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!
मैं शास्ति शांति का नाश, त्रास मैं क्रान्तिरूप;
मैं रणकामी, चिर सजग वीर!
मैं महाविश्व के महाकाश का वक्ष तोड़,
मैं रवि शशि ग्रह उपग्रह पीछे नक्षत्र छोड़,
मैं महर्लोक स्वर्लोक भेद शतकोटि लोक,
पहुंचा अलोक के लोक, त्रस्त प्रभु को शंकित करता सशोक;
मैं वसुंधरा का उर विदार
मैं चिर विस्मय निकला उसमें से चमत्कार,
है अग्नि शिखाओं का पहनाया जिसे रुद्र ने कंठहार।
मैं चिर गर्वोन्नत शीश, हेर नतशीश जिसे
उत्तुंग हिमाचलश्रृंग धीर।

मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

मैं दुर्विनीत, दुद्र्दम, नृशंस,
मैं महाप्रलय का सूत्रधार, नटराज, दिगंबर, महाध्वंस,
मैं पृथ्वी का अभिशाप,
विश्व का महात्रास,
मैं अनियम, मैं उच्छृंखल
बारह सूर्यों का ताप,
सृष्टि यह एक ग्रास,
चरणों से मेरे छिन्न नियम सब श्रृंखल।

मैं महाकाल,
वैशाखमास की वृष्टि जलद-गर्जन अकाल,
मैं उपलखंडवाहिनी घोर शतवज्ररोर-पूरित
उल्का-प्रेरित समीर।
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

मैं झटिति और मैं झंझा,
मैं विद्यु विनिर्मित साइक्लोन,
मैं उग्र दबाता महामृत्यु का पंजा!
मैं उद्धत उन्मद मुक्त छंद,
सोल्लास नाचता नई ताल पर महानंद,
मैं छायानट, हम्मीर और हिंदोल-दोल,
आंदोलित करता सागर, क्षुब्ध तरंग-रोल;
मैं अग्निनयन अनिमेष, अग्निशरचापहस्त
असुरारि राम मैं सिंधुतीर!
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

मैं दुद्र्दम दैत्य निराला,
है प्राणशक्ति से पूरित हर दम प्याला;
मैं होमशिखा, मैं जामदग्न्य जमदग्नि,
मैं पुरोडाश, मैं हाहुताश, मैं अग्नि,
मैं निबिड़ सूर्य शशि ताराहीन निशावसान,
कालीकापालिकवास श्रृगालगृद्धसेवित
रुधिराक्त चिताधूसर मसान।
मैं इंद्राणीसुत, चंद्र हाथ, भाल में सूर्य,
है एक हाथ बांसुरी, दूसरे में भीषण रणमरणतूर्य;
मैं नीलकंठ, कर महासिंधु का गरलपान,
मैं जागरूक धूर्ज्जटी अचल,
धृत जटाजूट में फेनोच्छल
गंगा की धारा प्रवाहमान।
मैं अस्थिखंड-निर्मित पिनाक, मैं गांडीव,
मैं वीर किरीटी का अक्षय तूणीय तीर!
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

मैं बेदूइन, तातारवीर, चंगेजखान,
मैं जहां अंह को छोड़ दूसरे को देता श्रद्धार्घ्यदान,
ईशाण बजाता मैं विषाण, रव ओंककार;
डिमडिम डमरू मैं व्योमकेश का, प्रलयकाल का हूंकार;
मैं गाधिपुत्र की सृष्टि, रुष्ट दुर्वासा का हूं महाशाप;

मैं विश्व-विरोधी महात्रास, द्वादश रवि ग्रासी राहुताप;
लांछित के उर में सुलग रही विषज्वाला मैं अपमान ज्ञान,
मैं सागर में बाड़व प्रचंड, वन में दावानल धूयमान;
मैं मुक्त कुमारी की वेणी, मैं प्रथम स्पर्श पुलकित शरीर,
उद्दाम वासना, अमिट चाह, मैं यौवन की लिप्सा अधीर।
विधवा के उर की करुण हूक, मैं भ्रांत पथिक जग से निराश,
मैं चिर अप्रतिहत आकांक्षा, मै। चिर उन्मन, मैं चिर उदास!
मैं हिम-तुषार-नीहार हार, अंबर में अंबुद-तुमुलराग,
मैं शुष्क सहारा अंतहीन, मैं ज्येष्ठ मास, जलता निदाघ।
मैं छिपी प्रिया की नैन-सैन, कंकन-किनकिन नुपुर-रुनझुन,
मैं चुंबन मृदु, दृढ़ आलिंगन, रति मैं, क्रीड़ा मैं, सृजन मरण।
आकाश और पाताल ताल पर ताताथेई से टलमल,
मैं पतन और उत्थान, अचेतन में चेतन, मैं चिर उज्ज्वल।
मैं विजय-वैजयंती मानव की, मैं जग जीवन की आशा,
उच्चै:श्रवा पर करती पार गगन पथ मेरी अभिलाषा।
धरती के उर में अग्नि-श्रृंग, मैं भूमिकंप घर्घर निनाद,
कर ध्वस्त नगर, लीलता त्रस्त नारीनर मैं प्रलयोन्माद।
मैं देवदूत के अग्निपंख धर, वासुकिफन पर कर नर्तन,
खींचता जगद्धात्री का अंचल, दुष्ट धृष्टगति दु:शासन।
मैं छिन्न मुंड काली कराल, मैं समरसंगिनी सर्वनाश,
मैं रौरव की ज्वालाओं में हंसता वसंत का पुष्पहास।
बलराम राम मैं परशुराम, मैं चक्र सुदर्शन, हल, कुठार।
निष्पाप करूंगा फिर उदार, कलुषित धरणी को एक बार।
मैं विद्रोही, मैं रणक्लांत,
होगी उर-ज्वाला तभी शांत,
आकाश बातास में न गूंजेगा जब मानवक्रंदन,
जब आततायियों की न बजेगी समरभूमि में असि झनझन।
मैं विद्रोही भृगु, ईशवक्ष में आंकूंगा निज चरणचिन्ह,
कल्पनामूर्ति में स्वेच्छाचारी धाता को कर छिन्न भिन्न;
लूंगा निकाल मैं अनाचार, दुख दुर्विचार।
अत्याचारी का हृदय चीर।
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

●

डा. रामविलास शर्मा द्वारा बांग्ला से स्वतंत्र रूपान्तर और 1956 में प्रकाशित उन्हीं के कविता संग्रह **'रूपतंरग'** से साभार

(पृष्ठ 58 का शेष)

भविष्य वह अपने वर्तमान में उतार सके।) इस भविष्य के बारे में हमारे उपन्यासकार कितने साफ हैं? उसे लेकर कितने कर्मठ हैं? ये सब जीवन के महत्तर सवाल हैं। बड़ा उपन्यास इन्हीं सवालों के बीच अपने अनुभव और अपनी भाषा संजो रहा है। पर हिन्दी में तो पिछले कुछ वर्षों से एक-के-बाद-एक अच्छे उपन्यास आते जा रहे हैं—उनमें यथार्थ भी है और सामाजिक सत्य भी। सामाजिक अन्याय का चित्रण भी है और शोषण का प्रतिकार भी।

यहीं मुझे लुशून याद आते हैं। उनके मुताबिक किसी भी साहित्य के तीन युग होते हैं—

1. *क्रान्ति पूर्व का साहित्य*
2. *क्रान्ति के समय का साहित्य*
3. *क्रान्ति के बाद का साहित्य*

क्रान्ति पूर्व के साहित्य में सामाजिक अन्याय, शोषण और यथार्थ के जोरदार चित्रण पर जोर दिया जाता है। पर यह प्रवृत्ति अपने परिणामों में स्वस्थ नहीं है। यह जनगण की विवशता और शक्तिहीनता का प्रचार कर शोषक वर्ग को निश्चिंतता देती है। क्रान्ति के समय का साहित्य जनता की शक्ति उसके साहस, उसके सपनों और उसके विद्रोहों के तुमुल नाद से गूंजता है। क्रान्ति के बाद दो तरह का साहित्य होता है—नवनिर्माण का और अतीत के मोह में डूबे लोगों के शोकगीतों का।

लुशून के इन विचारों को विभिन्न देशों के इतिहासों और साहित्य की प्रवृत्तियों के परिवर्तन के इतिवृत्तों ने पुष्ट किया है। हालांकि लुशून ने यह दो-टूक प्रवृत्ति निर्धारण क्रान्ति के सन्दर्भ में किया है। लेकिन भारत में यह समय न तो क्रान्ति का है, न क्रान्ति के बाद का और इस मायने में यह क्रान्ति-पूर्व का भी समय नहीं है—जिसमें संगठन, प्रचार, राजनीतिक संघर्ष क्रान्ति की पीठिका रच रहे हों। फिर कैसा है यह समय? क्या हमारे बहुत से नाजुक मिजाज मार्क्सवादी कवि-मित्रों का शिनाख्त किया हुआ 'असह्य समय', 'क्रूर समय', 'कठिन समय' है यह? यदि कर्तव्य के नजरिए से देखा जाये तो यह समय फौरी तौर पर एक आसन्न नवजागरण के लिए काम करने का समय है—एक ऐसा नवजागरण जो आने वाले क्रान्ति के युग को मजबूत सांस्कृतिक बुनियाद देगा, एक ऐसा नवजागरण जो जन-मानस के लिए उसके संघर्ष की सम्भावनाओं और उसकी नैतिक कर्मशक्ति के महाप्रवाह का महास्रोत बन इतिहास के दहानों से फूट पड़ेगा।

यह परिप्रेक्ष्य खुद-ब-खुद हर वर्ष आ रहे अच्छे उपन्यासों—यथार्थ, सामाजिक सत्य, सामाजिक अन्याय व शोषण के चित्रण से भरे श्रेष्ठ उपन्यासों की सीमाएं स्पष्ट कर देता है। बेशक बहुत नफीस भाषा में, बहुत पैने चुस्त और तराशे हुए शिल्प में और सचमुच में जीवन की भरपूर प्रामाणिकता लिए हुए, कुछ गहन, कुछ बिरले अनुभवों के अत्यन्त कलात्मक और संवेदनक्षम वृतान्त के रूप में आज हमारी भाषा में ढेर सारे अच्छे उपन्यास हैं। उनमें गये जमाने की जिन्दगी धड़क रही है, अतीत का शोकगीत मद्धम स्वरों में बिलख रहा है—यह दृश्य विगत की करुणा से लोहित है... पर ठीक यहीं से एक वृहत्तर संसार, रचना का एक नया संसार शुरू होता है। वहां जाने वाले रास्ते पर सौ साल पुरानी इबारत में शिलालेख खुदा हुआ है :

''भविष्य उज्ज्वल और सुन्दर है। उससे प्रेम करो, उसकी ओर अग्रसर होओ, उसके लिए काम करो, उसे निकट लाओ। भविष्य की जितनी बातों को वर्तमान में ला सकते हो, उन्हें लाओ, तुम्हारा जीवन उतना ही उज्ज्वल और भला, उतना ही हर्षदायी और आनन्दमय होगा , जितना भविष्य तुम अपने वर्तमान में उतार सकोगे...'' ●

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर

जब क्रान्ति के दिन थे, लोग चीजों को अलग ढंग से देखते थे

माओवादी चीन में स्त्रियां : आधा आकाश उनके कंधों पर टिका था

माओ के क्रान्तिकारी चीन में स्त्रियां कैसे मुक्त हो चुकी थीं, यह लेख उसी की कहानी है। यह दिखाता है कि एक *नये समाज में,* जहां सत्ता सर्वहारा के हाथों में होती है, चीजें कैसे भिन्न हो सकती हैं। और इसमें उन तमाम लोगों के लिए ऐसे ढेरों जरूरी सबक हैं जो आज सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं।

माओ ने चीन में लाल सेना का गठन करने, सशस्त्र संघर्ष चलाने और सत्ता पर कब्जा जमाने में जनता की अगुवाई की। 1949 में चीन को मुक्ति मिली और नये समाजवादी समाज के निर्माण में लोग 25 वर्षों से भी अधिक समय तक लगे रहे। दबे-कुचले लोगों को इस क्रान्ति के बारे में जानने की आवश्यकता है क्योंकि समाज के तलछट में लोगों को जिन भयानक परिस्थितियों से रूबरू होना पड़ता था उसके **समाधान** के बारे में यह हमें बताता है और हमें यह दिखाता है कि स्त्रियों की आबादी किस तरह आजाद होकर समस्त उत्पीड़न से मुक्त एक नये समाज के निर्माण में एक पूर्ण और बराबरी की भूमिका निभाती है। माओ के क्रान्तिकारी चीन में स्त्रियों ने ''आधा आकाश थाम रखा था''। और वे इतिहास के किसी भी समय में, किसी भी समाज की स्त्रियों से अधिक मुक्त और अधिक स्वतंत्र थी। यह उज्ज्वल भविष्य का एक अतीत चित्र (फ्लैश बैक) है जिसे सिर्फ सर्वहारा क्रान्ति साकार बना सकती है।

हजारों बेड़ियां, अनगिनत आंसू

एक बोझा ढोने वाले पशु के बारे में सोचिए। खरीदा और बेचा जाना कैसा लगता होगा, इसके बारे में सोचिए। जरा सोचिए कि जन्म लेने के समय से लेकर मृत्यु के दिन तक आपका अपनी नियति पर कोई वश नहीं। और सोचिए कि किसी अन्य व्यक्ति के रहमों-करम पर रहना कैसा लगता होगा जो आपकी देह का मालिक हो और आपके साथ यौन गुलाम की तरह बर्ताव करता हो। करोड़ों-करोड़ स्त्रियों की, क्रान्ति के पूर्व यही स्थिति थी।

देहात में, जहां ज्यादातर चीनी जनता रहती थी, जमीन के मालिक जमींदारों द्वारा किसानों का बर्बरतापूर्वक दमन किया जाता था और लोगों को दबाने के लिए वे अपने गुण्डों की सेना का इस्तेमाल करते थे। दिन निकलने से लेकर दिन ढलने तक लोग काम करते रहते थे और जमींदारों को धनवान बनाते थे। अनाज पैदा करने के बावजूद वे भुखमरी के कगार पर जीते थे और हमेशा कर्जे से दबे रहते थे। जैसा कि माओ ने इंगित किया है, चीन में औरतों की आबादी इन तमाम चीजों को झेल रही थी, और **कहीं ज्यादा** तमाम तरह के पिछड़े विचारों, रूढ़ियों और परम्पराओं ने उन्हें सबसे नीचे की तलहटी में कैद कर रखा था।

पुराने (क्रान्ति के पूर्व) चीन में औरतों को यह चुनने की इजाजत नहीं थी कि वे किसके साथ शादी करेंगी। माता-पिता अपने शिशुओं और छोटे बच्चों के लिए शादियां ''तय-तमाम'' करते थे और कम उम्र लड़कियां अपने ससुराल में दासियां बन जातीं, जब तक कि एक तरूणी के रूप में उनकी शादी नहीं हो जाती थी। एक लड़की तभी तक अच्छी समझी जाती थी जब तक कि दहेज की कीमत चुका उसे दुल्हन के रूप में खरीद नहीं लिया जाता था। और शादी हो जाने के बाद एक स्त्री अपने पति व उसके परिवार के लिए कर्तव्यपरायण दासी बनी रहती थी। यदि उसका पति उसे तलाक दे देता तो वह अपनी प्रतिष्ठा गंवा बैठती थी। यदि वह विधवा हो जाती तो उसे फिर से शादी करने की इजाजत नहीं थी। बहुत से पुरुषों की कई-कई पत्नियां थीं, जिनके साथ पेशे में लगी वेश्याओं जैसा सुलूक होता। तमाम स्त्रियों ने ऐसा खौफनाक जीवन जैसे-तैसे जीने की जगह आत्महत्या कर ली। पैर बांधना स्त्रियों को दबाकर रखने का सबसे नृशंस तरीका था। कम उम्र (तीन-चार वर्ष) में लड़की के पैरों को सुकुमार और ''स्त्री सुलभ'' बनाने के लिए पंजे की उंगलियों को पीछे की ओर मोड़ कर कस कर बांध दिया जाता था। यह औरतों को शारीरिक और आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर बनाता था।

औरतें हर-हमेशा पीटी जाती थीं। पुरानी चीनी कहावतों के अनुसार, ''यदि मैं घोड़ा खरीदता हूं तो उसे पीट भी सकता हूं, यदि मैं शादी में पत्नी लाता हूं तो उसके साथ मै जैसा चाहूं वैसा कर सकता हूं'' और ''जब एक औरत गुस्सा करती है तो उसका पति उसे पीटता है। जब वह गुस्सा करता है तब भी वह उसे पीटता है।'' एक स्त्री सम्पत्ति की मालिक नहीं हो सकती थी। उसका काम बेटों को जन्म देना और पिता, पति तथा पुत्रों की सेवा करना था। क्योंकि स्त्रियों को 'बेकार की चीज' माना जाता था, इसलिए कभी-कभी लड़कियों को जन्म के समय ही डुबो कर मार दिया जाता था। ऐसी ही तमाम बातों ने मुक्ति के संघर्ष के दौरान औरतों के बीच से कुछ उत्कट योद्धा पैदा किये। वे लाल सेना में भर्ती हुईं और पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर उन्होंने बन्दूक उठायी। इसके लिए उन्हें चुन-चुन कर उन लोगों ने निशाना बनाया जो क्रान्ति को कुचल देना चाहते थे। भीषण बदला उतारते हुए सरकारी सैनिकों ने सड़कों पर क्रान्तिकारी स्त्रियों को घोर यातनाएं दीं और उन्हें मार डाला। कई स्त्रियों को तो अक्षरशः टुकड़े-टुकड़े काट डाला गया क्योंकि उत्पीड़क मिसाल कायम करना चाहते थे। परन्तु इससे लाखों चीनी औरतों का क्रान्ति से जुड़ने का संकल्प और भी अधिक दृढ़ हुआ।

क्रान्ति के स्त्रियों को सिर ऊंचा उठाकर जीने की आजादी दी

क्रान्ति के पूर्व किसान औरतें जमीन के एक भी टुकड़े की कभी मालिक नहीं हुईं— जिसका अर्थ था कि उनके हाथों में कोई आर्थिक ताकत या स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें पिता, पतियों और पुत्रों पर निर्भर रहना पड़ता था जो खुद भी गरीब थे, लेकिन फिर भी वे कम से कम जमीन का एक छोटा टुकड़ा रखने की स्थिति में होते थे। इतना ही नहीं, बेहद गरीब किसान जिनके पास जमीन बिल्कुल नहीं थी, लेकिन फिर भी वे अपनी पत्नियों और पुत्रियों पर अधिकार रखने के साथ ''घर के मुखिया'' तो होते ही थे।

भूमि सुधार चीनी क्रान्ति के केन्द्र में था। कम्युनिस्ट पार्टी ने लोक अदालतें लगाने और उन तमाम अपराधों के खिलाफ आवाज उठाने में किसानों की अगुवाई की जो भूस्वामियों ने लोगों के विरुद्ध किये थे। जब जमीन को जब्त किया गया और उसका पुनर्वितरण हुआ तो एक प्रश्न सीधे-सीधे क्रान्ति के सामने उपस्थित हुआ कि क्या भूमि और धन का पुनर्वितरण अब इस तरीके से किया जायेगा कि औरतों को मुक्त करने और उन्हें बराबरी देने में इसकी भागीदारी बनेगी? माओ ने कहा कि स्त्रियों को आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने की जरूरत है। अन्यथा वे चूल्हा-चौखट और बच्चों की परवरिश में लगी हुई हमेशा पुरुषों की और उस सामन्ती पारिवारिक ढांचे की कृपा के सहारे होंगी जो उन्हें घर से बांधे रखता है।

एकदम शुरुआत में ही क्रान्ति ने चीन में औरतों को जमीन पर मालिकाने का हक दिया। और बहुतेरी औरतों ने जो सिर्फ फलां की पत्नी और फलां-फलां की मां के नाम से जानी जाती थीं, उस समय पहली बार अपना स्वयं का नाम सार्वजनिक रूप से पुकारे जाते सुना जब उन्हें जमीन के मालिकाने का प्रमाण-पत्र सौंपा जा रहा था।

1950 में एक नया विवाह कानून लागू किया गया। इसने पुरानी सामन्ती विवाह-प्रथा का उन्मूलन कर दिया। स्त्री और पुरुष में बराबरी की घोषणा की, सम्पत्ति में बराबरी एवं तलाक का अधिकार मिला और बच्चों की परवरिश में बराबर की जिम्मेदारी को स्थापित किया। इसने द्विपत्नीत्व प्रथा, बाल विवाह, और ऐसी विधवा औरतों के रास्ते में, जो पुनर्विवाह करना चाहती थीं, बाधा उपस्थित करना गैरकानूनी करार दे दिया। इसने स्वेच्छा और परस्पर सम्मान पर आधारित एवं नये तरह के विवाह पर आधारित परिवार बनाने की बात की। नया विवाह अधिनियम विवाह व समाज के रिश्ते के बारे में स्पष्ट था, ''पति-पत्नी साथ-साथ जूझने के कर्तव्य से बंध जाते हैं ताकि... नये समाज का निर्माण किया जा सके।''

इस नये कानून को लेकर काफी संघर्ष चला। यहां तक कि सबसे दबे-कुचले लोगों में भी परिवार के उस श्रेणीबद्ध ढांचे का फायदा पुरुष अब भी उठा रहे थे, जिसने स्त्रियों को उनके मातहत कर रखा था। और सास—जो खुद ही इस व्यवस्था के हाथों सतायी जाती रहीं हैं—अपनी पुत्रवधुओं के साथ गृहस्थी की हाकिम जैसा बर्ताव करती थीं।

कम्युनिस्ट पार्टी ने विवाह और तलाक सम्बन्धी नये कानून के बारे में लोगों को शिक्षित करने के लिए जन-अभियान चलाया। इससे बहुतेरे पुरुषों के साथ ही औरतों के भी सोचने के तरीके में बदलाव आया। लोग इस बात को समझने लगे कि औरतें यदि मुक्त नहीं हुईं तो समूची जनता की मुक्ति भी सम्भव नहीं हो सकेगी। और यदि उनकी हैसियत गुलामों की बनी रही तो नये समाजवादी समाज के निर्माण में भागीदारी करने के लिए समाज की आधी आबादी गोलबन्द नहीं की जा सकेगी।

> माओ ने कहा था, ''नौकरीपेशा औरतों की आर्थिक हैसियत और यह तथ्य कि उनका उत्पीड़न विशेष रूप से होता है इस बात का प्रमाण है कि क्रान्ति न सिर्फ औरतों की फौरी जरूरत है बल्कि यह भी कि क्रान्ति की सफलता अथवा असफलता में वे एक निर्णायक शक्ति होती हैं।''

पुराने समाज में बहुत सी युवा स्त्रियों को वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य किया गया था। मुक्ति के बाद वेश्यावृत्ति को गैरकानूनी करार दे दिया गया। और इन स्त्रियों को चिकित्सकीय सेवाएं दी गईं व रोजगार मुहैया कराया गया। वेश्यालयों से मुक्त करायी गई स्त्रियों के लिए विद्यालय खोले गये—इनमें से कुछेक तो, सिर्फ तेरह वर्ष की बच्चियां थीं। लोगों को यह समझाने के लिए व्यापक शिक्षण अभियान चलाया गया कि वेश्यावृत्ति के लिए स्त्रियां नहीं बल्कि व्यवस्था दोषी है। पहले इस वृत्ति से जुड़ी रही औरतों को अपनी दास्तान सुनाने, अपनी कटुताओं के बारे में बताने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। और इन कहानियों को जन-जन तक प्रसारित किया गया ताकि लोग इस बात को समझ सकें कि ये औरतें पुरानी पतनोन्मुख व्यवस्था की शिकार थीं।

काम और राजनीति में समानता

मुक्ति से पहले चीन में स्त्रियों के साथ इन्सानों जैसा व्यवहार नहीं होता था। समाज में कन्फ्यूशियस का प्राचीन दर्शन हावी था जो यह सीधे-सीधे कहता था कि औरतें हर मामले में पुरुषों से निम्नतर होती हैं। यह बात समाज में आमतौर से प्रचलित थी कि वे पुरुषों से निर्बल, मूढ़मति और कम उपयोगी होती हैं।

परन्तु क्रान्ति ने लोगों के बीच स्त्रियों के प्रति व्यवहार के नये ढंग और नये मानक स्थापित किये। आधार सूत्र यह था कि स्त्रियों का दर्जा बराबरी का होता है—काम में, परिवार में और स्त्रियों व पुरुषों के बीच सम्बन्धों में। परन्तु सोचने का यह नया तरीका अचानक ही अथवा बिना विवाद के नहीं पैदा हो गया। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को नारी विरोधी सोच के खिलाफ तीखे संघर्ष में उतरना पड़ा, खासकर उन पुरुषों से जो अपना वर्चस्ववादी रंग-ढंग छोड़ने को तैयार नहीं थे। इसके साथ ही साथ पार्टी ने लोगों को यह समझाया कि पुरुषों का यह उत्पीड़नकारी व्यवहार भी पुरानी वर्गीय संरचना और सामाजिक श्रेणी का ही एक अंग है और एक नये समाज में उनका रूपान्तरण सम्भव है। यह पूंजीवाद और सामन्तवाद का वर्ग सम्बन्ध था जिसने औरतों के उत्पीड़न का आधार मुहैया कराया था।

क्रान्ति इस बात की प्रबल हिमायती थी कि उत्पादन और राजनीति में स्त्रियों की बराबर

> क्रान्ति की बिल्कुल शुरुआत में माओ ने एक पर्चा लिखा था जिसमें उन्होंने स्त्रियों को सीधे-सीधे सम्बोधित किया—''बहनो! हम स्त्रियां हैं। कष्टों के समुद्र में हम और भी गहरे डूब चुके हैं। हम भी इंसान हैं, बावजूद इसके हमें राजनीति में भागीदारी करने की इजाजत क्यों नहीं है? क्यों नहीं इन्सान होने के बावजूद, हमें सामाजिक सम्पर्क करने की इजाजत है? हमें बिलों में इकट्ठा किया गया है और हम सामने के दरवाजे से बाहर कदम नहीं रख सकते। ये निर्लज्ज पुरुष और गुण्डे हमें खिलौना समझते हैं, हमें वेश्यावृत्ति का जीवन अख्तियार करने के लिए बाध्य करते हैं और हमारे प्रेम करने के अधिकार को धूल में मिला देते हैं। 'शुचिता' का सम्बन्ध सिर्फ स्त्रियों से है। पतिव्रता स्त्रियों के लिए कई देवालय बने हैं लेकिन पत्नीव्रत पुरुषों के मन्दिर कहां है? हममें से कुछ लोग महिला विद्यालयों में जाते हैं परन्तु हमें शिक्षा देने वाले वही निर्लज्ज पुरुष और गुण्डे होते हैं। पूरे दिन वे—''कर्तव्यपरायण पत्नी और अच्छी माता'' की चर्चा करते रहते हैं। इसके सिवाय इसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता कि वे हमें जीवन भर की वेश्यावृत्ति में पारंगत होने की शिक्षा दें। वे डरते हैं कि हम उनके नियंत्रण को स्वीकार नहीं करेंगे। क्या कौशल है! स्वतंत्रता की देवी, कहां हो तुम? हमें मुक्ति दिलाओ। हम जाग उठे हैं। औरतों को एकता बनानी होगी और उन सभी दुष्ट आत्माओं को किनारे लगा देना होगा जो हमें रौंदते हैं और हमारी शारीरिक और आत्मिक स्वतंत्रता का विनाश करते हैं।''

की भूमिका होनी चाहिए। परन्तु शुरुआत में बहुतेरे पुरुषों और यहां तक कि औरतों ने भी इसका विरोध किया। कई पुरुषों ने कहा कि औरतें अगर काम पर जायेंगी या राजनीतिक रूप से सक्रिय होंगी तो बच्चों की देखभाल नहीं हो सकेगी और गृहस्थी बिखर जायेगी। कुछ पति अपनी पत्नियों को अंगूठेतले रखना चाहते थे और यदि वे आत्मनिर्भर होने का प्रयत्न करती थीं तो उन पर ''व्यर्थ समय गंवाने'' का अनुचित दोषारोपण करते। कुछेक तो अपनी पत्नियों तथा लड़कियों को मीटिंग से घर लौटने पर पीटते थे और उन्हें नौकरी की इजाजत नहीं देते थे। और कुछ लोग पुराने स्त्री विरोधी अंध-विश्वासों को बढ़ावा देते थे, जैसे यह कि स्त्रियां यदि खेतों में काम करेंगी तो फसल नहीं होगी।

स्त्रियां यह जंग लड़ने के लिए सामूहिक रूप से संगठित हुईं। वे ऐसी स्थिति नहीं चाहती थीं जहां आजाद होने के लिए हर औरत को निजी तौर पर अपने पति या पिता से खुद ही संघर्ष चलाना पड़े। वास्तव में, स्त्रियों के उत्पीड़न का सिलसिला जारी रखने के तरीकों में से एक यह था कि हर चीज निजी चीज बनी हुई थी। तमाम चीजें अब भी पति-पत्नी का आपसी मामला बनी हुई थीं और इस बात से ''किसी को मतलब नहीं था'' कि ''बन्द दरवाजों के पीछे'' क्या चल रहा है। परन्तु नये समाज में इसे बिल्कुल स्वीकार नहीं किया गया। यदि कोई पति अपनी पत्नी के साथ बुरा सुलूक करता था तो यह समूचे समुदाय का सरोकार बन जाता। साथ ही प्रत्येक की यह जिम्मेदारी बनती थी कि वह आर्थिक व राजनीतिक जीवन में औरतों की भागीदारी को सुनिश्चित करे।

जब कोई पति अपनी पत्नी को पीटता था तो औरतों की एक कमेटी एकत्र होकर वहां पहुंचतीं और पति के खिलाफ इस बात पर संघर्ष चलाती कि वह अपना रंग-ढंग बदल डाले। उसके बाद वे परिस्थितियों पर निगाह रखतीं। पति के खिलाफ उनका संघर्ष जारी रहता। इसके बावजूद यदि वह अपनी पत्नी के साथ बुरे ढंग से पेश आता तो वे उसे दंडित करतीं। और इस पर भी यदि वह नहीं बदलता तो औरतों की कमेटी पत्नी को तलाक लेने के लिए प्रोत्साहित करतीं और समर्थन देती।

सांस्कृतिक क्रान्ति : स्त्री मुक्ति में नई जागृति

1966 में माओ ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया जो समाजवाद के निर्माण में एक समूची नई अवस्था का सूत्रपात था। कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर ही ऐसे नेता पैदा हो गये थे जो पूंजीवाद की पुनर्स्थापना चाहते थे। इसके खिलाफ संघर्ष में माओ ने जनता पर भरोसा करने की रणनीति अख्तियार की। इस प्रश्न पर पूरे समाज में संघर्ष चलाने के लिए कि समाज किस दिशा में अग्रसर होना चाहिए, पार्टी और आम जनों को गोलबन्द किया गया। क्या चीन समाजवाद के निर्माण का काम जारी रखेगा और उत्पीड़नकारी तरीकों और सोच को उखाड़ फेंकेगा? अथवा चीन को पूंजीवाद की सड़ांध पैदा करती व्यवस्था की ओर बलपूर्वक पीछे ढकेल दिया जायेगा?

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति से समाज का कोई भी हिस्सा अछूता नहीं रहा। कोई परम्परा नहीं बची जिसे चुनौती न दी गयी हो। और इस व्यापक संघर्ष के जरिए स्त्रियों की मुक्ति को नई ऊंचाइयों तक पहुंचाया गया।

परिवार और ''पारिवारिक जीवन'' में स्त्रियों की भूमिका बुनियादी तौर पर बदल दी गयी। पुराने समाज में परिवार औरतों के उत्पीड़न को बल प्रदान करने वाली एक प्रमुख संस्था थी। नये समाज में बच्चों की व घर गृहस्थी के कामों में और अधिक जिम्मेदारी वहन करने के लिए पुरुषों के साथ संघर्ष चलाया जाता था। परन्तु जब तक बच्चों की परवरिश और परिवार की निजी आवश्यकताओं को पूरा करने की मुख्य जिम्मेदारी व्यक्तिगत रूप से परिवारों की बनी हुई थी, औरतें कामों के गैरबराबर बंटवारे को झेलने के लिए बाध्य थीं। और इससे भी महत्वपूर्ण यह था कि समाज उस सामुदायिक जीवन शैली को अख्तियार करने की दिशा में अग्रसर नहीं हो सकता था, जहां समाज की सभी समस्याओं के समाधान के लिए लोग एकजुट होकर काम करते।

सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने इस समस्या का सामना इस प्रकार किया। ऐसे ढेर सारे कामों का समाजीकरण कर दिया गया जिसे औरतें व्यक्तिगत रूप से घर के भीतर करती थीं। सामुदायिक रसोई घर और भोजनालय चालू किये गये। नये शिशु केन्द्रों की स्थापना की गई और उनका विस्तार किया गया। इससे समूचे समुदाय को विभिन्न सेवाएं देने के लिए लोगों का समूह एक साथ इकट्ठा हो गया। अत्यन्त आदिम तकनोलाजी के बावजूद यह काम किया गया।

उदाहरण के लिए एक गांव में किसानों ने सामूहिक अनाज पिसाई के काम को संगठित किया। औरतों का एक समूह एक छोटा पिसाई मिल चलाता था जिसमें दो भिन्न पद्धतियों का इस्तेमाल किया जाता था। उनके पास सरकार से खरीदा गया एक नया इलेक्ट्रिक ग्राईंडर था। पर वे एक पुराने तरीके की चक्की भी इस्तेमाल करती थीं जिसे बैल या आदमी के द्वारा गोल दायरे में खींचे जाने की जगह पुर्जे लगाकर एक इलेक्ट्रिक मोटर से जोड़ दिया गया था। इस तरीके से पांच स्त्रियां पूरे समय काम करके 7,000 से भी ज्यादा गृहस्थी के लिए पिसाई कर लेती थीं। इसके पहले, जब पिसाई एक-एक घर में एक-एक स्त्री द्वारा की जाती थी तो काम में हजारों घण्टे लगते थे।

सामुदायिक रसोईघर और पालना घर जैसी सामाजिक सेवाएं स्त्री और पुरुषों के बीच गैरबराबरी को कम करने का एक महत्वपूर्ण जरिया थी। उदाहरण के लिए उन जगहों पर भी, जहां ''समान काम के लिए समान वेतन'' था,

माओ के क्रान्तिकारी चीन में जब फैक्टरी की एक नौजवान महिला कामगार से पूछा गया कि, ''अपने बच्चों के लिए तुम क्या चाहती हो?'' तो उसका उत्तर था—''मैं चाहती हूं कि हमारे देश में वे क्रान्ति के लक्ष्य को आगे बढ़ायें और विश्व क्रान्ति के निर्माण के काम में मददगार बनें। मैं चाहती हूं कि मेरी बेटियां एक स्त्री के रूप में आधे आसमान को अपनी मुट्ठी में ले सकें। मेरी इच्छा है कि मेरा परिवार स्वार्थपरता के सभी रूपों को छोड़ दे और हमारी समस्त ऊर्जा को समाजवादी क्रान्ति को आगे बढ़ाने में लगा दे। अपने पारिवारिक समूहों में हम व्यक्ति और परिवार के बारे में समाज के साथ उसके सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में सोचना सीखते हैं। हम मौत और शारीरिक कष्टों से भयभीत न होना और अतीत को विस्मृत न करना सीखते हैं और यह सीखते हैं कि सर्वहारा के अधिनायकत्व की हिफाजत को पल भर के लिए भी न भूला जा सके।''

''परन्तु परिवारों में नये और पुराने के बीच संघर्ष चल रहा है परिवार में हर किसी का एक जैसा विचार नहीं होता। बहुधा अन्तरविरोध उठ खड़े होते हैं, जिनका समाधान जरूरी होता है और वहां भी हमें संशोधनवाद की आलोचना और खुदगर्जी के खिलाफ संघर्ष करना पड़ता है। अध्यक्ष माओ ने हमें बताया है कि चाहे जितनी भी बातें कही जायें या जो कुछ भी किया जाये विश्व में दो ही अवधारणाएं होती हैं, सर्वहारा की और बुर्जुआ की। यही परिवार में भी होता है। जो बहस हम चलाते हैं वह परिवार की धारणाओं को बदलने में सहायक होता है और इससे सर्वहारा दृष्टिकोण की विजय होगी।''

वस्तुतः गैरबराबरी मौजूद थी। लोगों की जरूरतें भिन्न-भिन्न थीं। अकेले रहने वाले एक पुरुष की जरूरतें तीन बच्चों सहित अकेली रहने वाली एक स्त्री के मुकाबले कम थीं। परन्तु सरकार द्वारा निःशुल्क या कम दाम पर उपलब्ध करायी जाने वाली सेवाएं इस गैरबराबरी को दूर करने में मददगार होती थीं। पीकिङ में एक स्थानीय कमेटी ने एक ऐसा सेवा केन्द्र संगठित किया जिसमें सौ से भी अधिक तरह की सेवाएं मुहैया करायी जाती थीं—सिलाई से लेकर रेडियो की मरम्मत करने और जूतों की मरम्मत करने से लगायत बांस की टट्टी बनाने और कपड़े धोने तक। ये ज्यादातर ऐसी चीजें थीं जिन्हें पहले स्त्रियां घर में करती थीं।

उत्पादन में नये सम्बन्ध

1960 के दशक तक आते-आते भी, बहुतेरी स्त्रियां मुख्यतः घर में ही सिमटी हुई थीं। समुदायों और कार्य स्थलों के व्यापक जीवन और वहां चलने वाले संघर्षों से उन्हें अलग-अलग रखा गया था। इस समस्या को हल करने के लिए शहरों की स्त्रियों ने छोटे-छोटे ''नुक्कड़ कारखाने'' स्थापित किये जिसमें स्त्रियां अंशकालिक तौर पर काम कर सकती थीं और काम पर अपने बच्चों को साथ ला सकती थीं जहां उनकी देखभाल की जाती थी। इनमें से कई छोटी फैक्टरियों ने सामूहिक स्वामित्व वाली और सामूहिक रूप से संचालित होने वाली बड़ी फैक्टरियों का स्वरूप ग्रहण कर लिया जिसमें सैकड़ों मजदूर काम करने लगे थे और जहां तमाम तरह की चीजों का उत्पादन होने लगा था।

पीकिङ में 400 से अधिक नुक्कड़ फैक्टरियों और 2,900 नुक्कड़ उत्पादन इकाइयों को चलाने में 180,000 स्त्रियां लगी हुई थी। यह महिलाएं पारिस्थितिकीय समस्याओं पर भी ध्यान देती थीं। फैक्टरियों से निकले कचरे और अन्य बेकार की चीजों को उपयोगी बनाया जाता था। उदाहरण के लिए चमड़े के बचे हुए टुकड़ों से बेल्ट बनाया जाता था, चूना पत्थर से कैल्शियम कार्बोनेट और अन्य बची हुई चीजों का इस्तेमाल बक्सुआ, चाबी, जूतों का फीता और कमानी (स्प्रिंग) बनाने में होता था।

फैक्टरियों में इस बात का ध्यान रखते हुए उपाय किये गये कि स्त्रियों की विशेष जरूरतों को सुनिश्चित किया जा सके। उन्हें अपेक्षतया हल्के काम दे दिये गये। किन्तु इसके बदले में उनके वेतन में कोई कमी नहीं की गई। संतति—निरोध और गर्भपात की सुविधा उपलब्ध करायी गयी। मासिक धर्म के दौरान, गर्भावस्था व बच्चे के जन्म के बाद के दिनों में स्त्रियों को वेतन सहित अतिरिक्त अवकाश दिया गया। गर्भवती महिलाओं को हल्के काम दिये गये और नियमित निःशुल्क स्वास्थ्य परीक्षण की सुविधा दी गयी। उन्हें प्रतिदिन विश्राम का एक अतिरिक्त घंटा और पूरे वेतन के साथ प्रसूति अवकाश मिला। स्तनपान कराने वाली मांओं को अपने शिशुओं को दूध पिलाने के लिए दिन में दो बार छुट्टी मिलती थी। और जब वे अपने नये जन्मे बच्चे की देखभाल करने जातीं तो दूसरी कामगार स्त्रियां मशीनों की देखभाल करने के लिए उनकी जगह आ खड़ी होती थीं। लोगों ने वेतन प्रणाली की ऐसी बहुतेरी चीजों से छुटकारा पा लिया जो विभेद और असमानताएं बढ़ाने वाली थीं। इसमें स्त्रियों और पुरुषों के बीच वेतन की गैरबराबरी और फर्क भी शामिल था। उदाहरण के लिए, बहुत सी फैक्टरियों ने बोनस और भौतिक प्रोत्साहन (अधिक और बेहतर कार्य के लिए मजदूरों को अधिक वेतन की अदायगी) देना बन्द कर दिया। यह व्यवस्था पुरुषों का पक्षपोषण करती थी जो अधिक ताकतवर और ओवर टाइम करने के लिए अधिक स्वतंत्र होते थे। और यद्यपि वेतन में असमानता अभी भी मौजूद थी, लेकिन, ''सबसे निचले हिस्सों को ऊपर लाने'' के वृहत्तर प्रयास किये जा रहे थे। निम्नतम मजदूरी वाले कामों में लगे हुए मजदूरों की, जहां स्त्रियों का बहुतायत अभी तक संकेन्द्रित था, मजदूरी और अन्य सुविधाएं बढ़ाई जा रही थीं।

इन तमाम चीजों में, स्त्रियों को क्रान्ति में नेतृत्वकारी भूमिकाओं में सामने लाया गया। औरतों को वास्तविक रूप से मुक्त होने के लिए उन्हें सिर्फ उन्हीं चीजों का ही नहीं , जो संकीर्ण रूप से परिवार, बच्चे और गृहस्थी के साथ जुड़ी होती हैं, बल्कि जीवन के प्रत्येक हिस्से के क्रान्तिकारीकरण में भागीदारी निभानी थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने स्त्रियों के मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के अध्ययन और विचार-विमर्श के लिए विशेष टोलियां बनायी। और कई बार इसका यह अर्थ होता कि औरतों को पढ़ना सिखाने के साथ-साथ उनकी राजनीतिक पढ़ाई भी होती रहती थी। ये टोलियां उन तमाम बाधाओं से निपटने में स्त्रियों की सहायता करतीं जो उन्हें राजनीतिक रूप से सक्रिय होने से रोक रही थीं। जैसे, टोलियां इस बात का पक्का इन्तजाम करतीं कि उनके बच्चों की देखभाल हो सके जिससे स्त्रियां मीटिंगों में जा सकें।

वह कौन-सी चीज थी जिसने उन तमाम स्त्रियों को प्रेरित किया था जो हजारों वर्षों की रूढ़ियों के बन्धनों के खिलाफ उठ खड़ी हुई थी? 1970 की शुरुआत में चीन की एक क्रान्तिकारी महिला ने कहा था, ''पहले-पहल जब हमने काम करना शुरू किया तो हमारी सैद्धान्तिक समझ का स्तर बहुत उन्नत नहीं था। हममें से कई सिर्फ इसलिए काम कर रही थीं कि और पैसा कमा सकें। फिर हम समझने लगीं कि हमारे काम समाजवाद के निर्माण के जरूरी हिस्से थे। परन्तु वास्तव में इसके बारे में हमारी कोई मुकम्मिल समझदारी नहीं बनी थी। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान हमने साथ-साथ अध्ययन किया। हमने माओ द्वारा लिखित रचनाएं—खासकर ''जनता की सेवा करो'' पढ़ीं। हमने जाना कि हमारे समस्त कार्य चाहे वे बड़े हों या छोटे, जनता की सेवा कर रहे थे। सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने के बाद हमने अपने वर्तमान कामों को विश्व क्रान्ति से जोड़ा... हमारी आंखों के सामने पूरा विश्व है लिहाजा हम क्रान्ति मार्ग को—कभी नहीं छोड़ेंगे।''

.....

1976 में माओ नहीं रहे और पार्टी के भीतर के उनके शत्रुओं ने, जो पूंजीवाद की पुनर्स्थापना चाहते थे, सैनिक तख्तापलट कर सत्ता पर कब्जा जमा लिया। सर्वहारा शासन और समाजवाद को उलट दिया गया और पूंजीवाद को फिर से बहाल किया गया। वर्गीय समाज के समस्त पुराने घृणित और उत्पीड़नकारी रंग-ढंग अपनी पूरी ताकत के साथ आज चीन में मौजूद हैं, विशेषकर स्त्रियों का उत्पीड़न। एक बार पुनः चीन में सामन्ती परम्पराएं ताकतवर हुई हैं और सौन्दर्य प्रतियोगिता समारोहों तथा शल्य क्रिया के जरिए कृत्रिम वक्ष उभार पैदा करने जैसी चीजों के साथ-साथ वेश्यावृत्ति और बलात्कार की वापसी हुई है।

परन्तु क्रान्ति के बारे में माओ का सिद्धान्त और व्यवहार स्त्रियों की मुक्ति के लिए आगे की राह दिखाता है। यह बताता है कि किस प्रकार औरतों का उत्पीड़न समाज में वर्गों के विभाजन एवं निजी सम्पत्ति व्यवस्था से बुनियादी रूप से जुड़ा हुआ है। यह बताता है कि कैसे जब जनता के हाथ में सत्ता की बागडोर आती है तो वह उन तमाम चीजों को जड़ से उखाड़ फेंकती है जो समाज में गैरबराबरी पैदा करते हैं। यह दिखाता है कि कैसे औरतों के उत्पीड़न से छुटकारा पाना सभी तरह के उत्पीड़न से मुक्ति पाने के व्यापक संघर्ष का एक जरूरी और महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। और यह दिखाता है कि किस प्रकार सिर्फ माओवादी क्रान्ति स्त्रियों को मुक्त कर सकती है।

(रिवोल्यूशनरी वर्कर से साभार)

अनुवाद : मीनाक्षी

टिप्पणियां

सी.आई.आई. द्वारा ''कमजोर'' बैंकों को बन्द करने व अन्य का निजीकरण करने की सिफारिश

सरकारी साये में कारपोरेट चोरों की सीनाजोरी

''उदारीकरण'' का दौर शुरू होने के बाद देश के आर्थिक-राजनीतिक नीति-निर्धारण में पूंजीशाहों की खुल्लमखुल्ला भूमिका अब एक जानी-पहचानी चीज बन चुकी है। आये दिन इसकी नयी-नयी मिसालें सामने आ रही हैं। पिछले दिनों देश के उद्योगपतियों की एक शीर्षसंस्था भारतीय उद्योग परिसंघ (Confederation of Indian Industries) द्वारा तथाकथित कमजोर बैंकों को बन्द करने व कई का निजीकरण करने की सिफारिश करना इसी कड़ी में एक नयी मिसाल है। हालांकि, बैंककर्मियो के देशव्यापी जबर्दस्त विरोध के बाद सी.आई.आई. ने क्षमायाचना सहित तीन बैंकों को बन्द करने की सिफारिश वापस ले ली है, लेकिन बैंकिंग उद्योग के पुनर्गठन के नाम पर निजीकरण करने सम्बन्धी शेष सिफारिशों को यथाशीघ्र लागू करवाने पर वह अडिग है।

सी.आई.आई. ने विगत तेरह दिसम्बर को गाजे-बाजे के साथ वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा को बैंकों की गैर-निष्पादित परिसम्पत्तियों (Non-Performing Assets, NPA) के बारे में गठित एक विशेष कार्यदल की 26 सूत्रीय सिफारिशों वाली रिपोर्ट सौंपी थीं। वित्त मंत्री महोदय ने अतिशय सम्मान के भाव से रिपोर्ट का पुलिन्दा ग्रहण किया और सरकारी-गैरसरकारी मीडिया ने काफी प्रमुखता से इस खबर को प्रसारित-प्रकाशित किया। सिफारिश में प्रमुख रूप से तीन ''लाइलाज'' बैंकों—इण्डियन बैंक, यूको बैंक व युनाइटेड बैंक को बन्द करने और पहली किश्त में चार मजबूत बैंकों—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, कारपोरेशन बैंक, ओरियण्टल बैंक आफ कॉमर्स तथा बैंक आफ बड़ौदा का निजीकरण करना शामिल है। अगली किश्त में 'इंडस्ट्रियल डेवलपमेण्ट बैंक आफ इण्डिया' (IDBI), 'इण्डस्ट्रियल फाइनेंस एण्ड कारपोरेशन आफ इण्डिया' (IFCI) 'स्माल इण्डस्ट्रीज डेवलपमेण्ट बैंक आफ इण्डिया' (SIDBI) तथा 'एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट बैंक आफ इण्डिया' का निजीकरण शामिल हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण सिफारिश बैंकिंग सम्बन्धी कानूनों में फेरबदल करने के बारे में है।

सी.आई.आई. ने तीन ''कमजोर'' बैंकों को बन्द करने की सिफारिश करते हुए अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि इन बैंकों को पूंजी लगाकर पुनर्गठित करने का कोई भी प्रयास ''आक्सीजन के सहारे जिन्दा रखने के समान होगा। इससे समस्या हल नहीं होगी और यह वित्तीय रूप से बदहाल राजकोष में परेशानहाल करदाताओं द्वारा दिये जा रहे धन को सोखता रहेगा।'' रिपोर्ट के अनुसार, तीनों बैंक बैंकिंग के किसी भी मानदण्ड के लिहाज से असुधरणीय हैं। इसलिए, उसने सिफारिश की कि तीन चरणों में इन्हें बन्द करने की प्रक्रिया पूरी कर ली जाये। जमाराशियों को ''अच्छे'' बैंकों में हस्तान्तरित कर दिया जाये, हस्तान्तरण की अवधि में जरूरी दस-पन्द्रह प्रतिशत कर्मचारियों को छोड़कर शेष को जरूरी भुगतान कर छुट्टी कर दिया जाये और अन्तिम चरण में सभी कर्मचारियों से पिण्ड छुड़ाकर बैंकों की परिसम्पत्तियों को बेच दिया जाये।

भोजपुरी में एक कहावत है ''जबर चोर सेन्हिए में गावै'' (ढीठ चोर सेंध में घुसकर भी गाता है)। यानी, चोरी भी सीनाजोरी भी। बैंकों में जमा आम जमाकर्ताओं की गाढ़ी कमाई के धन को निचोड़कर कंगाल बना देने वाले कारपोरेट जगत के लुटेरे भारी परिमाण में बकाये की रकम को वापस करने के बजाय बैंकों को ही ''कमजोर'' घोषित कर लाखों बैंककर्मियों और उनके परिवारों की आजीविका भी छीन लेना चाहते हैं और समूचे बैंकिंग उद्योग को अपनी मुट्ठी में जकड़ लेना चाहते हैं।

बैंकिंग उद्योग का असली संकट क्या है?

बैंकिंग उद्योग के असली संकट—भारी परिमाण में गैर-निष्पादित परिसम्पत्तियों (बैंकिंग की भाषा में बकाया राशियों को कहते हैं, जिन्हें कर्जदार निर्धारित समय में वापस नहीं करते) के असली जिम्मेदार खुद कारपोरेट जगत के लुटेरे हैं। अखिल भारतीय बैंक अधिकारी परिसंघ के महासचिव शान्तिरंजन सेनगुप्ता द्वारा दिये गये एक आंकड़े के अनुसार बैंकों में जमा कुल राशियों का 78 प्रतिशत आम जमाकर्ताओं द्वारा प्राप्त होता है। औद्योगिक घराने सिर्फ 6 प्रतिशत योगदान करते हैं और शेष 16 प्रतिशत वित्तीय संस्थाओं व अन्य स्रोतों से जमा होता है। कारपोरेट घरानों पर बकाये की राशि पर नजर डाली जाये तो असलियत सामने आ जाती है कि जनता की गाढ़ी कमाई की कितनी जबर्दस्त लूट होती है।

विगत नवम्बर माह में बैंकों के ''पुनर्गठन'' सम्बन्धी वर्मा आयोग की रिपोर्ट में सभी बैंकों के कुल एन.पी.ए. (बकाये) की राशि 50,000 करोड़ रुपये आंकी गयी थी। लोकसभा के विगत सत्र में अन्ना द्रमुक के एक सांसद तक ने (टी.एम.सल्वाज्ञापंथी) यह रहस्योद्घाटन किया था कि अकेले देश के पूंजीपति घरानों पर कुल बकाये की राशि 45,000 करोड़ रुपये के बराबर है। यदि यह अतिरंजित अनुमान हो, तो भी अन्य स्रोतों से प्राप्त आंकड़े इसी से मिलती-जुलती तस्वीर खड़ी करते हैं। अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी महासंघ (ए.आई.बी.ई.ए.) द्वारा सी.आई.आई. की सिफारिशों के जवाब में जारी एक प्रेस विज्ञप्ति के अनुसार कुल 58,000 करोड़ रुपये के ''खराब कर्जों'' में निजी क्षेत्र के पूंजीपतियों पर लगभग 30,000 करोड़ रुपये बकाया है और मोटे तौर पर सिर्फ सी.आई.आई. के सदस्यों पर ही 25,000 करोड़ रुपये बकाया है।

कुछ अन्य बैंकिंग सूत्रों के अनुसार भी कुल बकायेदारों की संख्या हजारों में चाहे हो, लेकिन बकाया राशियों का बड़ा हिस्सा मुट्ठी भर पूंजीपतियों के हिस्से है। इण्डियन बैंक का ही उदाहरण लें। कुल बकाया राशि का एक-तिहाई 15 बड़े बकायेदारों (औद्योगिक घरानों) के जिम्मे है। सेण्ट्रल बैंक में एक करोड़ रुपये से अधिक राशि के कुल 234 बकायेदारों की कुल राशि 2,190 करोड़ रुपये के बराबर है, जबकि मार्च 1999 तक बैंक की कुल बकाया राशि ही 2,436 करोड़ रुपये थी। एक अन्य आंकड़े के अनुसार सबसे बड़े सिर्फ

बीस बकायेदार बैंकों के कुल बकाये के लगभग पांचवें हिस्से को हड़प कर बैठे हैं।

ऊपर के कुछ आंकड़ों से ही तस्वीर एकदम साफ है। बैंकों में जमा धन को खुद सोख लेने वाले पूंजीशाह ''परेशानहाल करदाताओं'' के धन को बैंकों द्वारा सोख लिये जाने पर घड़ियाली आंसू बहा रहे हैं। सी.आई.आई. के पूंजीपतियों की इस हेंकड़ी के बारे में एक शीर्ष बैंक अधिकारी ने इन शब्दों में बयान किया : ''आजकल कुछ तथाकथित डाक्टर भांति-भांति के नुस्खे लेकर दृश्य पर उपस्थित हो गये हैं। दुर्भाग्यवश, ये स्वयंभू चिकित्सक अपने पेशे की जरूरत के अनुसार काम करने के बजाय—बीमार व्यक्ति का सही ढंग से इलाज करने के बजाय—कुछ इस तरह से सर्जरी करने की सिफारिश कर रहे हैं जैसे सिरदर्द का सर्वोत्तम इलाज है सिर ही काट लेना।'' इस तरह की नसीहत देने के बजाय ''सी.आई.आई. को बैंक कर्ज के अपने बकायेदारों की सदस्यता निरस्त कर देनी चाहिए।'' (फ्रंटलाइन, 20 जनवरी 2000)।

दरअसल, बैंकों का कर्ज (यानी, आम जनता का पैसा) हड़प कर जाने के लिए बैंकिंग सम्बन्धी कानून रास्ता साफ करते हैं। 1948 से चले आ रहे बैंकिंग कानून इन कारपोरेट घरानों से कर्ज वसूली करने के लिए नाकाफी हैं। बैंक कर्मियों की विभिन्न यूनियनें इन कानूनों को बदलने के लिए समय-समय पर आवाज उठाती रही हैं। अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी महासंघ के महासचिव तारकेश्वर चक्रवर्ती बैंक कानूनों की अक्षमता के बारे में इन शब्दों में बयान करते हैं : ''कानून, इन उद्यमियों को, जिनकी खुद की पूंजी का हिस्सा चालू की गयी कम्पनी में बहुत थोड़ा होता है, वे सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं से कर्जे लेते हैं, इस बात की इजाजत देता है कि इसके पहले कि वे अपनी पूंजी निकालकर कोई दूसरा व्यवसाय शुरू करें कम्पनी को पूरी तरह निचोड़ डालें। इसके बाद यही प्रक्रिया वे फिर दुहराते हैं।'' इसके मद्देनजर, यूनियनें यह सिफारिश करती रही हैं कि दस लाख रुपये से अधिक राशि के बकायेदारों की सूची प्रकाशित की जाये, जानबूझकर कर्ज वापस न करने को आपराधिक कृत्य घोषित किया जाये, बकायेदार कम्पनियों और उनके निदेशकों की परिसम्पत्तियों को जब्त करने के लिए कानून बनाया जाये और बकायेदारों को अपनी परिसम्पत्तियों को बेचने एवं अन्य बैंकों से ऋण लेने से रोका जाये। लेकिन, इन सिफारिशों पर भला सरकारें क्यों कान देतीं। सरकारें कालिदास जितनी मूर्ख तो हैं नहीं कि जिस डाल पर बैठी हैं उसी को काट डालेंगी।

कारपोरेट जगत के बड़े बकायेदारों पर बैंक, जब मौजूदा कानूनों की सीमाओं में ही, कोई कार्रवाई करने की शुरुआत भी करते हैं तो सरकार में बैठे उनके राजनीतिक मैनेजर अपने प्रभावों का इस्तेमाल कर तरह-तरह की अड़ंगेबाजी करते हैं। इतना ही नहीं, सरकारें और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया प्रत्यक्षत: उनकी मदद में आ खड़े होते हैं। बिचौलिया बनकर पूंजीपतियों के साथ बैंकों का समझौता कराते हैं, जिसमें कर्जों की बड़ी राशि सीधे-सीधे माफ कर दी जाती है। एक तरफ आम जमाकर्ताओं का पैसा हड़पने वाले बड़े पूंजीपतियों की यह तरफदारी है तो इसके ठीक उल्टे छोटे बकायेदारों की चौखट और बर्तन-भांडे तक नीलाम कर दिये जाते हैं। पूंजीवाद जनवाद में ''बराबरी'' का यह असली अमली रूप है।

इसलिए, सी.आई.आई. के कार्यदल की हेंकड़ी भरी सिफारिश अनायास नहीं है। सरकारी वरदहस्त के बिना न वे सिफारिशें देते और न ही यशवन्त सिन्हा इस अनाधिकारिक रिपोर्ट को सन्तोषी माता के प्रसाद की तरह भक्तिभाव से ग्रहण करते। ''अच्छे बैंकों'' का निजीकरण कर देने और बैंकिंग कानूनों में फेरबदल करने सम्बन्धी सिफारिशों के पीछे की मंशा बिल्कुल साफ है—जनता के पैसे को बेरोकटोक लूटने का अधिकार प्राप्त करना, जो उदारीकरण के दौर का मूलमंत्र है। बैंकिंग कानूनों में सुधार की मांगें जब यूनियनें उठा रही थीं, तब ''परेशानहाल करदाताओं'' के धन के प्रति इन कारपोरेट लुटेरों की चिन्ता नहीं जागी थी, क्योंकि उन्हें खुद ही सार्वजनिक सम्पत्ति को हड़पना था। अब जब बैंकों को अपने हाथों में लेकर चलाने की फिराक में हैं तो उन्हें बकाये की वसूली की फिक्र सताने लगी है। इस फिक्रमंदी पर, कहना न होगा, कि सरकार भी पसीज ही जायेगी।

बैंककर्मियों का राष्ट्रव्यापी विरोध और सी.आई.आई. का पीछे हटना

सी.आई.आई. के कार्यदल के प्रमुख एम. वी. कामथ (अध्यक्ष, आई.सी.आई.सी.) द्वारा तेरह दिसम्बर को यशवन्त सिन्हा को अपनी रिपोर्ट सौंपने के अगले ही दिन 'आल इण्डिया बैंक इम्प्लाइज एसोसियेशन' एवं 'बैंक इम्प्लाइज फेडरेशन' के आह्वान पर बैंककर्मियों ने देशव्यापी पैमाने पर शानदार विरोध आयोजित किया। बैंक अधिकारियों की एसोसियेशनों ने भी अस्तित्व की लड़ाई मानकर बैंककर्मियों का साथ दिया। उन्होंने धमकी दी कि यदि सी.आई.आई. बैंकों को बन्द करने और निजीकरण करने, छंटनी करने की सिफारिश वापस नहीं लेता तो वे बैंकों की गोपनीयता सम्बन्धी कानूनों का उल्लंघन कर कारपोरेट जगत के बकायेदारों (जिनमें सी.आई.आई. के सदस्यों की अच्छी-खासी संख्या है) की सूची सार्वजनिक कर देंगे। इस देशव्यापी प्रतिक्रिया से हेंकड़ेबाजों की अक्ल तुरन्त ठिकाने आ गयी और उन्होंने बैंककर्मियों की ''भावनाओं को समझते हुए'' (या अपनी थुक्का-फजीहत के भय से!) तीन बैंकों को बन्द करने की सिफारिश तुरत-फुरत वापस ले ली। 'फिक्की' 'एसोचैम' एवं 'पी.एच.डी. चैम्बर्स आफ कामर्स' जैसी अन्य संस्थाओं के पूंजीपति भी सहम गये और सी.आई.आई. के ''अतिवादी'' कदम की खुलेआम आलोचना कर अपनी चोरी के बेनकाब हो जाने से बचने की जुगत में लग गये। लेकिन, वे बैंकों का निजीकरण करने और कानूनों में उनके फायदों के मुताबिक फेरबदल करने सम्बन्धी अन्य सिफारिशों पर अडिग हैं। दरअसल, सी.आई.आई. के इस ''अतिउत्साही'' कदम की इतनी ''खातरनाक'' प्रतिक्रिया से फिलहाल फूंक-फूंक कर और होशियारीपूर्वक कदम उठाने में ही सभी पूंजीपति अपनी भलाई देख रहे हैं। लेकिन, वे चुप बैठने वाले नहीं हैं। वे बस, पैंतरा बदलकर दूसरे चतुराई भरे 'पैकेज' तैयार करने में जुटे हुए हैं।

गम्भीर विरोध की व्यापक रणनीति की जरूरत :

सी.आई.आई. द्वारा तीन बैंकों को बन्द करने की सिफारिश वापस ले लेने से बैंक कर्मियों को गरदन पर लटकती तलवार से फौरी राहत तो मिल गई, लेकिन खतरा बरकरार है। हां, एक बात जो इस प्रकरण में बेहद महत्वपूर्ण है, गौर करने लायक है कि बैंक कर्मियों के संगठित विरोध ने और कारपोरेट घरानों को 'एक्सपोज' करने की धमकी ने एकबारगी तो महाप्रभुओं को हिला कर रख दिया, इससे यह स्पष्ट है कि संगठित ताकत की इस ऊष्मा के साथ यदि ट्रेड यूनियन नेतृत्व ने एक सही दिशा में दीर्घकालिक संघर्षों की रूपरेखा तय की होती तो निश्चित तौर पर सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की यह दुर्गति नहीं हुई होती।

इससे भी बढ़कर यह कि यदि बैंक,

बीमा एवं अन्य प्रभावित क्षेत्र के कर्मचारियों को एकजुट कर आगे बढ़ा जाता तो आज फिजां कुछ और होती। जरा सोचिए बैंक, बीमा, बिजली, डाकतार, दूरसंचार रेलवे से लेकर तमाम क्षेत्र के मजदूरों-कर्मचारियों की आज एक ही लड़ाई बनती है। लेकिन वे बंटे-बिखरे हैं। उनके जो आन्दोलन खड़े भी हुए तो ट्रेड यूनियन नेतृत्व के विश्वासघात से गड्ढे में जा गिरे। क्या मजदूरों-कर्मचारियों की संगठित शक्ति को इस कदर खण्ड-खण्ड में तोड़ देने के लिए पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन का वह नेतृत्व दोषी नहीं है, जो खुद इस या उस पूंजीवादी या सुधारवादी या कथित वामपंथी पार्टी के साथ नत्थी है और अलग-अलग यूनियनों में विभाजित मजदूरों-कर्मचारियों को भी उनका बंधुआ बना रखा है? क्या यह सच नहीं है कि लगातार महज वेतन-वृद्धि और सहूलियतों की अपनी-अपनी लड़ाई अलग-अलग लड़ते-लड़ते अलग-अलग क्षेत्रों के मजदूर एक दूसरे से अलग हो गये हैं। 'मजदूर एकता' और इंकलाब जिन्दाबाद' के नारे उनके लिए रस्मी बनकर रह गये हैं, राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ना वे भूल चुके हैं। इस मौके पर बैंक कर्मियों को ही नहीं, अपितु तमाम क्षेत्रों के मजदूरों-कर्मचारियों को यह बात गांठ बांधने की है कि उन्हें पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन में क्रान्तिकारी पुनर्जागरण की लहर पैदा करनी होगी तथा चुनावी पार्टियों और पुराने नौकरशाह नेतृत्व से छुटकारा पाकर अपना नया क्रान्तिकारी हरावल दस्ता बनाना होगा, चन्द एक प्रोग्राम लेने तक ही सीमित रहने के बजाय लम्बे संघर्ष का कार्यक्रम तय करना होगा।

हालांकि बैंकिंग क्षेत्र की यूनियनों ने फिलहाल कुछ कार्यक्रम लिये हैं। जैसे 8 फरवरी को देश भर के 70,000 कर्मचारियों द्वारा संसद मार्च का कार्यक्रम तय किया गया है। साथ ही, कन्वेंशनों, रैलियों एवं अन्य तरीकों से विरोध की योजना भी है। लेकिन, अस्तित्व की यह लड़ाई सिर्फ तभी जीती जा सकती है, जब जीतने के लिए लड़ा जाये। बेमन से, अधूरे मन से, लड़ी जाने वाली महज अनुष्ठानधर्मी लड़ाइयों का हश्र सिर्फ हताशा में परिणत होगा। उदारीकरण-निजीकरण के विरोध में बीमाकर्मियों की व अन्य हारी गयी लड़ाइयों का यही सबक है। इसके साथ ही, बैंककर्मियों को अपने अस्तित्व की इस लड़ाई को व्यापक बनाते हुए अन्य संघर्षरत केन्द्र एवं राज्य कर्मियों के संघर्षों से, उदारीकरण-निजीकरण की मार झेल रहे मजदूरों के अन्य तबकों से जोड़ना होगा। और सबसे अहम सवाल, विरोध की दिशा का है—सिर्फ हासिल अधिकारों को बचाने की लड़ाई ही नहीं बल्कि इसे एक सही क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य देना होगा और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी लूट के समूचे तंत्र के विकल्प के रूप में उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व वाले समाजवादी समाज के विकल्प को सामने रखकर आगे बढ़ना होगा।

—अरविन्द सिंह

विश्व व्यापार संगठन की सिएटल बैठक

मुनाफे की विश्वव्यापी होड़ के लिए उठापटक भविष्य के घमासान के साफ संकेत

पिछले वर्ष 30 नवम्बर से 3 दिसम्बर तक अमेरिका के शहर सिएटल में हुई विश्व व्यापार संगठन की मंत्रिस्तरीय बैठक का कुल नतीजा फिलहाल सिफर रहा। 135 सदस्य देशों के व्यापार प्रतिनिधियों के चार दिनी जमावड़े में अपने-अपने व्यापारिक हितों को लेकर इस कदर उठापटक मची कि विवाद के किसी भी बिन्दु पर कोई भी सहमति न बन पायी। बैठक स्थल के बाहर सड़कों पर विभिन्न रंग के प्रदर्शनकारियों ने पहले ही दिन इस बहुप्रतीक्षित बैठक का मजा किरकिरा कर दिया। औपचारिक उद्घाटन सत्र को टाल देना पड़ा। और सभा कक्षों में जो दांवघात और खींचतान मची उसका नतीजा यह हुआ कि परम्परागत रूप से ऐसी बैठकों के अन्त में साझा सहमति के बिन्दुओं पर जारी होने वाला औपचारिक वक्तव्य तक नहीं जारी किया जा सका।

यह सही है कि तीसरी दुनिया के देशों के व्यापार प्रतिनिधियों ने इस बार अपनी पूंजी के हितों की हिफाजत करने के लिए पहले की वार्ताओं के मुकाबले अधिक एकजुटता प्रदर्शित की और अपनी विकसित उत्पादक शक्तियों एवं राजनीतिक धौंसपट्टी के बूते पर विश्व व्यापार की प्रभुत्वशाली चौकड़ी (अमेरिका, यूरोपीय संघ, कनाडा व जापान) द्वारा वार्ता के एक नये दौर की शुरुआत के लिए नया एजेण्डा थोपने की कोशिशें फिलहाल नाकाम रही हैं। खासकर, अमेरिका द्वारा विश्व व्यापार के साथ श्रम एवं पर्यावरण मानकों को जोड़ने की कोशिश कामयाब न हो सकी। लेकिन, बैठक बेनतीजा होने का यही सर्वप्रमुख कारण नहीं था। और न ही सड़कों पर प्रदर्शनकारियों का विरोध ही प्रमुख कारण था।

दरअसल, प्रमुख कारण विश्व व्यापार के चारों चौधरियों के बीच गैट वार्ताओं के दौर से ही चले आ रहे विवाद के मुद्दों का इस बार भी न सुलटना था। इन चार चौधरियों ने सोचा था कि अपने मतभेदों को एक हद तक सुलटाकर वे अपनी एकजुट रणनीति बनाकर वे तीसरी दुनिया के विरोध से निपट लेंगे, लेकिन उनकी मंशा धरी की धरी रह गयी। मेजबान के रूप में बैठक का संचालन कर रही अमेरिकी व्यापार प्रतिनिधि चार्लीन बार्शफस्की ने जब अन्तिम सत्र में यह कहकर बैठक का समापन किया कि हमें मुद्दों को हल करने के लिए कुछ ''मोहलत'' लेने और ''सृजनात्मक तरीके'' खोजने की जरूरत है तो वह यही विवशता व्यक्त कर रही थीं।

चार चौधरियों के बीच विवाद के मुद्दे

अमेरिका, कनाडा यूरोपीय संघ और जापान—इस चौकड़ी के बीच विभिन्न मुद्दों पर भीषण मतभेद मौजूद हैं जो बैठक-दर-बैठक के सिलसिले के बावजूद दूर नहीं हो पा रहे हैं। कृषि पर सब्सिडी खत्म करने का मसला केयर्न्स समूह (जो अमेरिका का सबसे बड़ा कृषि निर्यातक समूह है) और यूरोपीय संघ के देशों के बीच फंसा हुआ है। यूरोपीय संघ के देश अपने कृषि उत्पादकों को अन्तरराष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए सब्सिडी देते हैं। इससे अमेरिका (केयर्न्स समूह) की इजारेदारी को अच्छी खासी चुनौती मिलती है, इसलिए अमेरिका चाहता है कि यूरोपीय संघ के देश यह सब्सिडी बन्द करें। ऐसा वह मुक्त व्यापार की नैतिकता की दुहाई देते हुए करता है। जाहिर है, यूरोपीय संघ के देश यह चाहत पूरी कर अपने देशों की 'फार्मर लॉबी' को नाराज करने का जोखिम उठाने की

स्थिति में कत्तई नहीं हैं। सो, मामला अटका हुआ है। सिएटल में भी नहीं सुलट सका।

अमेरिका और जापान के बीच भी एक मामला लम्बे समय से फंसा हुआ है। अमेरिका जापान को एक निश्चित कोटे का चावल हर हाल में खरीद लेने को बाध्य करना चाहता है। जाहिर है, कि अपनी अर्थव्यवस्था को खतरे में डालकर जापान अतिरिक्त आयात का बोझ भला क्यों सहन करना चाहेगा। यहां भी अमेरिका मुक्त व्यापार की दुहाई देता है और जापान के संरक्षणवादी रवैये की आलोचना करता है। दरअसल, अमेरिकी व्यापार नीति का सूत्रवाक्य है—चित भी मेरी पट भी मेरी। अपनी इस नीति पर चलते हुए वह तीसरी दुनिया के देशों की बांह तो मरोड़ सकता है लेकिन, व्यापार चौगुट के उसके बिरादर उसकी हेंकड़ी को मानने के लिए तैयार नहीं।

ग्राफिक 1 : डब्ल्यू. टी.ओ. से *पहले* और *बाद में* विश्व पैमाने पर निर्यात में तीसरी दुनिया के देशों का अंश

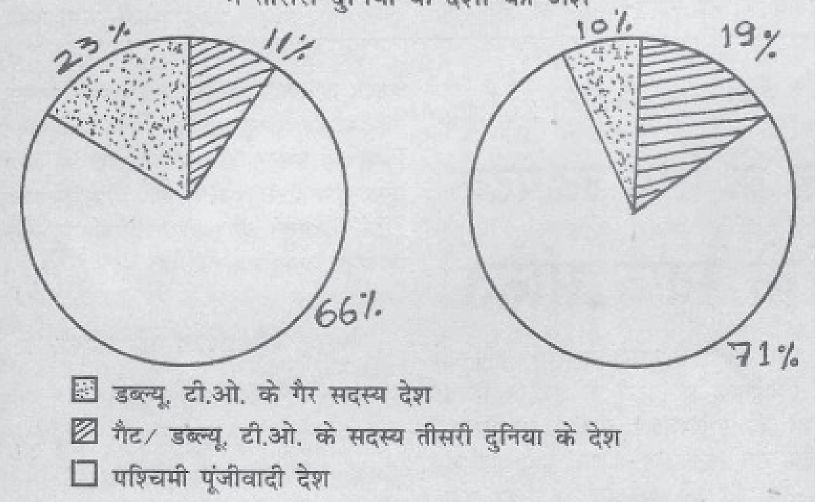

जापान और यूरोपीय संघ अमेरिका के खिलाफ मोर्चा बनाकर उसके खुद के संरक्षणवादी रवैये को मुद्दा बनाते हैं। इनकी हमेशा से यह शिकायत रही है कि मुक्त व्यापार की दुहाई देने वाला अमेरिका खुद अपने देश में बिदेशी आयातों पर विभिन्न किस्म के प्रतिबन्ध लगाकर अपनी पूंजी के हितों को संरक्षित करता है। अपने व्यापार को संरक्षित करने के लिए वह नित नये-नये बहाने ढूंढ़ता रहता है। ऐसा ही एक मुद्दा है अमेरिका के 'एण्टी-डम्पिंग' काननू का। इसके तहत एक निर्धारित मात्रा से अधिक आयात-वस्तुएं अमेरिकी बाजार में ले जाने पर आर्थिक प्रतिबन्धों का प्रावधान है। यूरोपीय संघ और जापान इस कानून के खिलाफ विश्व व्यापार संगठन की विवाद निपटारा समिति के सम्मुख अपना विरोध प्रस्तुत कर चुके हैं। इस मुद्दे पर तीसरी दुनिया के देशों का भी उन्हें समर्थन है। लेकिन अभी तक इसका निपटारा नहीं हो सका है।

अपने-अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए अड़े हुए चौगुट के देश एक-दूसरे को रियायत देने की स्थिति में नहीं है। इसका कारण इन देशों का उत्तरोत्तर असमाधेय होते जा रहे आर्थिक संकटों में है, जो आज ढांचागत संकट का रूप ले चुका है। आज उनकी अर्थव्यवस्थाएं बेहद बारीक सन्तुलनों पर टिकी हुई हैं, इसलिए अपनी-अपनी अवस्थितियों से डिगना उनके लिए मरणान्तक साबित हो सकता है। अपने बीच के विवादों को न सुलटा पाने के कारण वे सिएटल में अपने उस चिरपरिचित हथकण्डे—अपने संकटों का बोझ तीसरी दुनिया के ऊपर लाद देना—को कारगर ढंग से लागू नहीं कर सके। इन्हीं हथकण्डों में से एक था—विश्व व्यापार के साथ श्रम एवं पर्यावरण मानकों को जोड़ने की बात उठाना।

विश्व व्यापार का चेहरा ''मानवीय'' बनाने की अमेरिकी चिन्ता और तीसरी दुनिया के शासकों का विरोध

सिएटल में अपने विशेष भाषण में अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने विश्व व्यापार के चेहरे को ''मानवीय'' बनाने के लिए और भूमण्डलीय पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति बेहद भावुक अन्दाज में चिन्ताएं प्रकट कीं। इस पर सहमति चौगुट के सभी देशों की थी, लेकिन मुखरता से क्लिण्टन और उनके व्यापार प्रतिनिधियों ने ही इसे व्यक्त किया। क्लिण्टन ने तीसरी दुनिया के देशों में बाल श्रम के शोषण और आम तौर पर श्रमिकों के शोषण और पर्यावरण के विनाश के प्रति भावुकता में पगा भाषण दिया और बड़े नाटकीय अन्दाज में अगले दिन बाल श्रम सहित ''जघन्यतम किस्म के बाल अत्याचारों'' पर रोक लगाने सम्बन्धी एक अन्तरराष्ट्रीय सन्धि पर हस्ताक्षर किये। कहने की जरूरत नहीं कि यह ताजातरीन अमेरिकी चिन्ता ''जनतंत्र की रक्षा'' एवं ''मानवाधिकारों की रक्षा'' के प्रति उसकी पुरानी चिन्ताओं से बिल्कुल भिन्न नहीं है। इन चिन्ताओं के अमली रूपों को अभी हाल-फिलहाल पूरी दुनिया की जनता इराक और यूगोस्लाविया में देख चुकी है। अधिक पुरानी चीजों को याद किये बगैर कोई भी यह जान सकता है कि इन चिन्ताओं की प्रेरक शक्ति क्या हो सकती है खालिस अमेरिकी आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थ। न इससे अधिक, न इससे कम।

इन नयी चिन्ताओं के पीछे एक तो भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया शुरू होने के बाद तीसरी दुनिया के निर्यातकों द्वारा कुछेक उत्पादों—जैसे वस्त्रोद्योग, चमड़ा उद्योग आदि—के क्षेत्रों में अमेरिकी बाजारों में पहुंच बढ़ाना है, जिससे इन उत्पादों से सम्बन्धित अमेरिकी उद्योग परेशानी महसूस कर रहे हैं। तीसरी दुनिया के शासकों ने विश्व व्यापार संगठन के समझौतों से पश्चिमी बाजारों में घुसपैठ बनाने की सम्भावनाओं का लाभ उठाने के लिए घरेलू निर्यातकों को विभिन्न तरह की रियायतें दी हैं। इनमें बालश्रम से आंखे फेर लेना, श्रम कानूनों के क्रियान्वयन सम्बन्धी छूटों सहित अनेक रियायतें शामिल हैं। इसका फायदा उठाकर इन देशों के निर्यातक उत्पादों की लागत काफी कम करने और पश्चिमी बाजारों में पहुंच बनाने में एक हद तक सफल हुए हैं। हालांकि, इसके बावजूद अब भी विश्व व्यापार में तीसरी दुनिया के समूचे निर्यात का हिस्सा नगण्य ही है (देखें ग्राफिक—1)। लेकिन, विश्व व्यापार के चौधरियों, खासकर अमेरिका को इतना भी नहीं सुहा रहा है। सो, अचानक तीसरी दुनिया में बाल श्रम, कम मजदूरी, औद्योगिक सुरक्षा उपायों, मानव विकास सुविधाओं और पर्यावरण सुरक्षा के प्रति वे द्रवित हो उठे हैं।

(शेष पृष्ठ 66 पर)

बहुराष्ट्रीय निगम और प्रभुत्वशाली व्यापारिक समूह विश्व व्यापार को प्रत्यक्षतः निर्देशित कर रहे हैं

पूंजीवादी व्यवस्था में सरकारों की हैसियत पूंजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी से अधिक नही होतीं। इस सच्चाई पर विश्व पूंजीवाद के ''लोककल्याणवाद'' के दौर में जो झीना सा पर्दा पड़ गया था, वह आज भूमण्डलीकरण के नये दौर में उड़ गया है। सच्चाई फिर सामने आ गयी है, पहले से अधिक नंगे रूप में। विश्व व्यापार संगठन की सिएटल बैठक के दौरान व्यापार और सरकार का असली रिश्ता खुल्लमखुल्ला दिखा।

सिएटल की मंत्रिस्तरीय बैठक की मेजबानी के लिए बने 'सिएटल मेजबान संगठन (Seatle Host Organisation, SHO) के अध्यक्ष मण्डल में अपने-अपने क्षेत्रों की दो दिग्गज कम्पनियों— 'माइक्रोसाफ्ट' और 'बोइंग' के मुखिया शामिल थे। बैठक की तैयारी के दौरान एस. एच.ओ. ने लुभावने प्रस्तावों के साथ प्रायोजकों को आमंत्रित किया। इन प्रस्तावों में कहा गया था कि मंत्रिस्तरीय बैठक के दौरान निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों के लिए विशेष रूप से आयोजित कार्यक्रमों में शिरकत सुनिश्चित होगी तथा एस.एच.ओ. यदि जरूरी समझेगा तो औपचारिक सत्रों में भी क्षेत्र विशेष के उद्योग प्रतिनिधि को मुख्य वक्ता बनाने का प्रयास करेगा—इन कार्यक्रमों का मकसद होगा उद्योग जगत, विशेषज्ञों और सरकारों के प्रतिनिधियों से मेलजोल बढ़ाना। सहयोगदाताओं को मंत्रियों के साथ रात्रिभोज में शामिल होने व औपचारिक उद्घाटन एवं समापन सत्रों में भागीदारी का अवसर प्रदान करने का लालच भी दिया गया था।

इस प्रस्ताव को भरपूर समर्थन मिला। एस.एच.ओ. ने बैठक को आयोजित करने के लिए विभिन्न कम्पनियों से लगभग एक करोड़ डालर एकत्र किया। प्रायोजकों को उनके द्वारा दिये गये सहयोग के अनुसार कई कोटियों में बांटा गया था। उदाहरण के लिए 2,50000 डालर देने वाली कम्पनी को पन्ना कोटि में रखा गया था। इस कोटि के सहयोगदाताओं में माइक्रोसाफ्ट, बोइंग के अतिरिक्त जनरल मोटर्स, फोर्ड आदि दिग्गज शामिल थे। अन्य कोटियां थीं—हीरा, प्लैटिनम, सोना, चांदी, कांस्य आदि, जो सहयोग के स्तर के आधार पर बनायी गयी थीं। उनके स्तर के अनुसार ही उन्हें मिलने वाली सुविधाओं का स्तर निर्धारित किया गया था।

वैसे, यह कोई नयी चीज नहीं थी, जो सिएटल में दिखायी दी। 1986 से 1993 तक चले गैट वार्ताओं के दौर में अमेरिका, कनाडा, जापान व यूरोपीय संघ के चौगुट की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने वार्ताओं की कार्यसूची में फेरबदल करवाने में अहम भूमिका निभायी थी। यह जगजाहिर है कि व्यापार सम्बन्धित बौद्धिक सम्पदा अधिकारों (ट्रिप्स) और सेवाओं को गैट वार्ताओं की कार्यसूची में शामिल करने के लिए विभिन्न निगमों ने जबर्दस्त दबाव बनाया था।

विभिन्न देशों की व्यापार नीतियों को निर्देशित करने में औद्योगिक व्यापारिक घरानों की भूमिका किस हद तक प्रत्यक्ष है, इसे जानने के लिए कुछ और तथ्यों पर गौर करना दिलचस्प होगा। अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा गठित 42 सदस्यीय व्यापार एवं वार्ता सलाहकार समिति के आधे से अधिक सदस्य औद्योगिक-व्यापारिक घरानों एवं संघों के प्रतिनिधि हैं। इनमें ए.टी. एण्ड टी, मोशन पिक्चर एसोसियेशन आफ अमेरिका इंका., ईस्टमैन कोडक, मोन्सैण्टों और आई. बी.एम. आदि के प्रतिनिधि शामिल हैं। यही स्थिति जापान, यूरोपीय संघ और कनाडा में भी है। यही नहीं, भूमण्डलीकरण का दौर शुरू होने के बाद तीसरी दुनिया के देशों में भी नीति-निर्धारण में उद्योग एवं व्यापार जगत की भूमिका प्रत्यक्ष होती गयी है।

भारत भी इस मामले में पीछे नहीं है। विगत 11 दिसम्बर 1999 को प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने ''सुधारों'' की दूसरी पीढ़ी में महत्वपूर्ण निर्णयों को लागू करने के लिए व उद्योग जगत के प्रति जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक सलाहकार परिषद के ढांचे में गुणात्मक बदलाव करते हुए आर्थिक मामलों के विशेषज्ञों के साथ-साथ लगभग आधी संख्या में उद्योगपतियों को शामिल किया है। ठीक अमेरिकी तर्ज पर अब परिषद का नया नामकरण किया गया है—'इण्डिया इनकारपोरेशन' इस नये 'इण्डिया इनकारपोरेशन' के तहत सात नये विशेषज्ञ समूह बनाये हैं जो अगले तीन महीने में अपनी रिपोर्ट देंगे। ये सात समूह हैं : निजी क्षेत्र में अच्छे कार्य संचालन के लिए (एन. आर. नारायण मूर्ति और कुमारमंगलम बिड़ला; शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में निजी निवेश के लिए नीतिगत फ्रेमवर्क (मुकेश अम्बानी और ए.सी. मुथैया); विश्व व्यापार संगठन की आगामी मंत्रिस्तरीय बैठक की रणनीति तैयार करने के लिए (एन. श्रीनिवासन और राहुल बजाज); सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेश के लिए (जी. पी. गोयनका और राजीव चन्द्रशेखर)); परम्परागत उद्योगों के पुनर्जीवन और उद्योगों के पैर में ''बेड़ी'' बने पुराने कानूनों और प्रक्रियाओं के लिए (रतन टाटा और नुस्ली वाडिया); भूमण्डलीकरण के ''दुष्परिणामों'' को टालने के लिए (राहुल बजाज और संजीव गोयनका); विदेशों में रह रहे भारतीयों की प्रतिभा और सम्पदा के उपयोग के लिए (मुकेश अम्बानी)।

लगभग दो ढाई साल पहले एक भूतपूर्व अमेरिकी वाणिज्य अवर सचिव टिमोथी जे.हॉसर ने कहा था कि ''हमें व्यापार के 'घोड़े' को सरकारी ''बैलगाड़ी'' के आगे ले चलना होगा।'' नेस्ले समूह के चेयरमैन और 'इण्टरनेशनल चैम्बर्स आफ कामर्स' के भूतपूर्व अध्यक्ष हेल्मट ओ. मॉशर ने भी इसी से मिलते-जुलते विचार इन शब्दों में प्रकट किये थे : ''हम न तो विश्व व्यापार संगठन की गोपनीय प्रेयसी बनना चाहते हैं और न ही 'इण्टरनेशनल चैम्बर आफ कामर्स' को विश्व व्यापार संगठन में घुसने के लिए नौकरों के प्रवेश द्वार से जाने की जरूरत है।'' बहरहाल, अब दुनिया के औद्योगिक शहंशाह राहत की सांस ले सकते हैं— लुकाछिपी के दिन खत्म हो गये हैं। अब सब कुछ खुल्लमखुल्ला हो रहा है।

—आलोक रंजन

(पृष्ठ 64 का शेष)

क्लिण्टन के लिए एक दूसरी तात्कालिक राजनीतिक जरूरत इस विषय में चिन्तातुर हो उठने के लिए प्रेरित कर रही है। अमेरिकी राष्ट्रपति पद के आसन्न चुनाव में वे अपने डेमोक्रेट वारिस उप राष्ट्रपति अल गोरे के लिए वोट सुरक्षित करना चाहते हैं। इसीलिए, क्लिण्टन ने अपने भाषण में प्रदर्शनकारी स्वयंसेवी संस्थाओं, ट्रेड यूनियनों की भावनाओं को तवज्जो देने की बात विशेष रूप से उठायी।

जाहिर है कि तीसरी दुनिया के प्रतिनिधि भी अमेरिकी चिन्ता के पीछे की मजबूरियों को बखूबी समझ रहे थे। इसलिए, उनके द्रवित होने का कोई कारण नहीं था। और फिर, अपनी पूंजी के हितों को अधिकतम सम्भव संरक्षित करने के लिए जमकर मोलभाव करने की ''राजनीतिक इच्छा शक्ति'' और सहमति लेकर पहुंचे भारत और अन्य तीसरी दुनिया के देशों के सौदेबाज अपना कर्तव्य भला कैसे भूल सकते थे? तीसरी दुनिया के अपने बिरादरों को एकजुट करने में भारत ने अगुवा भूमिका निभायी। चौगुट के भीतर अन्तरविरोधों का लाभ भी इन्हें मिला और श्रम एवं पर्यावरण मानकों को फिलहाल विश्व व्यापार वार्ताओं के एजेण्डे से बाहर रखने में तीसरी दुनिया के प्रतिनिधि सफल हो गये। अमेरिकी प्रतिनिधि चार्लीन बार्शफर्स्की ने यह कहकर फिलहाल सन्तोष किया कि वार्ता के छूटे हुए सिरे को जेनेवा (विश्व व्यापार संगठन का मुख्यालय) में पकड़ेंगे।

स्वयंसेवी संगठनों, अमेरिकी ट्रेड यूनियनों व साम्राज्यवादी हितों का दिलचस्प मेल दिखा सिएटल में

सिएटल में एक दिलचस्प घटना घटी जिसने गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों (एन.जी.ओ.) की भूमिकाओं के बारे में व्याप्त तमाम मिथकों को एकबारगी ध्वस्त कर दिया। वार्ता स्थल के बाहर सड़कों पर विश्व व्यापार संगठन के विरोध में जो प्रदर्शन हुए उनमें अच्छी खासी तादाद इन स्वयंसेवी संगठनों की थी। कई स्वयंसेवी संगठन विश्व व्यापार संगठन की नीतियों से औचित्य प्राप्त कर परभक्षी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों की सस्ती श्रम शक्ति एवं प्राकृतिक सम्पदा को निचोड़ने, घरेलू छोटे उद्योगों को तबाह करने, जैव विविधता को नष्ट करने से उतने चिन्तित नहीं थे जितने कि विश्व व्यापार के साथ श्रम एवं पर्यावरण मानकों को न जोड़े जाने पर चिन्तित थे। जब क्लिण्टन ने अपने भाषण में यह कहा कि सभा कक्ष के भीतर वे सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे लोगों की भावनाओं को मुखर कर रहे हैं, तो एकबारगी समूची दुनिया का मीडिया भी सकते में आ गया। लेकिन महाशय क्लिण्टन तो सिर्फ उस सच को शब्द दे रहे थे जो तथाकथित 'तीसरे क्षेत्र' के रूप में राज्य द्वारा कल्याणकारी भूमिका से मुंह मोड़ लेने के बाद अभागी जनता के लिए 'सान्ताक्लाज' बनकर उभरा है। यहां यह बहस बेमानी है कि प्रदर्शन क्लिण्टन द्वारा प्रायोजित था या नहीं (बहुतेरे बुर्जुआ टिप्पणीकारों ने यह आशंका व्यक्त की थी)। जो बात साफ तौर पर उभरी, वह यह कि अब सारे भ्रम दूर हो जाने चाहिए। स्वयंसेवी संगठनों का विश्वव्यापी नेटवर्क विश्व-पूंजीवाद की नयी सुरक्षापंक्ति है, सचाई यही है ('दायित्वबोध' में इसपर काफी सामग्री दी जा चुकी है। देखें पिछले तीन अंक)। इतना ही नहीं, अमेरिकी व्यापार प्रतिनिधि सुश्री चार्लीन बार्शफर्स्की ने स्वयंसंगठनों की एक समानान्तर बैठक को सम्बोधित भी किया और उनकी चिन्ताओं से सहमति जतायी।

अमेरिकी ट्रेड यूनियनों ने भी अपनी वही भूमिका निभायी, जो उन्हें निभानी थी। यानी, ऊपरी तौर पर दुनिया के मजदूरों की हित चिन्ता और वास्तव में शासक वर्ग की सेवा। 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' और 'कांग्रेस आफ इण्डस्ट्रियल आर्गनाइजेशन' के नेतृत्व में प्रदर्शन के जरिए यह मांग की गयी कि पूरी दुनिया में समान मजदूरी के मानक को लागू किया जाये। उनका तर्क था कि चूंकि तीसरी दुनिया के देशों में श्रम सस्ता है, इसलिए उनके देश की कम्पनियां अमेरिका से भाग रही हैं। नतीजतन अमेरिका में उद्योगों के बन्द होने से ''काम की सुरक्षा'' को खतरा पैदा हो रहा है और बेरोजगारी बढ़ रही है। अमेरिका में मजदूरों की छंटनी और बढ़ती बेकारी से मजदूर वर्ग के अन्दर पैदा हो रहे असन्तोष की आवाज को ट्रेड यूनियनों ने उठाया और क्लिण्टन ने इस आवाज का अपहरण कर एक तीर से दो शिकार किये। तीसरी दुनिया पर धौंसपट्टी और आगामी चुनाव में डेमोक्रेट प्रत्याशी के लिए वोट बैंक को सुदृढ़ किया।

हालांकि, इन प्रदर्शनों को तात्कालिक राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ के लिए भले ही इस्तेमाल कर लिया गया, लेकिन इसका दूसरा पहलू भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। प्रदर्शनों में शामिल आम मेहनतकश आबादी भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर की नीतियों के फलस्वरूप पैदा सामाजिक संकटों को भी व्यक्त कर रही थी। और यह महत्वपूर्ण है कि विश्व पूंजीवाद के स्वर्ग के भीतर भी अकुलाहट-बेचैनी बढ़ती जा रही है। जैसे-जैसे विश्व-पूंजीवाद का संकट बढ़ता जायेगा, दुनिया के चौधरियों के बैठक-कक्षों की उठापटक घमासान की ओर बढ़ेगी। अपने संकटों का बोझ वे तीसरी दुनिया के ऊपर थोपेंगे और तीसरी दुनिया के शासक अपने देशों के मेहनतकशों से इसकी कीमत वसूलेंगे। और धीरे-धीरे साम्राज्यवादी दैत्यों के दुर्गों में भी नये वेग से तूफान उठेंगे और तीसरी दुनिया के झंझावातों से मिलकर वे भविष्य के रोड़ों को तिनकों की तरह उड़ा ले जायेंगे। सिएटल में ये संकेत साफ तौर पर दिखे हैं।

—आलोक रंजन

बढ़ता ''मानव विकास'' और महरूम होता मेहनतकश अवाम

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के तहत इस दशक के आरम्भ से ही *मानव विकास रिपोर्ट* प्रति वर्ष प्रकाशित होती आ रही है। इसकी शुरुआत में ही मानव विकास को ''जनता की चयन की स्वतंत्रताओं के विस्तार'' के रूप में परिभाषित किया गया था। आज से पचास साल पहले, यानी सन् 1948 में, जब **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा** की गयी थी, तो उसमें कहा गया था कि ''खाना, कपड़ा, मकान और दवा-दारू एवं आवश्यक सामाजिक सेवाओं समेत, समुचित स्वास्थ्य एवं अच्छा खाता-पीता जीवन-यापन करना प्रत्येक व्यक्ति एवं उसके परिवार का अधिकार है।'' इसके लिए प्रत्येक देश में बुनियादी उपभोग आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु गरीबी उन्मूलन की रणनीति को एक

महत्वपूर्ण लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया गया था।

परन्तु अब, जबकि पिछले ही वर्ष **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा** की **स्वर्ण जयंती** भी मनायी जा चुकी है, उसका सारा *सुनहरा* मुलम्मा उतर चुका है, और आज *मानव-विकास* की जो वीभत्स द्विधात्मक तस्वीर दिखायी दे रही है उसमें उपभोग की न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताओं के भी पूरी होने से वंचित भारी मेहनतकश आबादी के बीच मुट्ठी भर अघाये लोगों के गुलाब जैसे खिले चेहरे हैं, जिनके लिए ही **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा** काम आयी है, और वास्तव में, जिनके लिए ही पिछला वर्ष **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा** का **स्वर्णजयंती वर्ष** रहा है, जबकि भारी मेहनतकश विश्व-आबादी के लिए तो बस *जले पर नमक* छिड़कने का ही वर्ष रहा है।

आज पूरी दुनिया में उपभोग की सालाना दर 24 खरब डालर हो चुी है। *मानव विकास रिपोर्ट* 1998 के अनुसार विगत पच्चीस वर्षों में प्रति व्यक्ति उपभोग में हुई। इस अभूतपूर्व वृद्धि को ''उपभोग विस्फोट'' की संज्ञा दी गयी है। बेशक औद्योगिक देशों में, इस अवधि के दौरान, प्रति व्यक्ति सालाना उपभोग 2.3 प्रतिशत की दर से बढ़ता गया है और **पूर्वी एशिया** में तो यह दर 6.1 प्रतिशत तक जा पहुंची है, और यहां तक कि **दक्षिण एशिया** में भी यह दर 2 प्रतिशत रही है। फिर भी यह विकास की दुरंगी तस्वीर का एक बहुत छोटा पहलू भर ही है। इसका दूसरा बड़ा पहलू बड़ा ही त्रासद और विडम्बनापूर्ण है। प्रसंगवश, यहां संकेत कर दें कि इन्हीं पचास वर्षों के दौरान दक्षिण अफ्रीका में प्रति परिवार औसत सालाना उपभोग दर, आज से पच्चीस वर्ष पूर्व की औसत उपभोग दर से भी 20 प्रतिशत कम हो चुकी है। और पूरी दुनिया के पैमाने पर आज आलम यह है कि विश्व-जनसंख्या की सबसे गरीब 20 प्रतिशत आबादी इस तथाकथित ''उपभोग विस्फोट'' से कोसों दूर छूटी हुई है। एक अरब से अधिक लोग अपनी न्यूनतम बुनियादी उपभोग आवश्यकताएं भी पूरी कर पाने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। विकासशील देशों की कुल 4.5 अरब आबादी में से 3/5 को बुनियादी सफाई की भी सुविधा नहीं उपलब्ध है, तथा करीब 1/3 आबादी के लिए पीने का पानी तक भी उपलब्ध नहीं है; 1/4 आबादी बेघर है; 1/5 के पास आधुनिक चिकित्सा सुविधा नहीं है, तथा 20 प्रतिशत बच्चों को न तो स्कूली शिक्षा उपलब्ध है, और न ही पर्याप्त भोजन एवं पोषण ही मिल पाता है।

अब तक चले आ रहे असमान पूंजीवादी-साम्राज्यवादी विकास और खासतौर से इस दशक के आरम्भ से शुरू हुए उसके नग्नतम एवं क्रूरतम रूप, ''भूमण्डलीकरण'' ने उपभोग की असमानताओं को, अभूतपूर्व रूप से, उनकी पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। आज हालत यह है कि दुनिया के सबसे अधिक आय वाले देशों के मात्र 20 प्रतिशत लोग सकल निजी उपभोग के 86 प्रतिशत भाग पर काबिज हैं, जबकि सबसे गरीब 20 प्रतिशत आबादी मात्र 1.3 प्रतिशत ही उपभोग कर पाती है। यदि और स्पष्ट कहें तो, आज इस अभूतपूर्व उपभोग-असमानता का आलम यह है कि दुनिया की मात्र 1/5 सबसे घनी आबादी :

—समूचे विश्व के गोश्त और मछली का 45 प्रतिशत उपभोग करती है, जबकि सबसे गरीब 1/5 आबादी को महज 5 प्रतिशत ही मयस्सर हो पाता है।

—सकल ऊर्जा के 58 प्रतिशत भाग का उपभोग करती है, जबकि सबसे गरीब 1/5 आबादी को 4 प्रतिशत से कम ही ऊर्जा उपलब्ध हो पाती है।

—टेलीफोन लाइनों के 74 प्रतिशत का उपभोग करती है, जबकि इतनी ही सबसे गरीब आबादी मात्र 1.5 प्रतिशत का ही उपभोग कर पाती है।

—सम्पूर्ण कागज का 84 प्रतिशत उपभोग करती है, जबकि सबसे गरीब 1/5 आबादी को महज 1.1 प्रतिशत ही मिल पाता है।

—दुनिया भर के वाहनों का 84 प्रतिशत उपभोग करती है, जबकि सबसे गरीब 1/5 आबादी को 1 प्रतिशत से भी कम ही यह सुविधा उपलब्ध है।

निश्चय ही, वैश्विक पैमाने पर उपभोग की इस बेपनाह बढ़ती असमानता का सीधा सम्बन्ध अमीरी और गरीबी के बीच की खाई से है, जो ''भूमण्डलीकरण'' के इस दौर में और भी बेपनाह तेजी से बढ़ती जा रही है। अभी हाल में वर्ष 1999 की जो *मानव विकास* रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसमें ''भूमण्डलीकरण'' के फलस्वरूप, पूरी दुनिया के पैमाने पर अमीरी और गरीबी के बीच बढ़ती खाई, और खासतौर से विकासशील देशों में गरीबी-रेखा से नीचे जीने (प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 1 डालर से कम आय) वालों की बढ़ती आबादी पर भारी ''चिन्ता'' व्यक्त की गयी है। इर *रिपोर्ट* में बताया गया है कि जहां 1987 में गरीबी-रेखा से नीचे जीने वालों की संख्या 1.2 अरब थी, वह अब बढ़कर 1. 5 अरब हो चुकी है, और 2015 तक 1.9 अरब तक जा पहुंचने का अनुमान है।

''भूमण्डलीकरण'' के फलस्वरूप तेजी से बढ़ रही भारी मेहनतकश आबादी की गरीबी और उपभोग की कृच्छता को दूर करने के ''उपाय'' के तौर पर, *मानव विकास रिपोर्ट* 1999 में **''मानवीय चेहरे के साथ भूमण्डलीकरण : जनता, सिर्फ मुनाफा ही नहीं''** की गुहार लगायी गयी है, जो दरहकीकत, घृणास्पद सीमा तक हास्यास्पद कही जा सकने वाली शाब्दिक वंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्या ''भूमण्डलीकरण'' पूंजीवादी-साम्राज्यवादी प्रपंच के अलावे भी और कुछ है, जिसका एकमात्र और मूल उद्देश्य मुनाफा और अति मुनाफा ही है? फिर मुनाफाखोरी को ''मानवीय चेहरे'' से ढंकने की कोशिश क्या एक कोरा वाक्छल नहीं है? परन्तु पूंजीवादियों- साम्राज्यवादियों की प्रतिनिधि संस्था **संयुक्त राष्ट्र संघ** (जो अपनी असलियत में आज **संयुक्त राज्य अमेरिका** की ही प्रतिनिधि संस्था बनी हुई है) के तथाकथित विकास-कार्यक्रमों के प्रायोजक और उसके तथाकथित *मानव विकास रिपोर्ट* तैयार करने वाले इस वाक्छल के अलावे और भी कुछ कर सकते हैं क्या? सच तो यह है कि मुनाफा ही जिसकी आत्मा है, वह विश्व-पूंजीवादी व्यवस्था अगर गैर-बराबरी न पैदा करे, अमीरी-गरीबी की खाई न बढ़ाये, और भारी मेहनतकश आबादी के रक्त-मांसमज्जा को निचोड़-निचोड़ कर उसे मुनाफे कमाने की हवस में गरीबी-रेखा से नीचे न धकेलती जाये, और सचमुच मानवीय चेहरा धारण कर ले, तब तो वह पूंजीवादी व्यवस्था रह ही नहीं जायेगी। लेकिन कोई भी शोषणकारी व्यवस्था अपनी कब्र स्वयं नहीं खोदती। उसकी कब्र तो शोषित जनता ही खोदेगी। और यही आज के इतिहास के एजेण्डे पर है। और इसी भावी खतरे को भांपकर तो पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के झण्डाबरदार अब ''मानवीय चेहरे'' वाले ''भूमण्डलीकरण'' की गुहार लगा रहे हैं।

—शरद कुमार

अध्याय 19

विनिमय उत्पादन को उपभोग से जोड़ने वाला एक महत्वपूर्ण आर्थिक रूप है

समाजवादी समाज में विनिमय और मुद्रा परिचलन

समाजवादी समाज में अधिकांश उत्पाद विनिमय के ही द्वारा उत्पादक और व्यक्तिगत खपत के दायरे में प्रवेश कर सकते हैं। समाजवादी समाज में विनिमय की विशिष्टताएं क्या हैं? ऐसा विनिमय अमल में कैसे आता है? इसे चलाने वाले वस्तुगत नियम क्या हैं? समाजवादी अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए इन प्रश्नों की स्पष्ट समझ आवश्यक है।

समाजवादी विनिमय के पास नये गुण, नयी विशिष्टताएं और नये कार्य होते हैं

समाजवादी समाज में तीन प्रकार के विनिमयों की विशिष्टताएं

विनिमय का निर्धारण उत्पादन से होता है। समाजवादी समाज में उत्पादन का दोहरा चरित्र होता है और इससे समाजवादी विनिमय की आवश्यक जटिलता निर्धारित होती है। समाजवादी विनिमय के गुणों एवं विशिष्टताओं को समझने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि किसी समाजवादी समाज में वास्तविक रूप से मौजूद बुनियादी विनिमय सम्बन्धों की पहचान की जाए।

चीन में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का समाजवादी रूपान्तरण बुनियादी तौर पर पूरा हो जाने के बाद, वहां विनिमय सम्बन्धों की तीन मुख्य श्रेणियां मौजूद थीं :

1. निजी स्वामित्व की प्रणाली पर आधारित विनिमय (उद्योग एवं कृषि में निजी स्वामित्व के बचे-खुचे रूप, सामूहिक फार्मों के सदस्यों के निजी जमीन के टुकड़े तथा घरेलू सदस्यों द्वारा किया जाने वाला उत्पादन)। इस किस्म का विनिमय मुख्यत: ग्रामीण मेलों के दौरान होने वाले व्यापार में मूर्त होता है। लेकिन इसका एक हिस्सा समाजवादी वाणिज्यिक सेक्टर को बेचने में भी मूर्त होता है।
2. समाजवादी राजकीय उद्यमों तथा सामूहिक अर्थव्यवस्था के बीच विनिमय और सामूहिक अर्थव्यवस्था के बीच आपसी विनिमय। ग्रामीण सामूहिक अर्थव्यवस्था के सदस्य सामूहिक अर्थव्यवस्था के भीतर वितरित धन से राज्य द्वारा संचालित दुकानों से सामान खरीदते हैं। यह मूलत: राजकीय अर्थव्यवस्था और सामूहिक अर्थव्यवस्था के बीच विनिमय है।
3. समस्त जनता द्वारा समाजवादी स्वामित्व की प्रणाली के भीतर विनिमय, जिसमें समाजवादी राजकीय उद्यमों के बीच तथा राज्य और मजदूरों-कर्मियों के बीच विनिमय शामिल है।

इन तीन किस्म के विनिमय सम्बन्धों की मौजूदगी समाजवाद के संक्रमणकालीन चरित्र को स्पष्ट करती है यानी यह पूंजीवाद से कम्युनिज्म में संक्रमण की एक ऐतिहासिक अवधि है।

पहली किस्म का विनिमय सम्बन्ध ऐसा माल विनिमय है जिसका आधार निजी स्वामित्व है। मूलत: इसकी प्रकृति पुराने समाज में माल विनिमय जैसी ही है। यह विनिमय सम्बन्ध समाजवादी समाज में विनिमय सम्बन्धों का मुख्य भाग नहीं होता है।

दूसरी किस्म का विनिमय सम्बन्ध दो तरह के समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित समाजवादी माल विनिमय होता है। इस किस्म के विनिमय के गुणों और विशिष्टताओं का दो भिन्न-भिन्न पहलुओं से परीक्षण किया जाना चाहिए। एक ओर, चूंकि यह सम्बन्ध समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित है, इसलिए विनिमय होने वाले मालों में समाजवादी प्रणाली के प्रत्यक्ष उत्पाद होने के लक्षण होते हैं। इसलिए, उत्पादन से विनिमय के निर्धारित होने के आम सिद्धान्त के अनुसार समाजवादी उत्पादन की विशिष्टताएं अनिवार्यत: विनिमय में प्रतिबिम्बित होंगी। ये दर्शाएंगी कि :

(1) इस किस्म के विनिमय का लक्ष्य मुनाफा नहीं बल्कि राज्य तथा जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

(2) इस किस्म का विनिमय प्रतिस्पर्धा और अराजकता के बीच नहीं होता बल्कि यह राजकीय योजना के निर्देशन में चलता है।

(3) उत्पादों के दाम बाजार में स्वत:स्फूर्त ढंग से घटते-बढ़ते नहीं बल्कि समाजवादी राज्य द्वारा तय किये जाते हैं।

ये विशिष्टताएं यह दर्शाती हैं कि दो तरह के समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित विनिमय पुराने समाज में मालों के विनिमय से बिलकुल भिन्न होता है।

दूसरी ओर, चूंकि इस तरह का विनिमय अब भी अलग-अलग मालिकों के बीच का विनिमय होता है, इसलिए इसमें माल विनिमय की सामान्य विशिष्टताएं बनी रहती हैं, जिनके ये लक्षण होते हैं :

1. चूंकि यह माल विनिमय है, इसलिए इसे अनिवार्यत: मूल्य के नियम से नियंत्रित होना होता है, जो समान मूल्यों के विनिमय की मांग करता है।
2. इस किस्म के विनिमय को अब भी विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा की आवश्यकता होती है। समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व के दो सेक्टरों के बीच अब भी मुद्रा के जरिए खरीदने-बेचने और विनिमय का सम्बन्ध मौजूद होता है।
3. विनिमय किये गये मालों के मूल्य अब भी दाम के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए, मालों के दाम और मूल्य के बीच विचलन होते रहेंगे। जिस माल का दाम उसके मूल्य से अधिक होगा, उसका मालिक अब भी विनिमय के जरिए अतिरिक्त आय पा सकेगा और जिस माल का दाम उसके मूल्य से कम होगा, उसके मालिक की आय घट जाएगी।

इन विशिष्टताओं से, हम देख सकते हैं कि दो तरह के समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित माल विनिमय में बुर्जुआ अधिकार अब भी मौजूद रहता है, और यह पुराने समाज के विनिमय सम्बन्धों में निहित बुर्जुआ अधिकार से ज्यादा भिन्न नहीं होता है।

तीसरी किस्म का विनिमय सम्बन्ध समस्त जनता के समाजवादी स्वामित्व वाले राजकीय सेक्टर के भीतर माल विनिमय होता है। इस किस्म का विनिमय अतीत में मौजूद रहे विनिमय के किसी भी रूप से बहुत भिन्न होता है। अब तक के पूरे इतिहास में, हर तरह का माल विनिमय—आदिम कम्यूनों के बीच मालों के विनिमय से लेकर पूंजीवाद के तहत माल विनिमय तक—भिन्न-भिन्न मालिकों के बीच विनिमय रहा है। अब हम जिस किस्म के विनिमय का परीक्षण कर रहे हैं वह स्वामित्व की एक एकल प्रणाली के भीतर का विनिमय है, यानी उन्हीं मालिकों के बीच का आपसी विनिमय है। इसलिए, विनिमय के गुण और विशिष्टताएं बदल चुकी हैं। आगे, हम राज्य तथा मजदूरों-कर्मचारियों के बीच और राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय का अलग-अलग परीक्षण करेंगे।

राज्य तथा मजदूरों-कर्मचारियों के बीच विनिमय मूर्त रूप इस तरह ग्रहण करता है कि राजकीय उद्यमों के कर्मचारी व मजदूर राज्य द्वारा वेतन के रूप में दी जाने वाली मुद्रा से राजकीय दुकानों से उपभोक्ता सामग्रियां खरीदते हैं। इस किस्म का विनिमय माल विनिमय के रूपों से भिन्न है। ऐतिहासिक रूप से, पुराने सभी माल विनिमय ''माल से माल'' या ''माल से मुद्रा से माल'' के चलन को अभिव्यक्त करते हैं। यह एक ऐसा सम्बन्ध था जिसमें दोनों पक्ष खरीदने और बेचने वाले थे। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाज में मजदूर अपनी श्रमशक्ति पूंजीपति को बेचता है और बदले में मुद्रा के रूप में आय पाता है। फिर वह इस मुद्रा के एक हिस्से का उपयोग करके पूंजीपति से उपभोक्ता सामग्रियां खरीदता है। इस किस्म का विनिमय ''माल (श्रमशक्ति) से मुद्रा (वेतन) से माल (उपभोक्ता सामग्रियां)'' का रूप लेता है। लेकिन समाजवादी समाज में, राज्य तथा मजदूरों-कर्मचारियों के बीच विनिमय सम्बन्ध में, मजदूर व कर्मचारी खुद राज्य तथा उद्यमों के मालिक होते हैं, इसलिए दरअसल वे अपनी श्रमशक्ति बेच नहीं रहे होते हैं। इसलिए, समस्त माल विनिमय एकतरफा कार्रवाई के रूप में अभिव्यक्त होता है। मजदूर व कर्मचारियों के पक्ष से सिर्फ खरीद होती है, बिक्री नहीं और राज्य की ओर से सिर्फ बिक्री होती है खरीद नहीं। यह स्थिति, जहां राजकीय उद्यम का कोई मजदूर या कर्मचारी वेतन पाता है और उपभोक्ता सामग्रियां खरीदने के लिए राज्य द्वारा संचालित दुकानों पर जाता है, एक हद तक मार्क्स द्वारा *गोथा कार्यक्रम की आलोचना* में वर्णित स्थिति के जैसी है : ''(मजदूर को) समाज से इस तरह का प्रमाणपत्र मिलता है कि उसने कुल इतना श्रम किया है (साझा कोष के लिए निर्धारित श्रम इसमें से घटाकर) और इस प्रमाणपत्र से वह उपभोग के साधनों के सामाजिक भण्डार से अपने श्रम के मोल बराबर भाग पा जाता है। समाज को यह एक रूप में जितना श्रम देता है, उतना उसे दूसरे रूप में वापस मिल जाता है।''[1] यह भी विनिमय का एक सम्बन्ध है और यह उसी सिद्धान्त पर चलता है जो माल विनिमय को नियंत्रित करता है : यानी, एक रूप में श्रम की एक निश्चित मात्रा का पूरी तरह, किसी अन्य रूप में श्रम की समान मात्रा से विनिमय किया जा सकता है। लेकिन राज्य तथा मजदूरों-कर्मचारियों के बीच विनिमय एक विशेष प्रकार का विनिमय सम्बन्ध बनाता है। वास्तव में यह एक रूप है जिसके जरिए समाजवादी राज्य कर्मचारियों व मजदूरों में निजी उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण करने के लिए मालों तथा मुद्रा सम्बन्धों का इस्तेमाल करता है। पारम्परिक माल विनिमय की तुलना में इस किस्म के विनिमय में अभी ही नयी अन्तर्वस्तु और विशिष्टताएं आ चुकी हैं।

समाजवादी राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय मुख्यत: एक-दूसरे से उत्पादन के साधनों की पारस्परिक खरीद के रूप में होता है। चूंकि समस्त जनता के समाजवादी स्वामित्व की प्रणाली सामूहिक स्वामित्व प्रणाली के साथ माल विनिमय के सम्बन्ध कायम करती है और चूंकि प्रत्येक समाजवादी राजकीय उद्यम को कार्य संचालन तथा प्रबन्धन में अपनी सापेक्षिक स्वतंत्रता बनाये रखना चाहिए, इसलिए होता यह है कि यदि एक राजकीय उद्यम को दूसरे के उत्पादों की जरूरत है तो उसे अब भी दामों की गणना करनी होती है, मुद्रा में भुगतान करना होता है और समान मूल्य के बदले समान प्रतिपूर्ति के सिद्धान्त को लागू करना होता है। इस पहलू से देखने पर राजकीय उद्यमों के बीच विनिमयों की प्रकृति में अब भी माल विनिमय का चरित्र रहता है। अतीत के माल विनिमय के अन्य रूपों से जो चीज इस किस्म के विनिमय को अलग करती है, वह यह है : ऐतिहासिक रूप से, माल विनिमय भिन्न-भिन्न मालिकों के बीच विनिमय था। विनिमय होने पर उत्पाद का मालिकाना बदल जाता था। विक्रेता उत्पाद का मालिकाना खो देता था और खरीदार मालिकाना पा जाता था। लेकिन, राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय, उन्हीं मालिकों के बीच आपसी विनिमय होता है। एक राजकीय उद्यम से दूसरे को विनिमय में दिये जाने के बाद भी कोई उत्पाद राज्य की ही सम्पत्ति रहता है। इस विनिमय के परिणामस्वरूप मालिकाने में कोई बदलाव नहीं होता। साथ ही, चूंकि राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय मुख्यत: उत्पादन के साधनों का होता है, इसलिए इस किस्म का विनिमय उत्पादन और उत्पादक खपत के बीच माध्यम का काम करता है। इसका उत्पादन से सीधा सम्बन्ध होता है, इसलिए इस माल विनिमय सम्बन्ध के लिए आम तौर पर उपभोक्ता सामग्रियों के विनिमय के मुकाबले अधिक सख्त नियोजन की आवश्यकता होती है। इसे राजकीय योजना के घेरे में और भी सीधे-सीधे लाया जाना चाहिए ताकि समाजवादी प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन की जरूरतों को पूरा किया जा सके। राजकीय उद्यमों के बीच उत्पादन के साधनों के महत्वपूर्ण विनिमयों में, आवण्टन राज्य द्वारा नियोजित होना चाहिए और बाजार के कारोबार से होकर नहीं गुजरना चाहिए। इस किस्म का विनिमय, हालांकि इसमें अब भी माल विनिमय की विशिष्टताएं हैं, अभी से भावी कम्युनिस्ट समाज के तत्व ग्रहण करने लगा है, यानी उत्पादों का प्रत्यक्ष सामाजिक वितरण। यह एक संक्रमणकालीन रूप है जिसे समाजवादी माल विनिमय कम्युनिस्ट समाज के उत्पादों के प्रत्यक्ष सामाजिक वितरण की ओर क्रमश: आगे बढ़ते हुए अपनाता है।

ऊपर वर्णित विनिमय सम्बन्धों की तीन श्रेणियां समाजवाद की अवधि के दौरान विनिमय सम्बन्धों की जटिलता को अच्छी तरह दर्शाती हैं। माल विनिमय उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित होता है। समाजवादी माल विनिमय उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि माल विनिमय समाजवादी अर्थव्यवस्था के राजकीय क्षेत्र में, यानी समस्त जनता के स्वामित्व की प्रणाली के भीतर भी चलता रहता है। राजकीय क्षेत्र के भीतर विनिमय में माल विनिमय के तत्वों के साथ ही भावी कम्युनिस्ट समाज में उत्पादों के प्रत्यक्ष सामाजिक वितरण के तत्व भी मौजूद होते हैं। सर्वहारा वर्ग जब समाजवादी निर्माण शुरू करने एवं अपने अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने की राह पर आगे बढ़ता है तो उसके सामने एक प्रमुख समस्या यह होती है कि विनिमय सम्बन्धों की तीनों श्रेणियों को, उनके भिन्न-भिन्न गुणों एवं विशिष्टताओं के अनुसार, कैसे चलाया जाए।

समाजवादी विनिमय में बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश लगाया जाना चाहिए

चूंकि समाजवादी विनिमय अलग-अलग हदों तक माल विनिमय बना रहता है, इसलिए बुर्जुआ अधिकार अपरिहार्यत: विनिमय में उभरता रहता है। हमें ऐसे बुर्जुआ अधिकार को पहचानना चाहिए और उसका इस्तेमाल करने के साथ-साथ उस पर अंकुश लगाना चाहिए।

माल विनिमय में बुर्जुआ अधिकार पूंजीवाद तथा बुर्जुआ तत्वों के पनपने के लिए उर्वर जमीन होती है। ऐतिहासिक रूप से, पूंजीवाद और बुर्जुआ वर्ग का भ्रूण माल विनिमय में विकसित हुआ और छोटे माल उत्पादकों के ध्रुवीकरण से इनका जन्म हुआ। चूंकि माल विनिमय समाजवादी समाज में मौजूद रहता है, इसलिए पूंजीवाद और नये बुर्जुआ तत्व पैदा होते ही रहेंगे। माल व्यवस्था चलती रहने की स्थितियों में, समाजवादी उद्यम के लिए उत्पाद मूल्य और मुनाफे की गणना बहुत जरूरी होती है। लेकिन इसके परिणामस्वरूप कुछ विभागों और इकाइयों में ऐसी स्थितियां पैदा हो सकती हैं जहां राज्य तथा जनता की जरूरतों और राजकीय योजना के तकाजों की अवहेलना की जाए, या ऐसी स्थितियां जहां उत्पाद मूल्य और मुनाफे को कमान में रखा जाता है तथा पूंजीवादी मुक्त कार्रवाई की खुली छूट दी जाती है। इन तौर-तरीकों से कुछ समाजवादी उद्यम पतित होकर पूंजीवादी उद्यमों में तब्दील हो जाते हैं। इसके अलावा, माल विनिमय की स्थितियों में आपूर्ति तथा मांग के बीच हमेशा अन्तरविरोध रहेंगे और हमेशा ही मूल्यों से दामों का विचलन होता रहेगा। इससे ललचा कर कुछ लोग मांग-आपूर्ति व मूल्य-दाम के अन्तरविरोधों का नाजायज फायदा उठाकर सट्टेबाजी, मालों की तस्करी और गुप्त कारखाने लगाना जारी रखेंगे—और इस तरह नये बुर्जुआ तत्वों के एक के बाद एक जत्थे पैदा करते रहेंगे।

इसलिए, यदि सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राज्य माल विनिमय में बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश नहीं लगाता है, तो पूंजीवाद और भी तेजी से विकसित होगा। सोवियत संघ में नये और पुराने बुर्जुआ तत्वों ने साठ-गांठ करके माल विनिमय के पुराने आधार का इस्तेमाल विभिन्न कानूनी और गैरकानूनी तरीकों से समाजवादी आर्थिक आधार को कमजोर व छिन्न-भिन्न करने के लिए किया ताकि सोवियत संघ में पूंजीवाद की चौतरफा पुनर्स्थापना की जा सके। यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमें समाजवादी विनिमय की प्रक्रिया में मौजूद रहने वाले तीखे और जटिल वर्ग संघर्ष को ठीक से पहचानना चाहिए।

समाजवादी संशोधनवादी गद्दार गुट ने परिचलन के दायरे में समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था को पूंजीवादी बाजार अर्थव्यवस्था से प्रतिस्थापित कर दिया है। पहले समाजवादी उत्पादन के विकास और लोगों के जीवनस्तर में सुधार की सेवा करने वाले समाजवादी विनिमय को पूरी तरह पूंजीवादी व्यावसायिक गतिविधियों की व्यवस्था में तब्दील कर दिया गया है जिसका लक्ष्य मुनाफा कमाना है। उत्पादन के साधनों के परिचलन की दृष्टि से सोवियत संघ में आज पूंजीवादी व्यवसायीकरण जोर-शोर से शुरू हो चुका है। एक तिहाई उत्पादन के साधनों का विनिमय थोक व्यापार के जरिए होता है और शेष दो तिहाई का विनिमय उद्यमों के बीच मुक्त व्यापार के जरिए होता है। उत्पादन के साधनों का परिचलन मुनाफे के लक्ष्य के साथ चलने वाली पूंजीवादी कार्रवाई के सिद्धान्तों के अनुसार ही होता है। ब्रेझनेव और उसकी मण्डली की राज्य द्वारा संचालित दुकानें उपभोक्ताओं व मजदूरों-कर्मियों को बुरी तरह लूटती हैं। राजकीय दुकानों के अलावा सोवियत संघ में उपभोक्ता सामग्रियों की खरीद-बिक्री के लिए तीन तरह का मुक्त बाजार है : सामूहिक फार्म के बाजार, उपभोक्ताओं के कोआपरेटिव, जो खासतौर पर महंगी उपभोक्ता सामग्रियां खरीदते-बेचते हैं, और उपभोक्ता सामग्रियों के निर्माताओं के लिए खुला बाजार। सोवियत संशोधनवादियों के सामूहिक फार्म बाजारों के सत्तर प्रतिशत शहरों में स्थित हैं जहां ''दिन भर दाम चढ़ते-गिरते रहते हैं'' और हर तरह की सट्टेबाजी तथा मुनाफाखोरी की गतिविधियां धड़ल्ले से चलती हैं। महंगे वाणिज्यिक कोआपरेटिव भी कृषि उपोत्पादों का कारोबार करते हैं। वे सस्ता खरीदने और महंगा बेचने के सिद्धान्त पर चलते हैं और कमीशन के आधार पर भी व्यापार करते हैं। वे सामूहिक फार्म बाजारों से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। अनेक महंगे वाणिज्यिक कोआपरेटिव सामूहिक फार्म बाजारों में स्थित हैं। तैयार मालों के खुले बाजार में बिकने वाले ज्यादातर माल धोखाधड़ी या भ्रष्ट तरीकों से हासिल किये जाते हैं: पिछले दरवाजे से, मेज के नीचे से या फिर विशेषाधिकारों या फैक्ट्री के भीतर पहुंच का लाभ उठाकर। या फिर, ये माल विदेशी पर्यटकों और नाविकों से हासिल किये जाते हैं और उन्हें इन खुले बाजारों में फिर से बेचा जाता है। यहां बिकने वाले माल में मुख्यत: वे वस्तुएं होती हैं जो राजकीय दुकानों के स्टाक से लम्बे समय से समाप्त हो चुकी हैं या फिर वहां उपलब्ध ही नहीं होतीं। इनके दाम राजकीय दुकानों के मुकाबले दो या तीन गुना ज्यादा होते हैं। इन खुले बाजारों में अनेक विक्रेता सट्टेबाज और मुनाफाखोर होते हैं जो तरह-तरह के माल की तस्करी के लिए हर माह हजारों मील आते-जाते रहते हैं। सामूहिक फार्म बाजारों की ही तरह तैयार उपभोक्ता मालों के बाजार भी सट्टेबाजों का स्वर्ग हैं।

समाजवादी समाज में माल विनिमय और पूंजीवाद के फिर से पैदा होने के बीच सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए लेनिन ने कहा है, ''माल विनिमय और व्यापार की स्वतंत्रता में अपरिहार्यत: पूंजीपतियों और पूंजीवादी सम्बन्धों की उत्पत्ति के बीज होते हैं।''[2] सोवियत संघ में परिचलन के क्षेत्र में पूंजीवाद की चौतरफा पुनर्स्थापना, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, को ''मुक्त व्यापार'' के नाम से सही ठहराया जाता है। माल विनिमय में बुर्जुआ अधिकार के बेरोकटोक विस्तार और सुदृढ़ीकरण का ऐसा ही परिणाम होता है।

सर्वहारा वर्ग परिचलन के क्षेत्र में बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश कैसे लगाता है? सबसे महत्वपूर्ण है मालों के उत्पादन और विनिमय को राजकीय योजना के दायरे में ले आना। राजकीय योजनाओं का उल्लंघन कर ''मुक्त व्यापार'' जारी रखने की कतई अनुमति नहीं दी जा सकती। बुर्जुआ वर्ग और पार्टी में उनके प्रतिनिधि ऐसे प्रतिबन्धों का विरोध करने के लिए हर सम्भव

तरीका अपनायेंगे। जब भी उन्हें मौका मिलेगा, वे राजकीय योजना में विध्वंस करने और ''मुक्त व्यापर'' जारी रखने की कोशिश करेंगे। इसलिए सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच परिचलन के क्षेत्र में प्रतिबन्ध और जवाबी कार्रवाइयों के मुद्दे पर तीखा संघर्ष लाजिमी है। हमारे देश में यह संघर्ष बेहद तीखा रहा है। ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ जैसे लोगों ने ''मुक्त बाजार'', ''मुक्त दाम नीति'' और ''मुक्त स्पर्धा'' जैसी भ्रान्तियों का समर्थन करके ''मुक्त व्यापार'' की अपनी संशोधनवादी लाइन को बढ़ावा देने की जी-तोड़ कोशिशें कीं। उन्होंने परिचलन के क्षेत्र में बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश लगाने के सर्वहारा के प्रयासों का हर सम्भव विरोध किया। उन्होंने इस क्षेत्र में शहर और गांव की पूंजीवादी शक्तियों की बाढ़ ला देने की कोशिश की। ''मुनाफा कमान में हो'', ''पहले व्यापार'' जैसी निषिद्ध अवधारणाओं का ढिंढोरा पीटते हुए उन्होंने समाजवादी विनिमय में पूंजीवादी प्रबन्धन के सिद्धान्त लागू करने की चेष्टा की। ल्यू शाओ-ची ने इस बात की भी वकालत की कि ''आर्थिक गतिविधि के किसी क्षेत्र में लगे लोगों को उस क्षेत्र की और अधिक वस्तुएं खरीदने की अनुमति दी जा सकती है''। लिन पियाओ ने इन भ्रान्तियों का प्रचार किया कि ''मानवीय कारोबार समाज के नियमों से ऊपर होता है'', ''पिछले दरवाजे से काम कराना जायज है'' आदि-आदि। उन्होंने लोगों की सोच को भ्रष्ट करने की कोशिश की। समाज में अन्य नये-पुराने बुर्जुआ तत्व भी परिचलन के क्षेत्र में गड़बड़ी पैदा करने और सर्वहारा वर्ग तथा समाजवाद पर हमला करने की कोशिश कर रहे हैं। वे कार्यकर्ताओं को भ्रष्ट करने के लिए रिश्वत का इस्तेमाल करते हैं और राजकीय तथा सामूहिक परिसम्पत्तियों को अपनी निजी सम्पत्ति में तब्दील करने की कोशिश करते हैं। वे समाजवादी बाजार को विघटित और असफल करने के लिए सट्टेबाजी और तस्करी में लगे रहते हैं।

अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन के निर्देशन में, कई शक्ति परीक्षणों के बाद, लोगों ने ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ व उसकी मण्डली की साजिशों को ध्वस्त कर दिया। पूंजीवादी शक्तियों पर एक के बाद एक जबर्दस्त प्रहार किये गये हैं। लेकिन जब तक माल विनिमय और इसके साथ बुर्जुआ अधिकार मौजूद है, पूंजीवाद और बुर्जुआ अधिकार के पैदा होने के लिए उर्वर जमीन मौजूद रहेगी। इसलिए विनिमय के क्षेत्र में सर्वहारा तथा बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष चलाते रहना होगा। सर्वहारा वर्ग को उत्पादन के बुनियादी साधनों के विनिमय को समाजवादी योजना के दायरे में लाना होगा, समाजवादी सहकारीकरण में नेतृत्व प्रदान करना होगा, और पुराने व नये बुर्जुआ तत्वों के बीच के सम्बन्धों को सही ढंग से व्यवस्थित किया जा सकता है। राजकीय कच्चा माल आपूर्ति विभाग और समाजवादी विनिमय के प्रभारी वाणिज्यिक विभाग राजकीय उद्यमों के बीच उत्पादन के साधनों के विनिमय को बड़ी मेहनत से संगठित करते हैं। समाजवादी माल विनिमय के प्रभारी समाजवादी वाणिज्यिक विभाग उचित समय पर औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन सेक्टरों से मालों की खरीद को संगठित करते हैं और नियोजित एवं सुव्यवस्थित ढंग से इन्हें उपभोक्ताओं को बेचते हैं। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को नियोजित एवं समानुपातिक ढंग से तेजी से विकसित करने और शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में जीवनस्तर उठाने में यह बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। यह मजदूर-किसान संश्रय को मजबूत करने का भी एक महत्वपूर्ण पहलू है।

समाजवादी विनिमय के दायरे में बुर्जुआ अधिकार को पहचानने और इससे सही ढंग से निपटने के लिए, हमें विभिन्न किस्म के विनिमय सम्बन्धों के विशिष्ट अन्तरविरोधों को भी सही ढंग से हल करना होगा, ताकि उत्पादन तेज करने और उपभोग का विस्तार करने में समाजवादी विनिमय की भूमिका को पूरा मौका दिया जा सके। उत्पादन के साधनों की मांग व आपूर्ति के अन्तरविरोधों को ठीक से समझने और हल करने की कच्चा माल आपूर्ति विभागों की योग्यता राजकीय उद्यमों के सेक्टर के भीतर विनिमय के विकास की एक बहुत महत्वपूर्ण कड़ी है। समाजवादी निर्माण के त्वरित विकास की प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों की आपूर्ति, आम तौर पर, उपभोक्ता सामग्रियों की आपूर्ति से ज्यादा तेजी से बढ़ती है। दूसरी ओर, उत्पादन के साधनों की मात्रा, गुणवत्ता, विविधता और विशिष्टताएं कई बार समाजवादी निर्माण के विकास के तकाजों के अनुरूप नहीं होतीं। उत्पादन के साधनों की मांग व आपूर्ति में अन्तरविरोध, वस्तुगत तौर पर, लम्बे समय तक मौजूद रहेंगे और यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न विभागों, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों तथा विभिन्न राजकीय उद्यमों में प्रतिबिम्बित भी होगा। नियमित अध्ययन के जरिए तथा योजनाओं को सन्तुलित करने और आपूर्ति व मांग में तालमेल के जरिए ही उत्पादन के साधनों की आवश्यकता और इनके उत्पादन के बीच निरन्तर सापेक्षिक सन्तुलन कायम रखा जा सकता है और समाजवादी उत्पादन के तेज विकास को बढ़ाया जा सकता है।

राजकीय अर्थव्यवस्था तथा सामूहिक अर्थव्यवस्था के बीच, सामूहिक अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों एवं इकाइयों के बीच और राज्य तथा मजदूरों-कर्मियों के बीच विनिमय की प्रक्रिया और भी जटिल है। यहां माल विनिमय मुख्यत: उपभोक्ता सामग्रियों का होता है, लेकिन कुछ उत्पादन के साधनों का भी विनिमय किया जाता है। इन जटिल विनिमय सम्बन्धों में झलकने वाला मांग व आपूर्ति का अन्तरविरोध लम्बे समय तक मौजूद रहेगा। यह वाणिज्यिक क्षेत्र और कृषि के बीच तथा उद्योग और उपभोक्ता के बीच अन्तरविरोध के रूप में सामने आएगा।

समाजवादी वाणिज्य और कृषि के बीच अन्तरविरोध मुख्यत: गौण उत्पादों की खरीद के अनुपात तथा औद्योगिक उत्पादों की आपूर्ति एवं दामों में अभिव्यक्ति होता है। कृषि उपज तथा गौण उत्पादों का एक हिस्सा समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए किया गया माल उत्पादन होता है। एक छोटा हिस्सा किसान की अपनी जरूरतों के लिए खुद से किया गया उत्पादन होता है। इसलिए, कृषि उपज व गौण उत्पादों की खरीद करते समय वाणिज्य विभागों के लिए राज्य द्वारा खरीदे गये और किसान द्वारा अपने पास रखे गये उत्पादन के अनुपात की ठीक से गणना करना जरूरी है—ताकि राज्य कृषि एवं गौण उत्पादों की आवश्यक मात्रा हासिल कर सके और किसान की उत्पादन एवं उपभोग सम्बन्धी जरूरतें भी पूरी हो सकें। इसके अलावा, समाजवादी राजकीय वाणिज्य द्वारा कृषि एवं गौण उत्पादों की खरीद के साथ ही, उसे ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक उत्पादों की आपूर्ति भी अच्छी तरह करनी चाहिए। इसे सामग्रियों व कच्चे माल का आगमन व निगमन सुनिश्चित करने के लिए प्रयास करने चाहिए ताकि समाजवादी कृषि उत्पादन और किसानों की आजीविका, दोनों की जरूरतें पूरी होती रहें। कृषि एवं गौण उत्पादों के आपूर्ति दाम किसानों की आय, कृषि उत्पादन के विस्तार और राजकीय संचय को सीधे प्रभावित करते हैं। कृषि एवं गौण उत्पादों के लिए उचित खरीद दाम और औद्योगिक उत्पादों के लिए उचित आपूर्ति दाम तय किया जाना जरूरी है। ऐसी स्थितियां निर्मित करना जरूरी है जिनमें कृषि एवं औद्योगिक दामों के बीच ऐतिहासिक रूप से मौजूद ''कैंची'' जैसे विभेद को क्रमश: कम किया जा सके। इस तरह से, औद्योगिक एवं कृषि उत्पादों के बीच समान मूल्यों के विनिमय पर आधारित विनिमय सम्बन्ध चलाया जा सकता है। सही सिद्धान्तों के अनुसार वाणिज्य एवं कृषि के अन्तरविरोधों को हल करने से शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के बीच माल विनिमय में अच्छा काम किया जा सकता है और यह समाजवादी उत्पादन में किसानों के उत्साह को जगाने, औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन के विकास को तेज करने और मजदूर-किसान संश्रय को मजबूत

बनाने में सहायक होता है।

समाजवादी वाणिज्य और उद्योग के अन्तरविरोध मुख्यत: राजकीय अर्थव्यवस्था के आन्तरिक अन्तरविरोध होते हैं। राजकीय उद्योग उत्पादन में लगे होते हैं जबकि राजकीय वाणिज्य विपणन में। उद्योग एवं वाणिज्य के बीच अन्तरविरोध मुख्यत: एक ओर औद्योगिक उत्पादों की मात्रा, गुणवत्ता, विविधता और दाम तथा दूसरी ओर बाजार की जरूरतों के बीच होते हैं। औद्योगिक उत्पादन में सापेक्षिक स्थिरता होती है। लेकिन बाजार की जरूरतें बदलती रहती हैं। सापेक्षिक रूप से स्थिर औद्योगिक उत्पादन और बाजार की परिवर्तनशील जरूरतों के बीच के अन्तरविरोध अक्सर उद्योग एवं वाणिज्य के बीच अन्तरविरोध को जन्म देते हैं। अन्य अन्तरविरोध उत्पादन योजना और विपणन योजना के बीच तालमेल की कमी से पैदा होते हैं जो उत्पादन एवं बाजार के नियमों तथा स्थितियों में बदलाव की अपर्याप्त जांच-पड़ताल का परिणाम होता है। पूंजीवादी सोच का प्रभाव और संशोधनवादी लाइन का हस्तक्षेप उद्योग एवं वाणिज्य के बीच अन्तरविरोधों को और बिगाड़ देता है।

उद्योग एवं वाणिज्य के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के लिए जरूरी है कि वाणिज्य विभाग समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम का पालन करें, जांच-पड़ताल व शोध को मजबूत करें, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के बारे में तत्काल औद्योगिक विभागों को सूचित करें, उद्योग एवं वाणिज्य के बीच और घनिष्ठ तालमेल को बढ़ावा दें तथा उत्पादन की मात्रा, विविधता एवं गुणवत्ता बढ़ाने में औद्योगिक विभागों को सक्रिय सहयोग दें ताकि राज्य तथा जनता, दोनों की जरूरतें पूरी हो सकें।

माल विनिमय की प्रक्रिया में उत्पादन और मांग के बीच अन्तरविरोध अन्तत: समाजवादी वाणिज्य और व्यापक उपभोक्ता आबादी के बीच अन्तरविरोधों के रूप में सामने आते हैं। उद्योग एवं कृषि के तेज विकास के साथ लोगों की क्रयशक्ति लगातार बढ़ती गई है। इसलिए स्वाभाविक है कि वे समाजवादी वाणिज्य से यह अपेक्षा करें कि यह उन्हें ज्यादा विविधतापूर्ण और बेहतर उपभोक्ता सामग्रियां उपलब्ध कराए। लेकिन, सामाजिक उत्पादन की वृद्धि हमेशा ही सामाजिक मांग से पीछे रहती है। इसलिए, वाणिज्य एवं कृषि और वाणिज्य एवं उद्योग के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करना वाणिज्य एवं उपभोक्ताओं के बीच अन्तरविरोधों को हल करने की आवश्यक शर्त है। साथ ही वाणिज्य और उपभोक्ताओं के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के लिए यह जरूरी है कि वाणिज्य के क्षेत्र में काम करने वाले लोग पूरे दिल से जनता की सेवा करने के सिद्धान्त को अपनाएं। चीन के वाणिज्य कर्मियों ने इस बात को अच्छी तरह कहा है : ''शेल्फ तो महज तीन फीट ऊंचा है, लेकिन मजदूरों, किसानों और सैनिकों की सेवा की कोई सीमा नहीं है।'' विश्व दृष्टिकोण के गहराई में जड़ जमा लेने पर ही समाजवादी वाणिज्य सक्रियता से मालों की आपूर्ति संगठित कर सकता है, उन्हें तर्कसंगत ढंग से वितरित कर सकता है और मजदूरों, किसानों एवं सैनिकों की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार समाजवादी बाजार को उचित ढंग से व्यवस्थित कर सकता है। लेकिन लोगों की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार आपूर्ति व वितरण संगठित करते समय समाजवादी वाणिज्य को चुपचाप उपभोक्ताओं की मांग के अनुसार नहीं ढल जाना चाहिए बल्कि इसे सक्रिय रूप से उपभोग को प्रभावित और निर्देशित करना चाहिए। समाजवादी औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन के विकास की स्थिति और राष्ट्रीय संसाधनों की स्थिति के अनुसार लोगों की जरूरतों के लिए इसे बेहतर ढंग से संगठित किया जाना चाहिए।

समाजवादी विनिमय में संगठन के उचित रूप अपनाये जाने चाहिए

एक उचित आपूर्ति प्रणाली और विनिमय के उचित रास्ते स्थापित करो

उत्पादन के साधनों का उत्पादन करने वाले और इनकी खपत करने वाले राजकीय उद्यमों के बीच इनका परिचलन एक बहुत जटिल प्रक्रिया है। उत्पादन के साधनों को उत्पादन के क्षेत्र से उत्पादक खपत के क्षेत्र में* पहुंचाने के लिए केन्द्रीय राजकीय योजना के तहत विनिमय के उचित रूपों की जरूरत होती है। उत्पादन के साधनों का परिचलन समयबद्ध ढंग से, सही मात्रा में, और गुणवत्ता के निश्चित मानकों के अनुसार होना चाहिए, तभी वे उत्पादन के विकास को बढ़ावा दे सकते हैं।

राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय समस्त जनता के स्वामित्व वाले उद्यमों के बीच, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के बीच, विभागों के बीच और केन्द्रीय आर्थिक विभागों एवं स्थानीय आर्थिक विभागों के बीच के अन्तरसम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करता है। समाजवादी निर्माण में चीन का अनुभव यह बताता है कि इन अन्तरसम्बन्धों को चलाने की प्रक्रिया के अंग के रूप में भौतिक संसाधनों की आपूर्ति के लिए एक तर्कसंगत व्यवस्था स्थापित करना बहुत जरूरी है।

चीन में भौतिक संसाधनों की आपूर्ति की व्यवस्था को ''केन्द्रीकृत नेतृत्व, समकक्ष-स्तरीय प्रशासन और विशिष्टीकृत कार्रवाई'' के सिद्धान्त पर चलना चाहिए। इसे माओ की इस रणनीति के अनुसार होना चाहिए कि ''युद्ध का मुकाबला करने के लिए तैयार रहो, प्राकृतिक आपदाओं से लड़ने के लिए तैयार रहो और सब कुछ जनता के लिए करो।'' उनकी इस शिक्षा का हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए : ''एकीकृत केन्द्रीय योजना के अन्तर्गत स्थानीय इकाइयों को ज्यादा चीजें करने दो।'' वर्तमान में, उपरोक्त सिद्धान्त पर आधारित चीन की भौतिक संसाधन आपूर्ति व्यवस्था ''क्षेत्रीय सन्तुलन, विभेदी आवण्टन, विविधता के नियमन तथा एकीकृत केन्द्रीय योजना के तहत राज्य को गारण्टी के साथ माल आपूर्ति'' करने की पद्धति को चुनिन्दा ढंग से कदम-ब-कदम लागू कर रही है।**

इसके लिए जरूरी है कि एक एकीकृत केन्द्रीय योजना के फ्रेमवर्क को संसाधनों की उपलब्धता तथा विभिन्न क्षेत्रों के विकास के स्तर में अन्तर के मद्देनजर पिछड़े क्षेत्रों की मदद करने को ध्यान में रखना चाहिए और कृषि एवं हल्के उद्योग की जरूरतों पर ध्यान देना चाहिए। उत्पादों की विविधता तथा आपूर्ति के नियमन के सम्बन्ध में केन्द्र को स्थानीय विशिष्टताओं का ध्यान रखने के साथ-साथ स्थानीय क्षेत्रों में खाद्यान्न एवं कृषि में आत्मनिर्भरता और औद्योगिक आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना चाहिए तथा यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि स्थानीय स्तर पर उत्पादित माल वहां तक पहुंचता रहे जहां इसकी समग्र अर्थव्यवस्था में जरूरत है।

* यानी जिस क्षेत्र में उत्पादन के साधन बनाये जाते हैं, वहां से उन्हें उस क्षेत्र में पहुंचाना जहां वे उत्पादन प्रक्रिया में तत्वों की तरह इस्तेमाल होते हैं।

** इस पूरे पैराग्राफ में आवण्टन सम्बन्धी और नियामक उपायों व नीतियों की चर्चा की गई है जिनका उद्देश्य क्षेत्रीय आत्मनिर्भरता को बढ़ाने (और अन्तरक्षेत्रीय असमानताओं को दूर करने) के आधार पर समग्र आर्थिक विकास का समन्वय करना है। नियोजन का प्राधिकरण और आपूर्ति एवं खरीद नीतियां केन्द्र के हाथों में महत्वपूर्ण आर्थिक औजार हैं। खास तौर से : कच्चे माल की आपूर्ति के आवण्टन के सिलसिले में केन्द्रीय अधिकारियों

के भीतर रहते हुए और राज्य को निर्धारित आपूर्ति करते हुए भी और स्थानीय स्तर पर उत्पादित कच्चे माल व उपकरणों का एक हिस्सा स्थानीय पैमाने पर सुरक्षित रखना चाहिए और उपकरणों के पूरा सेट का निर्माण स्थानीय स्तर पर ही किया जाना चाहिए। यह पद्धति युद्धों व प्राकृतिक आपदाओं से निपटने के लिए तैयार रहने और सबकुछ जनता के लिए करने की रणनीतिक लाइन को लागू करने में मददगार है। यह आपस में तालमेल कर रहे विभिन्न क्षेत्रों में, यहां तक कि अलग प्रान्तों के स्तर पर कदम-ब-कदम औद्योगिक व्यवस्थाएं स्थापित करने, केन्द्रीय व स्थानीय स्तर पर पहलकदमी संगठित करने और केन्द्रीय व क्षेत्रीय इकाइयों के बीच तथा क्षेत्रों व अलग-अलग उद्यमों के बीच के अन्तरसम्बन्धों को सही ढंग से चलाने को प्रोत्साहित करती है और उत्पादक शक्तियों के विकास को बढ़ावा देती है।

भौतिक संसाधनों की आपूर्ति की एक उचित व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद विनिमय के उपयुक्त रूप तथा ऐसे विनिमय को चलाने के ठोस रास्ते स्थापित किये जाने चाहिए ताकि मालों का प्रवाह बना रहे। परिचलन में युक्तिसंगत कड़ियों के होने पर उत्पादन के साधन एक राजकीय उद्यम से दूसरे तक ज्यादा तेजी के साथ और कम खर्च में पहुंच सकते हैं। वर्तमान में, राजकीय सेक्टर में उत्पादन के साधनों के विनिमय के ठोस रूप बुनियादी तौर पर तीन किस्म के हैं; ये तीन रास्ते हैं जिनसे होकर उत्पादन के साधनों का चीन के राजकीय उद्यमों में परिचलन होता है।

पहला है सीधी आपूर्ति। यह विनिमय का एक रूप है जिसमें किसी राजकीय उद्यम द्वारा उत्पादित कच्चा माल, उपकरण आदि, बिना बीच की किसी कड़ी के, सीधे प्रयोगकर्ता तक पहुंचाए जाते हैं। यह एकीकृत राजकीय योजना के तहत और उद्यमों के बीच आपूर्ति अनुबन्धों के अनुसार व्यवस्थित किया जाता है। विनिमय का यह रूप परिचलन में लगने वाले समय और धन को बचाता है, आपूर्ति-मांग सम्बन्धों को स्थिर करता है, और उत्पाद की गुणवत्ता सुधारने में मदद करता है। लेकिन विनिमय का यह रूप सभी स्थितियों में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। आम तौर पर, यह उन उद्यमों के लिए विनिमय का उपयुक्त रास्ता है जहां आपूर्ति व मांग काफी बड़ी मात्रा में होती है और उत्पादों के आपूर्ति-मांग सम्बन्ध स्थिर रहते हैं।

विनिमय का दूसरा रूप है भौतिक संसाधन विभागों द्वारा आपूर्ति। यह भी एकीकृत राजकीय योजना के तहत संचालित होता है। विनिमय के ऊपर उल्लिखित रूप की ही तरह से यह भी योजना आवण्टन के दायरे में आता है। लेकिन उत्पाद को भौतिक संसाधन विभाग के जरिए जाना होता है। किसी उत्पाद के आपूर्ति अनुबन्ध के अनुसार किसी राजकीय उद्यम द्वारा उत्पादित कच्चा माल, उपकरण आदि को पहले एकत्र करके राज्य की भौतिक संसाधन शाखाओं को भेजा जाना चाहिए। भौतिक संसाधन विभागों द्वारा आवश्यक प्रसंस्करण और व्यवस्था सम्बन्धी कार्रवाइयों के बाद खपत के लिए उद्यमों को इनकी आपूर्ति कर दी जाती है। विनिमय के इस रूप के तहत आने वाले कच्चे माल और उपकरणों की भारी मांग रहती है, हालांकि कुछ उद्यमों की मांग कम-कम की होती है। यदि उत्पादक उद्यमों द्वारा सभी सामानों की सीधे खपत करने वाले उद्यमों को आपूर्ति खुद करनी होती तो उत्पादक उद्यम को समय पर माल पहुंचाने के लिए आपूर्ति का लम्बा-चौड़ा तंत्र खड़ा करना पड़ता। परिणामस्वरूप, हालांकि सीधी आपूर्ति के रास्तों के बजाय राजकीय भौतिक संसाधन विभागों का इस्तेमाल करना अपेक्षाकृत धीमा और ज्यादा खर्चीला लगता है, पर वास्तव में, इससे भण्डारण और परिवहन के खर्चे कम हो जाते हैं और उत्पादन के साधन खपत करने वाले उद्योगों तक जल्दी पहुंच सकते हैं। इसके अलावा, चूंकि राज्य को उत्पादन के कुछ साधनों का सुरक्षित भण्डार रखना होता है और चूंकि राजकीय उद्यमों को भी कुछ उत्पादन के साधनों की मांग एकदम से बढ़ जाने का सामना करना पड़ सकता है (योजनागत कार्यभारों में परिवर्तन के कारण), इसलिए उत्पादन के साधनों की आपूर्ति के प्रबन्धन और संगठन के लिए भौतिक संसाधन विभागों की जरूरत बीच की कड़ी के रूप में होती है।

परिचलन का तीसरा रास्ता वाणिज्य विभागों द्वारा संगठित की जाने वाली आपूर्ति है। इसमें उत्पादन हेतु खपत और निजी उपभोग, दोनों के काम आने वाले उत्पाद आते हैं। इसमें छोटे कल-पुर्जे और सीमित उपयोग वाले छोटे उपकरण शामिल हैं। इन छोटे और चुनिन्दा उत्पादन के साधनों का प्रबन्धन वाणिज्य विभागों द्वारा किया जाना ज्यादा सुविधाजनक है ताकि उपयोग करने वाली इकाई उन्हें कभी भी बाजार से खरीद सके।

समाजवादी वाणिज्य के प्रभावों को पूरी तरह इस्तेमाल में लाओ

समाजवादी राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय मुख्यत: सीधी आपूर्ति द्वारा और बीच की कड़ी का काम कर रहे भौतिक संसाधन विभागों के जरिए होता है। वाणिज्य विभागों की मध्यस्थ की भूमिका इस किस्म के विनिमय के लिए अनिवार्य नहीं है। लेकिन राजकीय अर्थव्यवस्था और सामूहिक अर्थव्यवस्था के बीच, सामूहिक अर्थव्यवस्था के भीतर और इसके विभिन्न स्तरों एवं इकाइयों के बीच, तथा राज्य और मजदूरों एवं कर्मचारियों के बीच विनिमय में वाणिज्य विभागों द्वारा अपनी बिचौलिए की भूमिका को पूरी तरह निभाना आवश्यक है। इस समय, चीन के समाजवादी वाणिज्य के दो रूप हैं : राज्य द्वारा संचालित वाणिज्य और सामूहिक अर्थव्यवस्था द्वारा संचालित वाणिज्य। इन दोनों से मिलकर चीन का नियोजित और एकीकृत समाजवादी बाजार बनता है।

राजकीय वाणिज्य एकीकृत समाजवादी बाजार का मुख्य भाग और नेतृत्वकारी शक्ति होता है। यह खुदरा दुकानों की भारी बहुसंख्या और सभी थोक वाणिज्यिक कड़ियों को नियंत्रित करता है। राजकीय उद्योग द्वारा तैयार सभी उपभोक्ता सामग्रियां और उत्पादक मालों का एक हिस्सा राजकीय वाणिज्य द्वारा खरीदा जाता है। कृषि के गौण उत्पादों का ज्यादा हिस्सा और सामूहिक उद्यमों द्वारा तैयार औद्योगिक उत्पादों का एक हिस्सा भी पहले राजकीय वाणिज्य द्वारा खरीदा जाता है। राजकीय वाणिज्य विभाग मालों को उपभोक्ता तक पहुंचाते हैं। इन विभागों को नियोजित ढंग से देश की सारी आबादी को ध्यान में रखना होता है और समग्र योजना बनाने, उचित व्यवस्थाएं करने और बुनियादी रूप से महत्वपूर्ण बिन्दुओं की गारण्टी करने के सिद्धान्तों का पालन करना होता है। 1973 में, खुदरा व्यापार कर 93.5 प्रतिशत राजकीय वाणिज्य के तहत आ चुका था।

सामूहिक वाणिज्य राजकीय वाणिज्य की मदद करता है। सामूहिक वाणिज्य मुख्यत: ग्रामीण आपूर्ति और विपणन कोआपरेटिवों से सम्बन्धित होता है। शहरी कोआपरेटिव स्टोर भी सामूहिक स्वामित्व की प्रणाली के तहत वाणिज्य की श्रेणी में आते हैं।

चीन में, सर्वहारा द्वारा राज्यसत्ता पर कब्जे के बाद, एक बहुत बड़ा ग्रामीण बाजार मौजूद था जिसमें व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था हावी थी। यदि समाजवाद इसे नियंत्रण में लेने में असफल रहता तो यह बाजार पूंजीवाद के चंगुल में आ जाता और पूंजीवाद के फैलाव के लिए एक अड्डा बन

जाता। राजकीय वाणिज्य को सक्रियता से विकसित करने के साथ-साथ यह भी जरूरी था कि खुद अपने प्रयासों से सहकारी वाणिज्य विकसित करने के लिए जनता को जगाया जाए। सहकारी वाणिज्य राजकीय वाणिज्य का सहायक अंग है। यह आपूर्ति व मांग को नियमित करने, बाजार को नियंत्रित करने और दामों को स्थिर करने में सहायता करता है। व्यवहार ने यह दिखाया है कि चीन में आपूर्ति एवं विपणन कोआपरेटिवों की स्थापना एवं विकास ने समाजवादी वाणिज्य की ताकत बढ़ाने, व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के बीच के रिश्ते को खत्म करने, और व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था के समाजवादी रूपान्तरण में योगदान करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। बीस वर्ष के विकास के बाद ग्रामीण आपूर्ति एवं विपणन कोआपरेटिवों के वित्तपोषण और प्रबन्धन में काफी परिवर्तन आया है। जहां इनके निर्माण के शुरुआती दौर में शेयरों के जरिए धन जुटाया गया था, वहीं अब यह कोआपरेटिवों के कोष का बहुत छोटा हिस्सा रह गया है। तथ्य यह है कि आपूर्ति एवं विपणन कोआपरेटिव अब समस्त जनता के समाजवादी वाणिज्य का संघटक अंक बन चुके हैं।

सबसे पहले शहरी क्षेत्रों में अलग-अलग मजदूरों ने कोआपरेटिव स्टोर खोले थे। ये कोआपरेटिव व्यक्तिगत वाणिज्य से राजकीय वाणिज्य में संक्रमण का एक रूप थे। चीन के कई इलाकों में कोआपरेटिव स्टोर बहुत हद तक राज्य द्वारा संचालित स्टोरों में बदले जा चुके हैं। कुछ अन्य इलाकों में समाजवादी रूपान्तरण जारी रखने के लिए विभिन्न रूप अपनाये जा रहे हैं। मौजूदा कोआपरेटिव स्टोर शहरी नागरिकों को रोजमर्रा की छोटी-छोटी खरीदारी का सुविधाजनक जरिया मुहैया कराते हैं।

1973 में कुल खुदरा व्यापार का 7.3 प्रतिशत सामूहिक व्यापार के तहत था। दो तरह के समाजवादी वाणिज्य—राजकीय वाणिज्य और सामूहिक वाणिज्य—के अलावा ग्रामीण मेलों में भी कुछ व्यापार होता है। ग्रामीण व्यापार मेला व्यापार का एक ऐसा रूप है जिसका मेल निजी स्वामित्व के आधार पर माल विनिमय के साथ बैठता है। ग्रामीण व्यापार मेले समाजवादी नियोजित बाजार के पूरक हैं। यहां किसान अपने निजी जमीन के टुकड़ों पर उगायी गई चीजें और घरेलू गौण उत्पादों का वह हिस्सा (अपेक्षाकृत थोड़ी मात्राओं में) बेचते हैं जिसे वे न अपनी निजी जरूरतों के लिए रखते हैं और न ही राज्य को बेचते हैं। ग्रामीण व्यापार मेले सख्त सरकारी नियमों के तहत आयोजित किये जाते हैं। व्यापार मेले ऐसी जगहें होती हैं जहां किसान अपने पास मौजूद चीजों के बदले अपनी जरूरत की चीजें लेते हैं और जहां किसान शहरी जनता के साथ सीधे विनिमय करते हैं, कोई बिचौलिये व्यापारी नहीं होते।

ग्रामीण व्यापार मेलों का दोहरा चरित्र होता है। एक ओर, समाजवादी नियोजित बाजार के अनुलग्नक के रूप में, वे सामाजिक उत्पाद बढ़ाते हैं, टीम सदस्यों की आय बढ़ाते हैं और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को जीवन्त बनाते हैं। दूसरी ओर, ग्रामीण व्यापार मेले एक अनियोजित बाजार होते हैं। यदि उन्हें स्वत:स्फूर्त ढंग से और बेरोकटोक विकसित होने दिया गया तो वे समाजवादी नियोजित बाजार में हस्तक्षेप करेंगे और पूंजीवादी शक्तियों को पोषण देंगे। यदि समाजवादी व्यवस्था में ग्रामीण व्यापार मेलों को कुछ लम्बे समय तक बने रहने दिया जाता है तो उनपर मजबूत नेतृत्व और प्रबन्धन लागू करना जरूरी है ताकि उनके सकारात्मक प्रभावों को बढ़ाया जाए और नकारात्मक प्रभावों पर अंकुश लगाया जाए। तभी वे बेहतर ढंग से समाजवादी अर्थव्यवस्था की सेवा कर सकेंगे।

मुद्रा को समाजवादी विनिमय का सेवक होना चाहिए

समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा नये गुण और नये कार्य हासिल करने लगती है

मानव इतिहास में माल उत्पादन और माल विनिमय के विकास के एक निश्चित स्तर तक पहुंच जाने के बाद (सभी अन्य मालों के) सामान्य समतुल्य तथा हिसाब- किताब की इकाई के रूप में मुद्रा का जन्म हुआ। चूंकि समाजवादी समाज में माल उत्पादन और माल विनिमय अब भी मौजूद रहते हैं, इसलिए मुद्रा भी जरूरी है।

समाजवादी समाज में सामाजिक उत्पादन और सामाजिक श्रम के उत्पादों के दोहरे चरित्र के नाते मुद्रा की प्रकृति और कार्य बदलने लगते हैं।

माल उत्पादन और माल विनिमय के साथ अपने सम्बन्ध में, मुद्रा समाजवादी समाज में हिसाब-किताब की इकाई है। लेकिन अब यह पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित नहीं करती। पूंजीवादी माल उत्पादन और माल विनिमय, जो भाड़े के श्रम के शोषण का मूर्त रूप थे, से अब इस मुद्रा का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। मुद्रा का सम्बन्ध अब समाजवादी माल उत्पादन और विनिमय से होता है, जो दो मेहनतकश वर्गों—सर्वहारा तथा किसान—के भीतर और इनके बीच श्रम के परस्पर विनिमय का मूर्त रूप होते हैं। आइए, समाजवादी प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन में मुद्रा के गुणों का परीक्षण करते हैं।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के ऊपर अपने नियोजित नेतृत्व में, समाजवादी राज्य को सामाजिक श्रम को मापने के एकीकृत पैमाने के रूप में मुद्रा का इस्तेमाल करना होता है—चाहे वह उत्पादन लक्ष्यों के निर्धारण में हो, भौतिक संसाधनों के आवण्टन में, या फिर सकल सामाजिक उत्पाद के वितरण में हो। यानी, समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा एक नया गुण हासिल करने लगती है, अर्थात, राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन कार्य में श्रम को मापने के साधन के रूप में। समाजवादी प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन की प्रगति के साथ-साथ मुद्रा का यह नया गुण और महत्वपूर्ण होता जाता है। विकास के दौरान, माल उत्पादन एवं माल विनिमय के क्रमश: खात्मे के साथ-साथ हिसाब-किताब की इकाई के रूप में मुद्रा भी क्रमश: समाप्त हो जाएगी। लेकिन तब भी, राष्ट्रीय आर्थिक कार्य में श्रम की माप के किसी साधन की जरूरत बनी रहेगी।

समाजवादी समाज में निजी उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण में, लेखा की एक इकाई होने के अलावा मुद्रा श्रम प्रमाणपत्रों का भी काम करती है। समाजवादी राजकीय स्वामित्व के तहत विभागों में निजी उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण इस तरह होता है: राज्य ''हरेक से उसकी क्षमतानुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के सिद्धान्त के आधार पर मजदूरों व कर्मचारियों को वेतन का भुगतान करता है और मजदूर व कर्मचारी इस मुद्रा से अपनी आवश्यकता की उपभोक्ता सामग्रियां खरीदते हैं। यहां मुद्रा की भूमिका वैसी ही है, जैसी मार्क्स द्वारा वर्णित श्रम प्रमाणपत्रों की थी : ''श्रम प्रमाणपत्र मात्र इस बात का साक्ष्य है कि किसी व्यक्ति ने साझा श्रम में भाग लिया और वह उपभोग के लिए निर्धारित साझा पैदावार के एक हिस्से का हकदार है।''[5]

समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा की प्रकृति में बदलाव समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की विशिष्टताओं को प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन यह बदलाव मुद्रा के कार्यों में भी समाहित है।

मुद्रा का पहला कार्य मूल्य के मापक का है। समाजवादी समाज में

भी ऐसा ही होता है। समाजवादी समाज में, मालों में निहित सामाजिक श्रम को मापने के लिए मुद्रा के इस्तेमाल के अलावा राजकीय अर्थव्यवस्था के नियोजित प्रबन्धन के औजार के रूप में भी मुद्रा का एक काम है। समाजवादी राज्य मूल्य के मापक के रूप में मुद्रा के कार्य का इस्तेमाल मालों एवं उत्पादों के दाम तय करने और उत्पादन, लागतों तथा मुनाफे के लक्ष्य निर्धारित करने के लिए करता है, ताकि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियोजित ढंग से प्रबन्धन किया जा सके।

समाजवादी व्यवस्था के तीनों मुख्य विनिमय सम्बन्धों में मुद्रा परिचलन के माध्यम का काम करती है। समाजवादी समाज में मुद्रा का यह काम कागजी मुद्रा करती है। कागजी मुद्रा का अपना कोई मूल्य नहीं होता। यह मात्र मूल्य का प्रतीक होती है। चीन में, मूल्य के ये प्रतीक (या विधिक निविदाएं) पीपुल्स बैंक आफ चाइना द्वारा जारी 'रेनमिनबी' होती है। समाजवादी समाज परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा के कार्य का इस्तेमाल उद्योग एवं कृषि, शहर तथा देहात और राजकीय उद्यमों के बीच आर्थिक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करने के लिए करता है। हालांकि मुद्रा अब भी परिचलन का माध्यम रहती है, लेकिन कोई व्यक्ति इससे बड़ी मात्रा में उत्पादन के साधन या श्रमशक्ति नहीं खरीद सकता, जो कि पूंजीवाद के तहत मुद्रा की बुनियादी शर्त है। मुद्रा से केवल उपभोग की निजी वस्तुएं और दस्तकारी के काम आने वाले छोटे औजार ही खरीदे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में, परिचलन के साधन के रूप में मुद्रा की कार्रवाई के प्रभावी दायरे को बहुत सीमित कर दिया गया है।

समाजवादी समाज में, मुद्रा भुगतान के साधन के रूप में भी काम करती है। समाजवादी उद्यम मुद्रा के इस कार्य का इस्तेमाल राज्य को करों एवं मुनाफे का भुगतान करने, मजदूरों-कर्मचारियों को वेतन देने और बिरादराना उद्यमों के ऋण चुकाने के लिए करते हैं। समाजवादी राज्य मुद्रा के इस रूप का इस्तेमाल राज्य के बजटीय एवं ऋण कोषों को केन्द्रीकृत तथा वितरित करने के लिए करता है ताकि समाजवादी निर्माण को बेहतर ढंग से आगे बढ़ाया जा सके।

समाजवादी समाज में मुद्रा संचय एवं बचत के साधन के रूप में भी काम करती है। मेहनतकश जनता द्वारा सृजित शुद्ध सामाजिक आय मुद्रा के रूप में राज्य का समाजवादी संचय बन जाता है। मेहनतकश जनता को मेहनत के भुगतान का वह हिस्सा, जिसे अब तक खर्च नहीं किया गया है, भी मुद्रा के रूप में राजकीय बैंक में जमा कर दिया जाता है जिसका इस्तेमाल समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाने में किया जाता है।

समाजवादी राज्य के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों में, सोना (स्वर्ण) वैश्विक मुद्रा का काम करता है। समाजवादी राज्य की विदेशी सहायता और विदेश व्यापार में, सोना भुगतान के सार्वभौमिक साधन और सामाजिक सम्पदा के मूर्त रूप का काम करता है। चीन की नयी मुद्रा रेनमिनबी विश्व की एक अनूठी और स्थिर मुद्रा है और इसकी साख बढ़ रही है। चीन के विदेश व्यापार में ज्यादा से ज्यादा देश दामों की गणना तथा अन्तरराष्ट्रीय लेखा के साधन के तौर पर रेनमिनबी का इस्तेमाल कर रहे हैं।

समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना और इसके परिणामस्वरूप उत्पादन एवं विनिमय में होने वाले परिवर्तनों के कारण मुद्रा में प्रतिबिम्बित उत्पादन सम्बन्ध और इसके द्वारा किये जाने वाले कार्य पूंजीवादी समाज से बहुत भिन्न होते हैं। पूंजीवादी समाज में, मुद्रा पूंजी में बदली जाती है जिसका इस्तेमाल पूंजीपति श्रमशक्ति और उत्पादन के साधनों को खरीदने में करता है ताकि मजदूर से अतिरिक्त श्रम निचोड़ा जा सके। बुर्जुआ राज्य मुद्रा छापने के अपने अधिकार का इस्तेमाल अपने वित्तीय घाटे को ढंकने के लिए करता है। इससे मुद्रास्फीति पैदा होती है और मेहनतकश जनता की तकलीफें बढ़ जाती हैं। बुर्जुआ राज्य अपनी राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर धावा बोलने और विस्तार करने तथा अतिलाभ बटोरने के लिए भी मुद्रा का इस्तेमाल करता है। समाजवादी समाज में, मुद्रा जारी करना तथा इसका प्रबन्धन मुख्यत: सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राज्य के हाथों में होता है तथा मुद्रा का इस्तेमाल सामाजिक उत्पाद पर व्यय हुए श्रम की माप व गणना के लिए और उद्योग एवं कृषि के बीच तथा विभिन्न राजकीय उद्यमों के बीच आर्थिक कड़ियों को मजबूत बनाने के लिए भी किया जाता है। मुद्रा व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण में भी मदद करती है जो ''प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार, प्रत्येक को उसके काम के अनुसार'' के समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है। मुद्रा एक औजार है जिसका इस्तेमाल सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राज्य वर्ग संघर्ष चलाने के लिए, समाजवादी उत्पादन के प्रशासन के लिए और उत्पादों के वितरण के लिए करता है।

लेकिन मुद्रा मालों की तरह होती है : यह निजी अर्थव्यवस्था का एक अवशेष, ''बीते हुए कल के शोषण से बची हुई चीज'' है।[6] समाजवादी अर्थव्यवस्था के लिए मुद्रा का इस्तेमाल करते समय हमें इसका ध्यान रखना चाहिए। समाजवादी समाज में सामान्य समतुल्य तथा लेखा की इकाई के रूप में मुद्रा अब भी सामाजिक सम्पदा का मूर्त रूप होती है। मूल्य की माप, परिचलन के साधन, भुगतान के साधन, बचत के साधन और विश्व मुद्रा के रूप में मुद्रा के कार्य अब भी कारगर होते हैं। यह पुराने समाज से ज्यादा भिन्न नहीं है। मुद्रा का अस्तित्व पूंजीवाद और नये बुर्जुआ तत्वों को पैदा करने वाली जमीन बना रहता है।

''मालों के माल (मुद्रा) की खोज की जा चुकी थी, जो कि दूसरे सभी मालों को अपने भीतर छुपाए रखता है, वह जादुई उपकरण जो अपनी मर्जी से किसी भी इच्छित और वांछित चीज में बदल सकता है।''[7] मुद्रा के रूप में बुर्जुआ अधिकार संकेन्द्रित रूप में अभिव्यक्त होता है। मुद्रा के समक्ष लोग औपचारिक तौर पर समान होते हैं। कोई भी मुद्रा का मालिक बन सकता है। कोई भी मुद्रा का इस्तेमाल करके अपनी जरूरत की चीजें खरीद सकता है। यह सबके लिए एक जैसी होती है। लेकिन वास्तव में इस समानता में असमानता निहित होती है। जिनके पास ज्यादा मुद्रा होती है, वे न केवल ज्यादा ऐशो-आराम से रह सकते हैं, बल्कि किन्हीं परिस्थितियों में दूसरों का शोषण भी कर सकते हैं। पूंजीवादी समाज में, फैक्ट्री चलाना, सट्टेबाजी, सूदखोरी और भ्रष्टाचार सारत: एक ही चीज होते हैं। ये सभी दूसरे के श्रम का मालिक बनने और ज्यादा धन कमाने के शोषणकारी तरीके हैं। समाजवादी समाज में, न केवल काम के अनुसार धन के वितरण की व्यवस्था में असमानता निहित होती है, बल्कि यह सम्भावना भी होती है कि मुद्रा के जरिए विनिमय का इस्तेमाल करके कोई किसी दूसरे के श्रम पर मालिकाना कायम कर ले। जाहिरा तौर पर, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत ये शोषणकारी गतिविधियां अवैध होती हैं। लेकिन जब तक मुद्रा का अस्तित्व है, शहर और गांव की नयी-पुरानी पूंजीवादी शक्तियां कानून तोड़ने का जोखिम उठाकर सट्टेबाजी करने, गुप्त कारखाने चलाने, सूदखोरी आदि में लगी रहेंगी ताकि दूसरों का श्रम खरीद सकें और भारी मात्रा में धन बटोर सकें। ड्यूहरिंग द्वारा आर्थिक कम्यूनों की चर्चा की आलोचना करते हुए एंगेल्स ने कहा है, ''बिना कोई सवाल पूछे मुद्रा के रूप में भुगतान स्वीकार करके कम्यून इस सम्भावना के लिए दरवाजा खुला छोड़ देता है कि यह मुद्रा व्यक्ति के खुद के श्रम

के अलावा किसी तरीके से हासिल की गई होगी। *नॉन ओलेत* (इसमें गंध नहीं आती)। कम्यून को पता नहीं कि यह कहां से आती है।''[8] लेनिन ने भी कहा है : ''(जब तक) हम मुद्रा को समाप्त नहीं कर देते... हमें संविधान में, शब्दों में समानता से काम चलाना होगा; हमें एक ऐसी स्थिति से काम चलाना होगा जिसमें जिसके पास भी मुद्रा है, व्यवहार में उसे शोषण करने का अधिकार प्राप्त है।''[9]

एंगेल्स और लेनिन का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि जब तक मुद्रा का अस्तित्व है, यह किन्हीं स्थितियों में पूंजी में परिवर्तित होती रहेगी और नये बुर्जुआ तत्वों को पैदा करती रहेगी। समाजवादी निर्माण की सेवा के लिए मुद्रा का इस्तेमाल करते समय हमें इस बारे में बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए। मुद्रा की हानिकारक गतिविधियों पर सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा रोक लगाई जानी जरूरी है। मुद्रा का इस्तेमाल करके मजदूरों को भाड़े पर रखने और उनका शोषण करने और सट्टेबाजी तथा सूदखोरी जैसी गैरकानूनी गतिविधियों पर सख्ती से हमला करके कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए।

समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना और माल उत्पादन तथा माल विनिमय में बुर्जुआ अधिकार पर रोक लगाने के परिणामस्वरूप मुद्रा के इस्तेमाल से जुड़े सम्भावित नुकसानदेह प्रभावों पर पहले ही अंकुश लगा होता है। मुद्रा अन्धभक्ति के सामाजिक एवं आर्थिक आधार काफी कमजोर हो जाते हैं। लेकिन चूंकि मुद्रा अब भी विनिमय-मूल्य का स्वतंत्र रूप होती है, इसलिए मुद्रा अब भी ''सम्पदा का वह शुद्धत: सामाजिक रूप होती है जिसे कभी भी इस्तेमाल किया जा सकता है।''[10] मुद्रा से लगभग हर माल का विनिमय किया जा सकता है। इसलिए, यह सम्भव नहीं है कि मुद्रा अन्धभक्ति कुछ ही दिनों में गायब हो जाए। ल्यू शाओ-ची तथा लिन पियाओ और इसकी मण्डली ने भौतिक उत्प्रेरणों की वकालत की। उन्होंने ऐसे नारे दिये : ''छोटी पूंजी से भारी मुनाफा कमाओ'' और ''आओ हम सब धनी बनें।'' हमें शोषक वर्गों के ऐसे विचारों की बार-बार आलोचना कर उन्हें ध्वस्त करना चाहिए, जैसे : ''धन से तो देवताओं को भी रिश्वत दी जा सकती है'', ''पैसा हो तो भूत भी गेहूं पीसने लगें'', और ''तरक्की करो, अमीर बनो।'' ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ मण्डली ने मेहनतकश जनता के दिमाग में मुद्रा अन्धभक्ति का जहर भरने और समाजवादी को नुकसान पहुंचाने की जीतोड़ कोशिश की। मुद्रा अन्धभक्ति को कमजोर करने और क्रमश: खत्म करते जाने के लिए और कदम उठाते समय हमें इसके सामाजिक एवं आर्थिक आधार को कमजोर करने के लिए आवश्यक स्थितियां निर्मित करनी चाहिए, और हमें उन पुराने व नये बुर्जुआ तत्वों के खिलाफ संघर्ष एक पल के लिए भी नहीं रोकना चाहिए जो मुद्रा का इस्तेमाल भ्रष्टाचार, चोरी, रिश्वतखोरी, सट्टेबाजी व गुप्त कारखाने चलाने जैसी आपराधिक गतिविधियों के लिए करते हैं। साथ ही, हमें भौतिक उत्प्रेरण की वकालत करने वाले आज के संशोधनवादियों के खिलाफ सख्त फैसला सुनाना होगा। हमें व्यापक जन समुदाय के बीच मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा का प्रचार-प्रसार करना चाहिए, क्रान्ति के लिए काम करने की उन्नत भावना को बढ़ावा देना चाहिए और क्रान्ति जारी रखने पर जोर देना चाहिए। मुद्रा अन्धभक्ति के विरुद्ध संघर्ष उन अनिवार्य साधनों में से एक है जिनसे सर्वहारा बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करता है। समाजवाद की पूरी ऐतिहासिक अवधि में यह सर्वहारा वर्ग तथा समस्त मेहनतकश जनता का एक महत्वपूर्ण कार्यभार है।

समाजवादी निर्माण की सेवा करने के लिए मुद्रा परिचलन के नियम में दक्ष बनो

उत्पादन, विनिमय, वितरण, और उपभोग की प्रक्रिया में मालों के चलन के अनुसार मुद्रा का चलन होता है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन और विनिमय अन्धाधुन्ध और स्वत:स्फूर्त ढंग से चलते हैं। बाजार में मुद्रा का परिचलन भी अन्धाधुन्ध और स्वत:स्फूर्त ढंग से होता है। समाजवादी उत्पादन, विनिमय और वितरण योजनानुसार चलते हैं। समाजवादी समाज नियोजित ढंग से मुद्रा की आपूर्ति बढ़ा-घटा सकता है। और वह मुद्रा के जरिए विनिमय में बुर्जुआ अधिकार पर अंकुश लगा सकता है, मुद्रा के इस्तेमाल से जुड़े खतरों से बचाव के कदम उठा सकता है और यह सुनिश्चित कर सकता है कि मुद्रा समाजवादी निर्माण की सेवा करे। नियोजित मुद्रा परिचलन को सम्भव बनाने के लिए यह जरूरी है कि पहले समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा के चलन को तथा मुद्रा परिचलन के वस्तुगत नियम को समझ लिया जाए।

समाजवादी समाज में राजकीय उद्यमों के बीच विनिमय में आम तौर पर, वास्तविक मुद्रा (नकद) के लेन-देन की जरूरत नहीं पड़ती। विनिमय प्रक्रिया में दाम की गणना मुद्रा को मूल्य के मापक के तौर पर इस्तेमाल करके की जाती है। मूल्य के मापक के तौर मुद्रा के काम करते समय नकदी मौजूद रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती। सिर्फ मुद्रा की अवधारणा की आवश्यकता होती है। उद्यमों के बीच विनिमय में भुगतान आम तौर पर राजकीय बैंक में खातों के समाशोधन के जरिए होती है, अत: इसके लिए भी मुद्रा के लेन-देन की आवश्यकता नहीं पड़ती।

समाजवादी समाज में मुद्रा जारी करने और वसूली के चार मुख्य रास्ते हैं।

पहला, राजकीय उद्यम, व्यावसायिक इकाइयां और राज्य के अंग कर्मचारियों व मजदूरों को वेतन देने के लिए राजकीय बैंक से मुद्रा लेते हैं। कर्मचारी और मजदूर व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियां तथा अन्य खर्चों के लिए अपने वेतन से भुगतान करते हैं। इस तरह, मुद्रा वाणिज्यिक क्षेत्र और सेवा क्षेत्र से होकर वापस बैंक में पहुंच जाती है। इसके अलावा, कर्मचारी व मजदूर बिना किसी माल विनिमय के, सीधे बैंक में मुद्रा जमा करके बचत कर सकते हैं।

दूसरा, वाणिज्यिक शाखाएं, ग्रामीण सामूहिक अर्थव्यवस्था से कृषि एवं अन्य गौण उत्पाद खरीदने के लिए राजकीय बैंक से मुद्रा लेती हैं। इन उत्पादों की बिक्री से प्राप्त धन के एक हिस्से का इस्तेमाल सामूहिक इकाइयां रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक, कृषि उपकरण तथा उत्पादन के अन्य साधन राज्य से खरीदने के लिए करती हैं। इस तरह से, धन का यह हिस्सा वापस बैंक में लौट आता है। सामूहिक अर्थव्यवस्था की मुद्रा में हुई आय का एक अन्य हिस्सा सामूहिक फार्म के किसानों को, उनके द्वारा किये गये श्रम के अनुपात में, बांट दिया जाता है। किसान इसका इस्तेमाल वाणिज्यिक शाखाओं से औद्योगिक उत्पाद खरीदने में या फिर बचत के लिए करते हैं। इस तरह, मुद्रा का यह हिस्सा भी अन्तत: बैंक के पास लौट आता है।

तीसरा, व्यापार मेलों में खरीद के जरिए शहरी जनता की मुद्रा आय का एक हिस्सा भी परिचलन में आता है। लेकिन यह भी अन्त में, किसानों द्वारा औद्योगिक उत्पादों की खरीद एवं बचत खातों के जरिए वापस बैंक के पास लौट आता है।

चौथा, राजकीय उद्यमों, व्यावसायिक इकाइयों और राज्य के अंगों के बीच आर्थिक लेन-देन मुख्यत: ऋणपत्रों के आधार पर होता है। लेकिन कुछ चुनिन्दा और छोटे-छोटे भुगतानों के लिए नकदी की आवश्यकता होती

है। राजकीय उद्यम, व्यावसायिक इकाइयां और राज्य के अंग राज्य द्वारा निर्दिष्ट मात्रा में ही नकदी अपने पास रख सकते हैं। इस सीमा से ऊपर की कोई भी राशि राजकीय बैंक में जमा करनी होती है। इसलिए, इसतरह के परिचलन के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा बहुत कम होती है।

मुद्रा परिचलन के ये रास्ते समाजवादी माल विनिमय से बहुत नजदीकी से जुड़े हैं। मुद्रा परिचलन का निर्धारण माल परिचलन से होता है। मार्क्स द्वारा व्याख्यायित मुद्रा परिचलन के नियम के अनुसार मुद्रा परिचलन का सूत्र इस प्रकार है :

$$\text{परिचलन के साधन के रूप में मुद्रा की मात्रा} = \frac{\text{मुद्रा में मालों का कुल मूल्य}}{\text{मुद्रा के परिचलन का वेग}}$$

यह सूत्र समाजवादी व्यवस्था में भी लागू होता है। यह सूत्र कहता है कि किसी निश्चित अवधि में परिचलन के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा का, मालों के मुद्रा के रूप में कुल मूल्य से सानुपातिक और मुद्रा परिचलन के वेग से विलोमानुपातिक सम्बन्ध होता है। चूंकि कागजी मुद्राएं महज मूल्य का प्रतीक होती हैं, इसलिए परिचलन के लिए आवश्यक मात्रा के अनुसार ही मुद्रा जारी होनी चाहिए। इसी तरीके से मुद्रा का मूल्य स्थिर रखा जा सकता है और एक गतिशील समाजवादी अर्थव्यवस्था में इसकी सक्रिय भूमिका का पूरा इस्तेमाल किया जा सकता है। यदि बहुत कम मुद्रा जारी की गई, तो परिचलन के दायरे में मालों का ढेर लग जाएगा (क्योंकि विनिमय के माध्यम का अभाव हो जाएगा) और वे समय पर उपभोक्ता तक नहीं पहुंचेंगे। यदि बहुत अधिक मुद्रा जारी कर दी गई तो नतीजा यह होगा कि मालों की तुलना में बहुत अधिक मुद्रा बाजार में आ जाएगी और व्यापार मेलों में मालों के दाम बढ़ जाएंगे और कागजी मुद्रा का मूल्य फिर गिर जाएगा। समाजवादी राज्य मुद्रा परिचलन के रास्तों के नियोजित नियमन के द्वारा मुद्रा परिचलन और माल परिचलन में मेल बनाये रखने तथा समाजवादी उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग के नियोजित चलन को बढ़ावा देने के लिए मुद्रा परिचलन के नियम का योजनाबद्ध ढंग से इस्तेमाल करता है।

जैसा कि पहले इंगित किया गया है, चीन की रेनमिनबी विश्व की एक अनूठी और स्थिर मुद्रा है। अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में चीन के उद्योग एवं कृषि का लगातार विकास हुआ है, वित्तीय राजस्व भरपूर है और अन्तरराष्ट्रीय भुगतान सन्तुलित हैं। मजबूत समाजवादी अर्थव्यवस्था चीन की मुद्रा के लिए एक स्थिर भौतिक आधार प्रदान करती है और राज्य को अवसर देती है कि जनता की बढ़ती क्रयशक्ति के अनुरूप वह बाजार में स्थिर दामों पर बड़ी संख्या में माल उतार सके। रेनमिनबी के मूल्य में स्थिरता राज्य द्वारा मुद्रा परिचलन के नियम के सचेतन इस्तेमाल तथा आय एवं नकद भुगतान के बीच सन्तुलन कायम करने के लिए मुद्रा परिचलन के नियोजित प्रबन्धन का परिणाम है। एक ओर, मजदूरों एवं कर्मचारियों की संख्या, वेतन वृद्धि की दर, और राजकीय उद्यमों, व्यावसायिक इकाइयों एवं राज्य के अंगों की क्रय शक्ति के योजनाबद्ध नियमन तथा कृषि उत्पादों के खरीद दामों के नियमन के जरिए राज्य मुद्रा जारी करने पर नियंत्रण रखता है। दूसरी ओर, शहरी एवं ग्रामीण आबादी की जरूरतों के लिए समय पर और पर्याप्त मात्रा में मालों की आपूर्ति करके, नियोजित ढंग से दामों का नियमन करके तथा लोगों को बचत के लिए प्रोत्साहित करके राज्य परिचलन से मुद्रा की वापसी को संगठित करता है। इस तरह से, परिचलन में मौजूद रेनमिनबी की मात्रा परिचलन के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा से मेल खाती है, और इस तरह रेनमिनबी का मूल्य स्थिर बना रहता है।

समाजवादी समाज में मुद्रा परिचलन का योजनाबद्ध नियमन राजकीय बैंक के जरिए चलता है। चीन में, पीपुल्स बैंक राजकीय बैंक है। पीपुल्स बैंक आफ चाइना— जो रेनमिनबी जारी करता है और उत्पादन के विकास एवं माल परिचलन की आवश्यकताओं के अनुसार नियोजित ढंग से मुद्रा परिचलन का नियमन करता है—नकदी आय एवं निर्गमन का एक राष्ट्रव्यापी केन्द्र बन जाता है। पीपुल्स बैंक आफ चाइना राज्य की सभी आर्थिक शाखाओं, उद्यमों एवं इकाइयों के बीच सभी गैर नकदी लेन-देन का एक राष्ट्रव्यापी क्लियरिंग हाउस है। यह एक राष्ट्रव्यापी ऋण केन्द्र भी है जो प्राप्तियों, भुगतानों एवं जमा के रूप में अपने पास मौजूद धन के जरिए निष्क्रिय मुद्रा का भी इस्तेमाल करता है। संक्षेप में, मुद्रा सम्बन्धी लेखा एवं भुगतान की सभी गतिविधियां राजकीय बैंक की केन्द्रीय धुरी से विकसित होती हैं। समाजवादी बैंक एक आर्थिक संगठन ही नहीं, बल्कि सर्वहारा राज्य की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन का प्रभारी राजकीय बैंक भी होता है। यह समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

मार्क्स, **पूंजी** खण्ड 1, अध्याय 3
स्तालिन, **सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं**

समीक्षात्मक प्रश्न

1. समाजवादी विनिमय की नयी विशिष्टताएं और अभिलाक्षणिकताएं क्या हैं? समाजवादी उत्पाद विनिमय और माल विनिमय में क्या अन्तर है?

2. संगठन के वे कौन से रूप और कौन से रास्ते हैं जिनके जरिए समाजवादी उत्पाद विनिमय और माल विनिमय पूरे होते हैं?

3. समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा की प्रकृति और कार्य की क्या विशिष्टताएं हैं? समाजवादी राज्य मुद्रा परिचलन को नियोजित ढंग से कैसे संगठित कर सकता है?

टिप्पणियां

1. मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना,** विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1972, पृष्ठ 15.

2. लेनिन, ''लेबर नेशनल डिफेन्स कमेटी द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के सोवियत निकायों को निर्देश (प्रारूप)'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 32, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 385

3. एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत खण्डन,** विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1976, अंग्रेजी संस्करण, पृष्ठ 186

4. माओ, ''जापान विरोधी युद्ध में आर्थिक और वित्तीय समस्याएं'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 3, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 111

5. मार्क्स, **पूंजी,** खण्ड 1, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 97-98

6. लेनिन, ''प्रौढ़ शिक्षा पर पहली अखिल रूसी कांग्रेस : स्वतंत्रता एवं समानता के नारों से जनता के साथ छल'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं**, अंग्रेजी संस्करण, खण्ड 29, पृ. 358

7. एंगेल्स, **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति**, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1978, पृ. 201

8. एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत खण्डन,** विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1976, अंग्रेजी संस्करण, पृष्ठ 395

9. लेनिन, प्रौढ़ शिक्षा पर पहली अखिल रूसी कांग्रेस'', **सम्पूर्ण रचनाएं,** खण्ड 29, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 358

10. मार्क्स, **पूंजी,** खण्ड 1, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 132

(चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक **फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी** (***दि शंघाई टेक्स्टबुक*** के नाम से प्रसिद्ध) के अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद **: सत्यम वर्मा**)

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त'
पुस्तक दो खण्डों में **राहुल फाउण्डेशन,** 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010 से प्रकाशित हुई है।

●

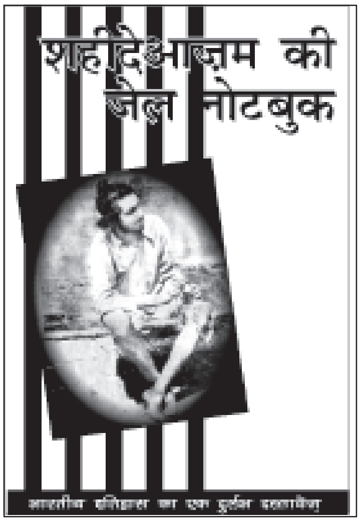

शहीदेआजम की जेल नोटबुक

एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य
भारतीय इतिहास का एक
दुर्लभ दस्तावेज
हिन्दी मेंपहली बार प्रकाशित

50 रु. (पेपरबैक) 100 रु. (सजिल्द)

परिकल्पना प्रकाशन

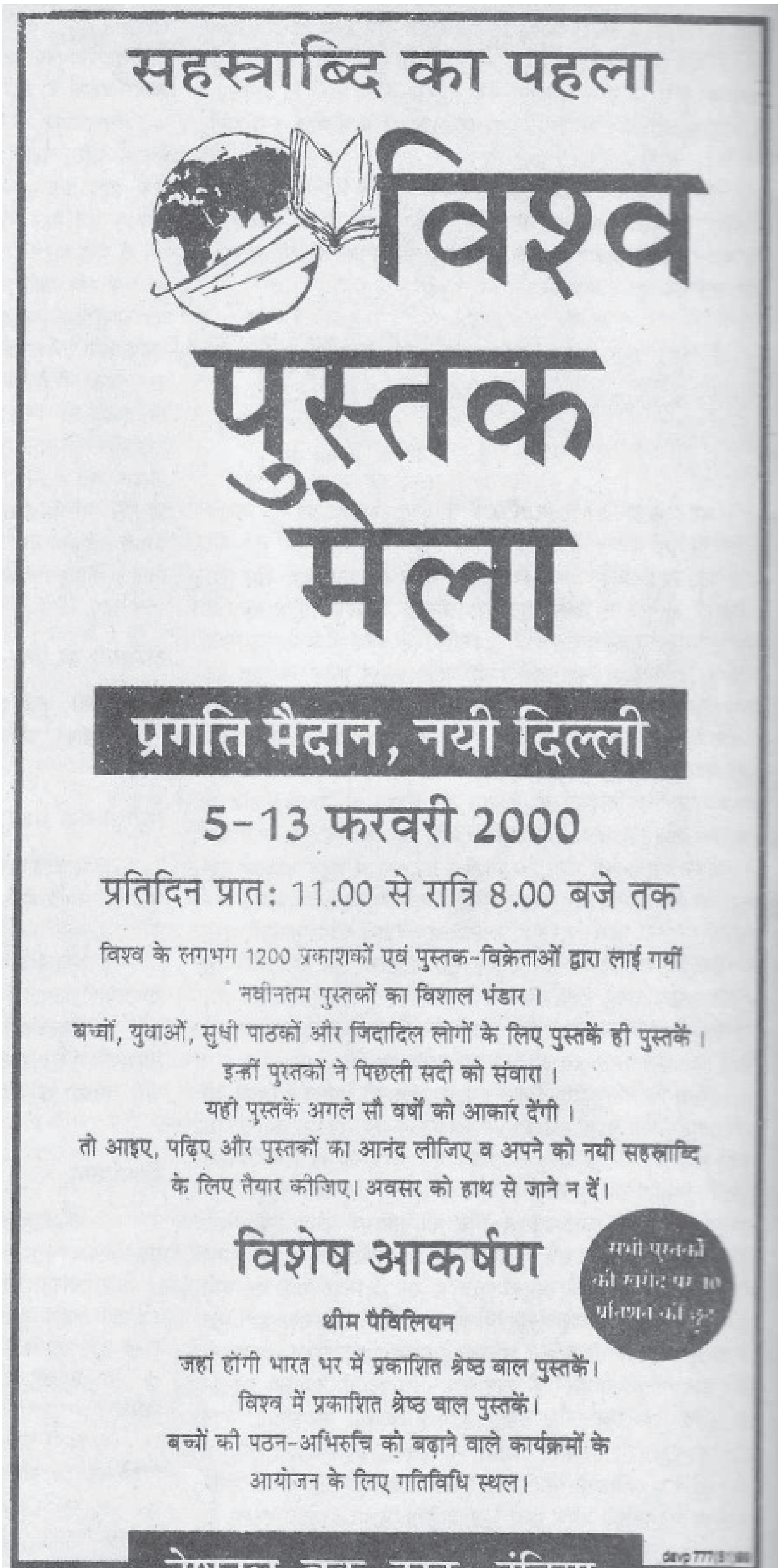

कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में

(पृष्ठ 36 का शेष)

में तब्दील हो गया था; यहां वह उन दार्शनिक बदलावों से गुजरा जिनका लाक्षणिक प्रतिनिधित्व ग्रुन कर रहे थे। लेकिन इसके पूर्व ही समाजवाद के इस नये मतवाद पर एक सर्वहारावर्गीय मुहर लग चुकी थी जो वाइटलिंग के प्रचार और लेखों के चलते ही सम्भव हो सका था। जैसा कि मार्क्स ने 1844 में पेरिस वोरवार्ट्स में कहा था, ''यह पालने में मौजूद महाकाय था''।

17. यही वह चीज है, जिसे कई लोग मार्क्सवाद कहते हैं। मार्क्सवाद एक मतवाद है और मतवाद ही रहेगा। पार्टियां न तो इसके आधार पर अपना नाम रख सकती हैं और न ही इसमें अपना औचित्य खोज सकती हैं। ''मैं मार्क्सवादी नहीं हूं''—अन्दाजा लगाइये कि यह बात किसने कही होगी? स्वयं मार्क्स ने।

18. उन्होंने ही मार्क्स और लीग के बीच प्रारम्भिक सम्बन्ध कायम कराये थे और *घोषणापत्र* के प्रकाशन में मध्यस्थ की भूमिका भी उन्हीं की थी। मुर्ग में 1849 में हुए जनविद्रोह के दौरान वे खेत रहे थे।

19. मार्क्स की **पूंजी**, ग्रंथ 3, हैम्बर्ग, 1849, पृ. xix-xx, 1845 वाली तारीख का उल्लेख मुख्यत: डाई हीलिगे फैमिली, फ्रैंकफुर्ट, 1845 के लिए है, जिसकी प्रस्तुति मार्क्स और एंगेल्स के सहकर्म के रूप में हुई थी। ऐतिहासिक भौतिकवाद की सैद्धान्तिक उत्पत्ति को समझने के खयाल से यह पुस्तक अपरिहार्य है।

20. मैं कैबे पर आकर रुकता हूं जो *घोषणापत्र* के प्रकाशन के समय जीवित थे। मेरे ख्याल से मुझे बेल्लामी और हर्त्तजका जैसे लोगों के बिखरे-बिखरे रूपों तक नहीं जाना चाहिए।

21. सत्रहवीं सदी के बाल्जाक।

22. यही वे लेखक थे, जिनके बारे में मेंगेर का खयाल था कि उसने वैज्ञानिक समाजवाद के लेखक को खोज निकाला है।

23. यही कारण है कि कुछ आलोचक, मसलन वीजर, रिकार्डो के मूल्य सिद्धान्त को ही खारिज कर देने का प्रस्ताव रखते हैं, क्योंकि यह समाजवाद की ओर ले जाता है।

24. गौरतलब है इसी क्रम में फ्रांस में सामाजिक राजतंत्र के भ्रम का उदय हुआ है, जिसके अनुसार उदारपंथी युग की समाप्ति के बाद यह व्यवस्था सुसंगत ढंग से उस चीज का समाधान कर देगी, जिसे सामाजिक प्रश्न बताया जा रहा है। यही विसंगति अपना पुनरुत्पादन समाजवाद की अथाह दूसरी किस्मों के रूप में भी करती है। जिनके उदाहरण उपदेशकों के समाजवाद से लेकर राज्य समाजवाद तक बिखरे पड़े हैं। काल्पनिकतावाद के विभिन्न विचारधारात्मक और धार्मिक रूपों के साथ एक नया काल्पनिकतावाद आ जुड़ा है, जो नौकरशाहाना और वित्तीय काल्पनिकतावाद है, जिसे मूर्खों का काल्पनिकतावाद भी कह सकते हैं।

25. मसलन, य. रोजर्स के निबन्धों में।

26. कुछ वर्ष पूर्व ऐसा किसने सोचा होगा कि कभी प्राचीन बेबीलोनिया के कानून की खोज और उसकी आधिकारिक व्याख्या भी हो जायेगी?

27. तीसरे जर्मन संस्करण की टिप्पणी 189, पृ. 740

अनुवाद : **चन्द्रभूषण**

(*'समाजवाद का सपना : संघर्ष के डेढ़ सौ साल'*, **ग्रंथशिल्पी प्रकाशन** से साभार)

कम्युनिस्ट घोषणापत्र : आज भी सही...

(पृष्ठ 43 का शेष)

रूप से सुदृढ़ बनाने में बुर्जुआ वर्ग को चार शताब्दियां लग गयीं। दरअसल, वे शोषण की एक नयी व्यवस्था के लिए संघर्ष कर रहे थे।

सर्वहारा क्रान्ति पूर्व के सभी मानवीय उद्यमों से भिन्न है। इसलिए, यदि हमारी क्रान्ति को कठिनाइयों और पराजयों का सामना करना पड़ रहा है तो हमें दिल छोटा नहीं करना चाहिए।

हम यहां अगली सहस्राब्दी के उदय की पूर्ववेला में खड़े हैं। बुर्जुआ वर्ग हमारी दृष्टि को संकुचित करने की कोशिश कर रहा है। वे हमें यह विश्वास दिलाने की कोशिश कर रहे हैं कि पूंजीवाद का कोई विकल्प नहीं है, पूंजीवाद से आगे कोई भविष्य नहीं है। लेकिन, हमारे पास एक भिन्न दुनिया का सृजन करने का ऐतिहासिक अनुभव मौजूद है। और आज की दुनिया में कम्युनिज्म जीवित और भला-चंगा है।

भाइयो और बहनो! *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* आज भी सही है, आज भी खतरनाक है और आज भी नाउम्मीदों की उम्मीद है।

(माओवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री रेमण्ड लोट्टा द्वारा कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर न्यूयार्क सिटी में आयोजित समारोह में 1 मई 1998 को दिया गया भाषण।)

('रिवोल्यूशनरी वर्कर' से साभार)

अनुवाद : **अरविन्द सिंह**

अगर तुम युवा हो

गरीबों-मजलूमों के नौजवान सपूतो !
उनहें कहने दो कि क्रान्तियां मर गईं
जिनका स्वर्ग है इसी व्यवस्था
के भीतर।
तुम्हें तो इस नर्क से बाहर
निकलने के लिए
बन्द दरवाजों को तोड़ना ही होगा,
आवाज उठानी ही होगी
इस निजामे-कोहना के खिलाफ।
यदि जुम चाहते हो
आजादी, न्याय, सच्चाई, स्वाभिमान
और सुन्दरता से भरी जिन्दगी
तो तुम्हें उठाना ही होगा
नये इंकलाब का परचम फिर से।
उन्हें करने दो 'इतिहास के अन्त'
और 'विचारधारा के अन्त' की
अन्तहीन बकवास।
उन्हें पीने दो पेप्सी और कोक और
थिरकने दो माइकल जैक्सन की
उन्मादी धुनों पर।
तुम गाओ
प्रकृति की लय पर जिन्दगी के गीत।
तुम पसीने और खून और मिट्टी
और रोशनी की बातें करो।
तुम बगावत की धुनें रचो।
तुम इतिहास के रंगमंच पर
एक नये महाकाव्यात्मक नाटक
की तैयारी करो।
तुम उठो,
एक प्रबल वेगवाही
प्रचण्ड झंझावात बन जाओ!

उन नौजवानों की पत्रिका जिन्होंने
जीवन और संघर्ष में उम्मीदें नहीं छोड़ी हैं

आह्वान कैम्पस टाइम्स

समाज परिवर्तन की क्रान्तिकारी राह पर चलने वाले छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादकीय कार्यालय : संस्कृति कुटीर,
कल्याणपुर, गोरखपुर-273001

नये वर्ष में मेहनतकशों की हड़तालों-आन्दोलनों की लहर और इसकी विफलता के सबक

इस नये वर्ष की शुरुआत देश के अनेक हिस्सों में मजदूरों की व्यापक हड़तालों के साथ हुई। भारतीय जनता पार्टी के शासन में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर बेतहाशा तेजी के साथ अमल के बाद पहली बार इतने बड़े पैमाने पर हड़तालों का सिलसिला शुरू हुआ था। उत्तर प्रदेश के बिजली मजदूरों, देश भर के बन्दरगाह-गोदी मजदूरों की हड़तालों के साथ-साथ राजस्थान और जम्मू कश्मीर के कर्मचारियों की हड़ताल ने भी जोर पकड़ लिया था। उत्तर प्रदेश में करीब सवा लाख बिजली मजदूर और कर्मचारी बारह दिन तक हड़ताल पर रहे। देश भर के 11 प्रमुख बन्दरगाहों के लगभग एक लाख से ज्यादा मजदूरों की हड़ताल लगभग एक सप्ताह तक चली। राजस्थान और जम्मू-कश्मीर के राज्य कर्मचारियों की हड़ताल लगभग डेढ़ महीने से तमाम सरकारी दमन के बावजूद जारी रही। आंध्र प्रदेश में जूनियर डाक्टरों की हड़ताल बीस दिन से अधिक तक चलती रही।

उदारीकरण की नीतियां लागू होने के बाद से ही बढ़ती बदहाली-तबाही के कारण हड़तालों-आन्दोलनों का सिलसिला दरअसल कभी रुका ही नहीं है। देश के अलग-अलग हिस्सों में जनता के अलग-अलग तबके अपनी-अपनी मांगों को लेकर लगातार लड़ते रहे हैं। लेकिन पहली बार अर्थव्यवस्था के दो महत्वपूर्ण सेक्टरों के मजदूरों ने एक साथ और इतने बड़े पैमाने पर हड़ताल की थी।

इन हड़तालों ने कई बातें साफ कर दीं। नई आर्थिक नीतियों के कारण पिछले कुछ वर्षों में जनता पर जिस कदर तबाही-बर्बादी का कहर टूट पड़ा है, उसके दबाव में मेहनतकशों के विभिन्न तबकों के आन्दोलनों का सिलसिला अब थमने वाला नहीं है। यह तो महज शुरुआत है। लेकिन यह भी साफ हो गया है कि यूनियनों के नेतृत्व में बैठे लोग न तो ईमानदारी से कोई लड़ाई लड़ना चाहते हैं और न ही उनमें इसकी क्षमता रह गई है। इस बार भी मजदूरों-कर्मचारियों के भारी दबाव के ही चलते नेतृत्व को हड़ताल का आह्वान करना पड़ा और मौका पाते ही महज कुछ थोथे आश्वासनों के आधार पर उन्होने घुटने टेक दिये। उत्तर प्रदेश में आम बिजली मजदूर और कर्मचारी तो हड़ताल वापस लिये जाने के बाद भी काम पर जाने को तैयार नहीं थे। मजदूरों के नाम पर नकली लाल झण्डे की राजनीति करने वाली संसदमार्गी वामपंथी पार्टियों का असली मजदूर विरोधी चेहरा एक बार फिर उजागर हो गया। बिजली हड़ताल के मामले में तो वैसे भी वे कुछ कहने की स्थिति में नहीं थीं। आखिर जिन तथाकथित सुधारों के विरोध में मजदूर सड़क पर उतरे थे उन्हें मंजूरी देने वाली कमेटी में समाजवादी मुलायम सिंह यादव से लेकर ''वामपंथी'' ज्योति बसु तक शामिल थे।

सरकार ने शुरू से ही इस बात का एलान कर दिया था कि इस आन्दोलन से निपटना उसके लिए एक टेस्ट केस है। देशी-विदेशी पूंजीपतियों की इस समय सबसे विश्वसनीय पार्टी भाजपा को यह साबित करना था कि वह उनके हितों को सुरक्षित रखने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है और आर्थिक ''सुधारों'' की राह में आने वाले जनता के किसी भी आन्दोलन को कुचल सकती है।

14 जनवरी को प्रदेश के बिजली मंत्री नरेश अग्रवाल ने बड़े ही नाटकीय तरीके से बिजली बोर्ड को तीन हिस्सों में बांटने की अधिसूचना जारी कर दी। इसके विरोध में बिजली कर्मचारियों की हड़ताल शुरू होने के साथ ही सरकार ने आक्रामक तेवर अपना लिये। पहले दिन से ही प्रदेश सरकार के साथ ही केन्द्र सरकार ने भी ऐलान कर दिया कि सरकार सख्त रवैया अपनायेगी और बिजली बोर्ड के पुनर्गठन के प्रस्ताव पर बात तक नहीं करेगी। विश्व बैंक और दूसरी अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियां उत्तर प्रदेश के बिजली कर्मचारियों की हड़ताल पर नजर रख रही थीं। ऐसे में सरकार हड़ताल तोड़वाने के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार थी वरना ऊर्जा क्षेत्र के निजीकरण का मामला गड़बड़ा जाता, जिसके बारे में सरकार विश्व बैंक को वचन दे चुकी है।

भारी ''घाटे'' के नाम पर प्रदेश सरकार द्वारा बोर्ड को तीन टुकड़े में बांटने के निर्णय के साथ ही बिजली उत्पादन और वितरण को देशी-विदेशी पूंजीपतियों को सौंप देने का रास्ता साफ हो गया था। प्रदेश के मुख्यमंत्री राम प्रकाश गुप्त ने सगर्व घोषणा की कि विद्युत दरों की बढ़ोत्तरी प्रतिवर्ष 16 प्रतिशत (यानी इस वर्ष 25 पैसे) से अधिक नहीं होगी! हालांकि विश्व बैंक की सिफारिश पर, राज्य सरकार बिजली की दर न्यनूतम चार रुपये पचहत्तर पैसे प्रति यूनिट करने की तैयारी में है।

सरकार का तर्क है कि बिजली संकट को दूर करने के लिए पूंजी निवेश की कमी है। बोर्ड का सारा पैसा कर्मचारियों की तनख्वाहों और एम.टी.पी.सी. से बिजली खरीदने में खर्च हो जाता है। इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिए निजी हाथों में सौंपने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। तो क्या बिजली उत्पादन और वितरण को पूंजीपतियों को सौंप देने से ''घाटे'' की भरपाई करने के लिए दानी-महात्माओं की तरह अपनी तिजोरी से पूंजी निकालकर दान कर देंगे?

दरअसल, बिजली बोर्ड के घाटे की भरपाई के लिए बिजली दरों में बढ़ोत्तरी करने का अधिकार पत्र विद्युत नियामक प्राधिकरण को पहले ही सौंपा जा चुका है। अब कर्मचारियों की छंटनी की जायेगी। स्वैच्छिक अवकाश योजना के तहत उन्हें जबरिया रिटायर किया जायेगा। नये निगम, ''बोझ'' बने कर्मचारियों की छंटनी के बाद विभाग को मुनाफा बटोरने की स्थिति में पहुंचा कर इन्हें पूंजीपतियों को सौंप देंगे तब जाकर और ज्यादा मुनाफा निचोड़ने के लिए नये मालिक पूंजी निवेश करेंगे, नयी-नयी तकनीक लायेंगे, दाम बढ़ायेंगे।

हजारों कर्मचारियों की गिरफ्तारी, घरों पर छापे और बर्बर दमन के बाद सरकार आखिरकार हड़ताल खतम कराने में सफल हो गयी। कर्मचारियों को कुल यह हासिल हुआ कि निजीकरण एक वर्ष तक टल गया। इतने के लिए भी सरकार तब राजी हुई जब हड़ताली विद्युतकर्मियों के समर्थन में उत्तर भारत के छह राज्यों के विद्युतकर्मियों ने कलमबंद-औजारबंद आन्दोलन शुरू कर दिया। आल इण्डिया पावर इंजीनियर्स फेडरेशन ने सरकार के अड़ियल रुख और कोई समाधान न निकलने की स्थिति में 24 जनवरी से देशव्यापी हड़ताल की चेतावनी दे दी। हड़ताली विद्युतकर्मियों के परिवारजनों ने समर्थन में आन्दोलन में हिस्सेदारी शुरू कर दी और पुलिस के 'रैपिड एक्शन फोर्स' का भी डटकर मुकाबला किया।

लेकिन यह साफ है कि साल भर की राहत के सिवा कर्मचारियों को कुछ भी हासिल नहीं हुआ है।

इस पूरी हड़ताल के दौरान देश के ट्रेड यूनियन आन्दोलन की चिरपरिचित कमजोरी एक बार फिर उभर कर सामने आयी। बिजली बोर्डों के घाटे की असलियत और निजीकरण को लेकर जनता के बीच फैले भ्रम को दूर करने के लिए कोई कोशिश नहीं की गयी। आन्दोलन के मुद्दों से जनता को जोड़ने की न तो कोई योजना थी और न कोई प्रयास। इस बात को जनता के बीच प्रचारित करने के लिए कोई गम्भीर प्रयास नहीं किये गये कि बिजली तंत्र के निजीकरण की प्रस्तावित योजना विश्व बैंक के आदेश पर लागू की जा रही है और सरकार विश्व बैंक को वचन दे चुकी है कि वह हर कीमत पर इस बार निजीकरण कर देगी। ''इंडिया-उत्तर प्रदेश पावर सेक्टर रिस्ट्रक्चरिंग प्रोजेक्ट'' नामक विश्व बैंक

के इस दस्तावेज की खास-खास बातें लोगों को बताई जातीं तो यह साफ हो जाता कि केन्द्रीय ऊर्जा मंत्री कुमार मंगलम से लेकर मुख्यमंत्री रामप्रकाश गुप्ता और ऊर्जा मंत्री नरेश अग्रवाल किसकी भाषा बोल रहे हैं और किसका हित साधने के लिए सख्ती दिखा रहे हैं।

वे जनता को यह भी नहीं बता पाए कि इस बार उनकी लड़ाई अपने लिए वेतन-भत्तों में बढ़ोत्तरी के लिए नहीं बल्कि ऐसे मुद्दे को लेकर है जिसके साथ पूरी जनता का हित जुड़ा हुआ है। इसी तरह बंदरगाह के मजदूर महज अपनी वेतन-भत्तों की मांगों को लेकर लड़े और चंद आश्वासनों पर संतोष कर रह गये जबकि सरकार ने प्रमुख बंदरगाहों के निजीकरण की तरफ कदम बढ़ा दिये हैं।

विघटन-निजीकरण की इस प्रक्रिया को केवल एक सूरत में टाला जा सकता था। यदि बिजली विभाग के मजदूरों-कर्मचारियों ने उदारीकरण- निजीकरण के शिकार अन्य विभागों के कर्मचारियों के साथ मिलकर इन जन-विरोधी नीतियों के खिलाफ एकजुट होकर एक लम्बी लड़ाई का कार्यक्रम बनाकर हल्ला बोला होता तब शायद ऐसी नौबत ही न आती। इसका सारा दारोमदार उन ट्रेड यूनियन नेताओं का है जो सिर्फ वेतनभत्तों और ट्रांसफर पोस्टिंग आदि के लिए 'इंकलाब जिन्दाबाद', 'मजदूर एकता जिन्दाबाद' और अपने नाम के नारे लगवाते रहे। पूरी मजदूर कौम को सिर्फ ''दलिया के कटोरे'' के लिए लड़ने तक सीमित रहे। उसे कभी भी अपने राजनीतिक अधिकारों का अहसास तक नहीं कराया। कभी न तो कोई राजनीतिक शिक्षा दी और न ही उसके आन्दोलन को जनता के दूसरे तबकों तथा दूसरे क्षेत्रों के अपने मजदूर भाइयों के आन्दोलनों से जोड़ने का प्रयास किया। आने वाले तूफान से बेखबर होकर आम कर्मचारी मजदूर भी बोनस मंहगाई भत्ते और एरियर ही जोड़ते रहे। यह कहानी पिछले दिनों बार-बार दोहरायी गई। चाहे डाक-तार कर्मियों की हड़ताल हो, बैंक-बीमा कर्मचारियों का आन्दोलन हो, चाहे लखनऊ में अपट्रान के मजदूरों का, या चाहे चीनी मिलों और कपड़ा मिलों के मजदूरों का आन्दोलन रहा हो।

अब लड़ाई किसी एक विभाग या कारखाने या सेक्टर के मजदूर-कर्मचारी लड़कर नहीं जीत सकते। लड़ाई अब ज्यादा कठिन और लम्बी हो गई है। देश के कर्मचारियों- मजदूरों की विशाल सेना सेनापतियों के विश्वासघात के कारण बार-बार हारती रही है। अपनी पिछली गलतियों और विश्वासघातों के इतिहास से सबक लेते हुए मजदूरों-कर्मचारियों को अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ने के लिए बिखरी हुई सेनाओं को फिर से एकजुट करने का बीड़ा उठाना होगा। सभी कर्मचारी-मजदूर साथियों को अपने अस्तित्व के संघर्षों के साथ ही इन नीतियों के शिकार दूसरे विभागों के कर्मचारियों-मजदूरों के साथ भी एकजुटता कायम करनी होगी। साझा संघर्ष की नई रणनीति बनानी होंगी। अपने संघर्ष को जनविरोधी आर्थिक नीतियों—उदारीकरण-निजीकरण की सम्पूर्ण नीतियों के खिलाफ केन्द्रित करना होगा। सरकारी-अर्द्ध सरकारी सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों-मजदूरों को देश के असंगठित मजदूरों की भारी आबादी को, तबाह हो रहे छोटे किसानों को, बेरोजगारी की मार झेल रहे नौजवानों और शिक्षा को अमीरजादों की बपौती बनाने वाली नीतियों के खिलाफ संघर्षरत छात्रों को भी अपनी लड़ाई का हिस्सेदार बनाना होगा।

दुनिया के लुटेरों ने एकजुटता कायम कर ली है, अब मेहनत करने वालों को भी एकजुटता कायम करनी होगी। मजदूर आन्दोलन के भितरघातियों से सचेत होना होगा और अपने संघर्षों को क्रान्तिकारी धार देनी होगी। तभी कोई छोटी भी लड़ाई जीती जा सकती है और बड़ी विजय की ओर बढ़ा जा सकता है।

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े सात) • ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, **लखनऊ** • विमल कुमार, मैग्जीन स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • डी. के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, **पंतनगर** • श्री रामधीरज, स्वराज्य स्टेशनर्स, प्रयाग चुंगी, मोती लाल नेहरू मार्ग, **इलाहाबाद** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, लंका, **वाराणसी** • डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा-2

बिहार • एस.के. शर्मा, 282-बी, रेलवे कालोनी, **गढ़हरा, बेगूसराय** • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • जिज्ञासा प्रकाशन, झेलम अपार्टमेंट, राजेन्द्रनगर, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** • वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी. एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • रामपुकार सिंह, ग्रा. पो.भदई, जि.-**मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • श्री भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया** • लक्ष्मीकांत मुकुल, द्वारा श्री सिंहासन मिश्र, टीचर्स कालोनी, चरित्रवन, **बक्सर** • कौशल कुमार सिंह, पूर्व सचिव, जिला विधिज्ञ संघ, **गोपालगंज** • गोवर्धन सिंह, ग्रा. चुटिया, पो. गोदरमाना, थाना-रंका **(गढ़वा)-822125**

दिल्ली • सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • पत्रिका मण्डप, दिल्ली वि.वि. कोआपरेटिव स्टोर्स, लि. दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • पीपुल ट्री, 8, रीगल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • विजय मैग्जीन स्टाल, रिजर्व बैंक के पास, संसद मार्ग

महाराष्ट्र • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** • सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हासनगर, जि.-**ठाणे** • शांतनु श्रीवास्तव, सी-43, सी. एम.पी.डी., जरीपटका, **नागपुर**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा • नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.-पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • सर्जना, सांखला प्रिंटर्स परिसर, चंदन सागर कुएं के पास, **बीकानेर** • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम. डी. रोड, **जयपुर**

प. बंगाल • श्याम अविनाश, पी. एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कलकत्ता** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ.-करेन, जि.-**जलपाईगुड़ी** • ओमप्रकाश पाण्डेय, प्राध्यापक, 35/डी, सेंट्रल कालोनी, पो. भक्तिनगर, **न्यू जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक कम्पाउंड, नेपियर टाउन, **जबलपुर**

नेपाल • विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल, लुम्बिनी** • विशाल पुस्तक सदन, विजुवार बाजार, प्यूठान, **राप्ती अंचल** • विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवनपथ, घुटवल, **रुपनदेई** •

विज्ञान की सामाजिक भूमिका

जे.डी. बरनाल

अनुवादक : चंद्रभूषण

जॉन डेस्मोंड बरनाल का जन्म आयरलैंड में हुआ था लेकिन शिक्षा इंगलैंड में हुई। उन्होंने कैंब्रिज विश्वविद्यालय के इमैनुएल कॉलेज में भौतिकी का अध्ययन किया। प्रोफेसर बरनाल ने सामान्य लोगों के लिए अनेक पुस्तकें लिखी हैं। जिनमें उल्लेखनीय हैं : *दि वर्ल्ड, दि फ्लेश एंड दि डेविल; सोशल फंकशन आफ साइंस; फ्रीडम आफ नेसेसिटी; दि फिजिकल बेसिस आफ लाइफ; साइंस एंड इंडस्ट्री इन दि नाइनटींथ सेंचुरी, वर्ल्ड विदाउट वार* तथा चार खंडों में प्रकाशित *साइंस इन हिस्ट्री*।

पिछले कुछ दशकों के दौरान विश्व में जो घटनाएं घटी हैं, उनके भयावह नतीजों को देखते हुए यह जरूरी हो गया है कि विज्ञान और समाज के आपसी रिश्तों की सावधानी से समीक्षा की जाए। लोग पहले मानते थे कि वैज्ञानिक खोजों के नतीजों के चलते मानव जीवन-स्तर और गुणवत्ता में धीरे-धीरे सुधार होगा। एक सीमा तक ऐसा हुआ भी है। लेकिन इसी दौर में विश्व के लोगों ने दो महायुद्धों की विभीषिका भी झेली है। पुस्तक में कुछ ऐसे उपायों की ओर इशारा भी किया गया है जिनको अपनाने से विनाशकारी उपयोगों से हटाकर विज्ञान का रचनात्मक इस्तेमाल किया जा सकता है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 620+xii मूल्य : रु. 875.00

पूंजीवादी समाज में राजसत्ता

राल्फ मिलीबैंड

अनुवादक : आदित्यनारायण सिंह

राल्फ मिलीबैंड इंगलैंड के जानेमाने मार्क्सवादी चिंतक थे। काफी लंबे अर्से तक उन्होंने 'लंदन स्कूल आफ इकनामिक्स एंड पोलिटिकल सांइस' में राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया। वहां से वे राजनीतिशास्त्र के प्रोफेसर होकर लीड्स यूनिवर्सिटी चले गए जहां काफी समय तक काम किया। विश्वविख्यात पत्रिका 'सोशलिस्ट रजिस्टर' के संपादक रहे। 'पार्लियामेंटरी सोशलिज्म', 'मार्क्सिज्म एंड पालिटिक्स' आदि उनकी कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

लेखक का कहना है कि इस पुस्तक के प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य विस्तार से यह दिखाना है कि समाज, राजनीति और राज्य, इन सभी के प्रति पूंजीवाद का बहुलवादी जनतांत्रिक दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर एकदम गलत और भ्रामक है। पुस्तक, इतिहास, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र जैसे विषयों में दिलचस्पी रखने वाले अध्यापकों तथा छात्रों, दोनों के लिए उपयोगी है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 280+xii मूल्य : रु. 450.00

सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार

अंतोनियो ग्राम्शी

अनुवादक : कृष्णकांत मिश्र

अंतोनियो ग्राम्शी की गिनती असाधारण प्रतिभा के वामपंथी दार्शनिक चिंतकों में होती है। ग्राम्शी ने अपने जीवन का लंबा समय इटली की जेलों में बिताया था। फासीवादी सरकार ने उन पर तरह-तरह के अभियोग लगा कर उन्हें जेल में डाल दिया था। उनके लेखन में जो कुछ महत्वपूर्ण है, उसका अधिकांश जेल में ही लिखा गया था।

यह पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित अंतोनियो ग्राम्शी की प्रसिद्ध रचना *सेलेक्शन्स फ्राम दि प्रिजन नोट बुक्स* का हिंदी अनुवाद है। इसमें ग्राम्शी के चिंतन की लगभग सारी बुनियादी बातों का सामावेश हैं। पुस्तक को पढ़ते समय ग्राम्शी के सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों से पाठक का सामना होता है। ये सरोकार उनके संपूर्ण चिंतन के बुनियादी सरोकार हैं।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 550 (लगभग) (प्रकाश्य)

फासीवाद

अयोध्यासिंह

अयोध्या सिंह : अयोध्या सिंह प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक और स्वतंत्रता सेनानी हैं। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले प्रगतिशील साप्ताहिक पत्र 'स्वाधीनता' के वे लंबे समय तक संपादक रहे हैं। इतिहास की कुछ अत्यंत चर्चित और महत्वपूर्ण कृतियों के वे लेखक हैं।

मूल हिंदी में इस विषय पर लिखी गई यह एक मात्र पुस्तक है जो फासीवाद के इतिहास और उसके दर्शन का काफी विस्तार से विवेचन प्रस्तुत करती है।

लेखक का मानना है कि फासीवाद एक सामाजिक, आर्थिक परिघटना है। इसकी जड़ें पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आज.भी मौजूद हैं। अलग-अलग देशों में इसके अलग-अलग रूप रहे हैं और आज भी प्रच्छन्न रूप में ये विद्यमान हैं। समय और अनुकूल परिस्थिति पाकर ये कभी भी सर उठा सकते हैं।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 460+xii मूल्य : रु. 575.00

भारतीय सामंतवाद

द्विजेंद्रनारायण झा

अनुवादक : आदित्यनारायण सिंह

द्विजेंद्रनारायण झा ने पटना विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में 1975 तक अध्यापन किया है। इस समय वे दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में प्रोफ़ेसर हैं।

प्राचीन भारत की सामंती सामाजिक संरचना देशी-विदेशी इतिहासकारों के बीच जीवंत बहस का विषय रही है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि यह पूरी बहस अंग्रेजी में चली है और इस बहस ने हिंदीभाषी इलाकों के छात्रों और इतिहास के अध्यापकों के बीच कोई हरकत पैदा नहीं की है। पुस्तक में सामंती व्यवस्था में भारतीय समाज के संक्रमण; सामंती समाज के संरचनात्मक स्वरूप; उसके अंतर्विरोधों और कला, साहित्य और धर्म आदि क्षेत्रों में इससे जुड़ी विचारधाराओं के विकास को रेखांकित किया गया है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8*vo*, पृ. 525 मूल्य : रु. 750.00

भारतीय इतिहास की प्रमुख व्याख्याएं

इरफ़ान हबीब

अनुवादक : बृजशर्मा

इरफान हबीब (1931) अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के भारत के इतिहासकार हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से बी.ए. तथा इतिहास विषय लेकर एम.ए. करने के बाद आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (इंगलैंड) से उन्होंने डी. फिल. की उपाधि ली है। उन्होंने *'एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया'* जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक लिखने के अलावा कई सौ शोध पत्र लिखे हैं तथा कुछ पुस्तकों का संपादन भी किया है।

भारतीय इतिहास के विवेचन में इन विद्वानों की व्याख्याओं में काफी विविधता है, इन विविधताओं के संदर्भ अलग-अलग हैं, इनके विवेचन में भिन्नता के साथ ही, कहीं-कहीं एक ही प्रसंग या घटना की विपरीत व्याख्याएं भी हमें देखने-पढ़ने को मिलती हैं। इनको पढ़ने से लगता है कि किसी देश या जाति के इतिहास में घटने वाली घटना की व्याख्या के कितने रूप हो सकते हैं और किसी ऐतिहासिक घटना को किसी राष्ट्र या जाति के हित या विरोध में किस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त बातों का खुलासा लेखक ने भारतीय इतिहास से मिसालें पेश करके किया है। मसलन भारतीय उप महाद्वीप के राष्ट्रीय आंदोलनों को भीतर से तोड़ने या कमजोर करने के लिए इंगलैंड के साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने जो हथकंडे अख्तियार किए हैं, उनको इस पुस्तक में स्पष्ट किया गया है।

कपड़े की पक्की जिल्द, डिमाई 8 *vo*, पृ. 64 मूल्य : रु. 125.00

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, जी-82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

स्वर्णिम अतीत, स्वर्णिम भविष्य

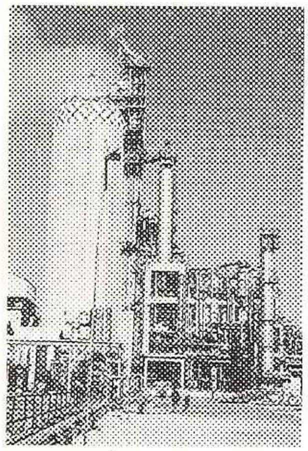

सपना जो साकार हुआ।

उर्वरक उद्योग का मुख्य उद्देश्य, भारत को उर्वरक उत्पादन के क्षेत्र में आत्म–निर्भर बनाना था। फसल उत्पादन बढ़ाने के लिए आव यक पोषक तत्वों की सही समय पर तथा वांछित मात्रा में उपलब्धता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से 1967 में इफको की स्थापना हुई। इफको के चार अत्याधुनिक संयंत्र गुजरात में कलोल व कांडला तथा उत्तर प्रदेश में फूलपुर व आंवला में कार्यरत हैं। इतना ही नहीं, इफको ने विश्व में सबसे बड़ी उर्वरक उत्पादक संस्था बनने के लिए अपनी ''विज़न फॉर टुमारो'' योजना को कार्यरूप देना आरम्भ कर दिया है। इफको ने सहकारिता के विकास में सदैव उत्कृष्ट भूमिका निभाई है। गुणवत्तायुक्त उर्वरकों की आपूर्ति से लाखों किसानों को हर वर्ष भरपूर फसल का लाभ प्राप्त हो रहा है तथा भूमि की उर्वरा शक्ति भी बरकरार रखी जा सकी है।

इफको सही अर्थों में भारतीय किसानों का तथा सहकारिता का गौरव है।

इफको

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड

34, नेहरू प्लेस, नई दिल्ली–110 019

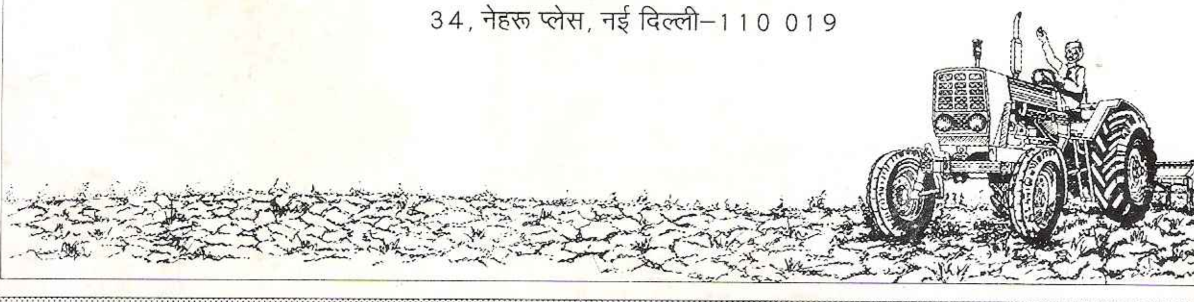

INTERADS/D/98

परिकल्पना की नई प्रस्तुतियां

माओ त्से-तुङ की कविताएं
राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियों के साथ
अनुवाद एवं सम्पादन : ***सत्यव्रत***
पृष्ठ 96 • 20 रु. (पे.बै.) 40 रु. (सजिल्द)

चुनी हुई कहानियां : मक्सिम गोर्की (पहला खण्ड)
गोर्की की हिन्दी में अनुपलब्ध 33 कहानियों का संकलन (कुल तीन खण्डों में)
पृष्ठ 168 • 35 रु. (पे.बै.) 70 रु. (सजिल्द)

चिरस्मरणीय
कय्यूर के किसान आन्दोलन के शहीदों पर लिखा **निरंजन** का प्रसिद्ध उपन्यास
अनुवाद : ***रामकृष्ण पाण्डेय***
पृष्ठ 168 • 35 रु. (पे.बै.) 70 रु. (सजिल्द)

पांच कहानियां : पुश्किन
20 रु. (पे.बै.) 40 रु. (सजिल्द)

दो अमर कहानियां : लू शुन
20 रु. (पे.बै.) 40 रु. (सजिल्द)

श्रेष्ठ कहानियां : प्रेमचंद
20 रु. (पे.बै.) 40 रु. (सजिल्द)

तीन कहानियां : गोगोल
30 रु. (पे.बै.) 60 रु. (सजिल्द)

परिकल्पना प्रकाशन की अन्य पुस्तकें

शहीदेआजम की जेल नोटबुक
एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य
भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज
हिन्दी में पहली बार प्रकाशित
पृष्ठ 200 • 50 रु. (पे.बै.) 100 रु. (सजिल्द)

दुर्ग द्वार पर दस्तक
कात्यायनी (द्वितीय संशोधित संस्करण)
पृष्ठ 152 • 50 रु. (पे.बै.) 120 रु. (सजिल्द)

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : ***मोहन थपलियाल***
पृष्ठ 148 • 60 रु. (पे.बै.) 120 रु. (सजिल्द)

लहू है कि तब भी गाता है
पाश
(पाश के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
संपादक : ***चमनलाल एवं कात्यायनी***
पृष्ठ 176 • 75 रु. (पे.बै.) 150 रु. (सजिल्द)

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य
पृष्ठ 104 • 20 रु.

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
संपादक : ***विश्वनाथ मिश्र***
पृष्ठ 104 • 50 रु. (पे.बै.) 100 रु. (सजिल्द)

समर तो शेष है...
इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन
पृष्ठ 144 • 35 रु. (पे.बै.) 70 रु. (सजिल्द)

क्रान्ति का विज्ञान
लेनी वुल्फ
पृष्ठ 36 • 10 रु.

अब इंसाफ होने वाला है
उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि संकलन
संपादक : ***शकील सिद्दीकी***
पृष्ठ 248 • 75 रु. (पे.बै.) 150 रु. (सजिल्द)

मध्यवर्ग का शोकगीत
हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं
सम्पादन एवं अनुवाद : ***सुरेश सलिल***
पृष्ठ 72 • 25 रु. (पे.बै.) 50 रु. (सजिल्द)

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

नये प्रकाशन

माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण
35.00

Quotations from Mao Tse-Tung
40.00

पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन
—लेनिन 15.00

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
—वी. अदोरात्सकी 15.00

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (खण्ड-दो)
(दि शंघाई टेक्स्टबुक आफ पोलिटिकल इकॉनमी)
60 रुपये (पेपरबैक), 125 रुपये (सजिल्द)

बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में
—चाङ चुन-चियाओ 3.00

मई दिवस का इतिहास
अलेक्जेण्डर ट्रैक्टनबर्ग 3.00

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (खण्ड-एक)
(दि शंघाई टेक्सटबुक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी)
60 रुपये (पेपरबैक), 125 रुपये (सजिल्द)

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
—कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स 10.00

अक्तूबर क्रान्ति और लेनिन
—एल्बर्ट रीस विलियम्स 75.00

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं
—दीपायन बोस 10.00

समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति
—शशिप्रकाश 12.00

क्यों माओवाद
—शशिप्रकाश 10.00

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा
—वी.आई. लेनिन रु. 5.00

मकड़ा और मक्खी
—विल्हेल्म लीब्कनेख्त रु. 2.00

ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके
—सर्जी रोस्तोवस्की रु. 2.00

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :

जनचेतना
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 ✆ 308896
(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए 12 रुपए रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर ड्राफ्ट या एम.ओ. भेजें)